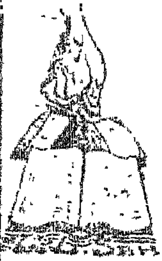




निकष
३ और ४

रोशन हाथों की दस्तकें

सतीशचन्द्र चौबे

प्राची की साँझ और पश्चिम की रात
इनकी वयःसन्धि का जश्न है आज

मज़ारों पर चिराग़ बालने वाले हाथ
(जो शायद किसी रूह के ही हों)
ठहर जायें !

नदियों पर दीये बहाने वाले हाथ
(जो शायद किसी नववधू के ही हों)
ठहर जायें ।

अँधेरी गलियों में लम्प जलाने वाले हाथ
(जो शायद किसी मज़दूर के ही हों)
ठहर जायें ।

सभी रोशनी देने वाले हाथ
मिलें, और कसकर बाँध लें एक दूसरे को आज
ताकि यहीं से मारना शुरू करें दस्तकें
विश्व के अँधेरे कपाटों पर
वे मिले-जुले-कसकर-बँधे रोशन हाथ !

निकष

तीसरा और चौथा
संयुक्त संकलन

साहित्य-सहयोग के
तत्वावधान में

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, प्रयाग
द्वारा प्रकाशित

धर्मवीर भारती
तथा
लक्ष्मीकांत वर्मा
द्वारा सम्पादित

हिन्दी नवलेखन का
श्रेष्ठ प्रतिनिधि संकलन

जनवरी, १९५७

आभार

हिन्दी नवलेखन की श्रेष्ठ संकलन-माला के रूप में,

निकष

को आयोजित और प्रतिष्ठित करने में प्रथम से प्रस्तुत संकलन तक निम्नलिखित लेखकों ने अपना रचनात्मक सहयोग दिया है :

● अजित कुमार, अनन्त कुमार पाषाण, अनाम, अनिल कुमार, अमृत-राय, अलबर्ट कृष्ण अली, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क उमाकांत मालवीय, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कमल जोशी, कमलेश्वर, कीर्ति चौधरी, कुट्टिचातन्, कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, केशवचन्द्र वर्मा, केशवप्रसाद मिश्र, केसरी कुमार, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, कृष्णा सोबती, गजानन माधव मुक्तिबोध, गंगाप्रसाद पाण्डेय, गिरजा कुमार माथुर, जगदीश, जगदीश गुप्त, दुष्यन्त कुमार, देवेन्द्र इस्सर, नचिकेता, नर्मदेश्वर प्रसाद, नरेश मेहता, नलिनविलोचन शर्मा, नित्यानन्द तिवारी, परमानन्द श्रीवास्तव, प्रभाकर माचवे, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, फणीश्वर नाथ रेणु, बालकृष्ण राव, बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा, भगवतशरण उपाध्याय, भवानीप्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल, भाऊ समर्थ, भुवनेश्वर, मदन वात्स्यायन, मलयज, मनोहर श्याम जोशी, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, मार्कण्डेय, मालती परुलकर, मुद्राराक्षस, मैथिलीशरण गुप्त, मोहन राकेश, रघुवीर-

सहाय, रघुवंश, रमा सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, रांगेय राघव, राजेन्द्र किशोर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, राजेन्द्र माथुर, राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण सहाय, रामदरश मिश्र, रामबहादुर सिंह मुक्त, रामावतार चेतन, लक्ष्मी नारायण-लाल, वसन्त देव, विपिन अग्रवाल, विजयदेव नारायण साही, विद्यानिवास मिश्र, विद्यावती कोकिल, वीरेन्द्र कुमार जैन, वृन्दावनलाल वर्मा, शकुन्त माथुर, शम्भूनाथ सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, शांता सिन्हा, शान्ति मेहरोत्रा, शिवकुटी लाल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, श्रवण कुमार दिव्य, श्रीकांत वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, 'सत्य', सत्येन्द्र श्रीवास्तव, सतीशचन्द्र चौबे, सर्वेश्वर, सुधीर कुमार, सुमित्रानन्दन पंत, सुरेन्द्र दीक्षित, हरिमोहन, हरिशंकर परसाई ◎

निकष अपने लेखक परिवार की इस विशालता पर गर्व का अनुभव करता है, और अगले संकलनों में इसके अधिकाधिक विस्तार की कामना करता है।

रोशन हाथों की दस्तकें

इस संकलन का समारंभ इस कविता से करके, निकष इस प्रतिभाशाली कवि का सम्मान करता है जो बाईस वर्ष की अल्पायु में, इसी वर्ष, [illegible] होने से पूर्व ही, हमसे विदा हो गया।

कविताएँ

सतीशचन्द्र चौबे, कुँवरनारायण, मुद्राराक्षस, वसंतदेव, सर्वेश्वर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, मदन वात्स्यायन, जगदीश गुप्त, अनन्त कुमार पाषाण, लक्ष्मीकांत वर्मा, सत्येन्द्र श्रीवास्तव, अनिल कुमार, रामबहादुर सिंह मुक्त, श्रीराम वर्मा, वीरेन्द्र कुमार जैन, गजानन माधव मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र, प्रमोद गुप्त, मलयज, सुरेन्द्र दीक्षित, रवीन्द्र भ्रमर, भुवनेश्वर, जगदीश, राजेन्द्र माथुर, दुष्यन्त कुमार, मार्कण्डेय, नित्यानन्द तिवारी, उपेन्द्रनाथ अश्क, गिरजाकुमार माथुर, अज्ञेय, सियाराम शरण गुप्त, तथा माखनलाल चतुर्वेदी

रेखाकृतियाँ.

युग्म.

पालने के पास.

मत्स्य-कन्याएँ. भाऊ समर्थ. ३६३—३६५

●

प्रस्तुत संकलन में प्रकाशित सम्पूर्ण नाटक 'मादा-कैक्टस' सफलतापूर्वक रंगमंच पर स्वतः लेखक द्वारा निर्देशित होकर प्रस्तुत किया जा चुका है। श्रव्य और दृश्य दोनों माध्यमों का उपयोग कर उसी रंगमंच पर अभिनीत नाटक को साथ-साथ आकाशवाणी के द्वारा भी प्रसारित किया गया।

●

पृष्ठ ७३ पर दसवीं पंक्ति इस प्रकार पढ़ें—"योर फिंगर्स, दे मेक मी फील वीकर। दे ड्रेन स्ट्रेन्थ आउट आफ माई बाडी।"

●

पृ. ११५ पर दसवीं पंक्ति इस प्रकार पढ़ें—"दुख के आयाम में मैं जानता हूँ"...

●

योजना

प्रथम खण्ड : मूल्यान्वेषण

घोषणा-पत्र

रंगीन रेत

स्वयम् से साक्षात्कार

यादा कैक्टस

यन्त्रयुग और मूल्यों का विघटन

विषकारा

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

असीम काल : एक अनन्त वर्तमान

श्रद्धा : एक चमत्कार, करुणा : एक नक़ाब

मन्वन्तर

द्वितीय खंड : संचयन

निर्माल्य और नया निरवा

आसपास के लोग

बच्चे और बड़े

आत्मा के सहचर

मृत्यु के सुन्दर और असुन्दर चेहरे

बंधे बिखरे छन्द

क्षणिक का स्थिर राज

और

एक सम्पूर्ण लघु-उपन्यास

भूमिका

पहले से लेकर प्रस्तुत संकलन के लेखकों की सूची से इतना तो स्पष्ट है कि निकष-परिवार के समस्त लेखक किसी एक विचारधारा, किसी एक स्कूल, किसी एक गुट या दल, किसी एक पीढ़ी, किसी एक प्रदेश या किसी एक शिविर तक सीमित नहीं। जितनी विविध धाराओं का प्रतिनिधित्व ये करते हैं, वे एक दूसरे के समानान्तर नहीं बहतीं, दूसरे की पूरक मात्र नहीं हैं, यहाँ तक कि कहीं कहीं वे सीधे एक दूसरे का अतिक्रमण करती हैं। फिर भी निकष की संकलन-योजना में वे सभी लेखक मिल सके, यह केवल निकष की सम्पादन-नीति की उदारता को ही प्रमाणित नहीं करता, बल्कि इसको अधिक प्रमाणित करता है कि सिद्धांत और 'एप्रोच' की विभिन्नता के बावजूद, हिन्दी नवलेखन में कोई ऐसा धरातल उभर रहा है जहाँ प्रत्येक धारा बिना अपने वैशिष्ट्य का बलिदान किये, अपना सार्थक प्रतिनिधित्व कर सकती है। हिन्दी नवलेखन की सर्वतो-मुखी उपलब्धियों को अधिकाधिक गहन और मूल्यवान बनाने के लिये यह आवश्यक था कि उसी सर्वाश्रयी धरातल को उभारा जाय और समस्त वैविध्य की अन्त-

निहित एकसूत्रता की ओर एक रचनात्मक निर्देश किया जाय।

जिस विक्षुब्ध वातावरण में निकष ने इस प्रयास का सूत्रपात किया, उसमें ऐसे सीमित साधनों को लेकर जूझ पड़ना दुस्साहस का ही काम कहा जायगा; फिर भी अपने इस विनम्र प्रयास में निकष ने जो अभूतपूर्व सफलता पायी और जितना व्यापक सहयोग उसे मिला, उससे यही सिद्ध हुआ कि उसने एक उचित अवसर पर ऐसी बात उठायी थी जिसका अनुभव लगभग हर धारा के सृजनशील साहित्यकार कर रहे थे और यह रचनात्मक काम एक ऐसे ढंग से उठाया गया था कि उसकी उपयोगिता के प्रति लगभग सभी का विश्वास जमता गया। आज यदि हिन्दी नवलेखन के क्षेत्र में 'निकष' एक जाग्रत महत्वपूर्ण रचनात्मक शक्ति के रूप में सक्रिय है तो इसका वास्तविक श्रेय हमारे विशाल परिवार के एक एक लेखक को है, उसकी विचारधाराएँ परस्पर कितनी भी भिन्न क्यों न हों!

निकष के पिछले दो संकलनों में नवलेखन के वैविध्य का एक समुचित परिचय मिल चुकने के कारण पाठक के मन में एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण हो गया है, कि अब उस सर्वाश्रयी धरातल और अन्तर्निहित एकसूत्रता की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। इसके लिये अधिक श्रेयस्कर उपाय यह होगा कि रचनाओं या रचनाकारों को इस रूप में न देखकर कि वे किस विचारधारा के अन्तर्गत आते हैं, समस्त नवलेखन की एक पैमाइश इस आशय से की जाय कि जीवन के किन मौलिक प्रतिमानों के प्रति नवलेखन में (विविध धाराओं के लेखकों द्वारा;

विविध रूप में) प्रश्न उठाये जा रहे हैं, और विक्षुब्ध मानवीय भावबोध के कौन से पक्ष अधिक उभर कर उनकी कृतियों में आ रहे हैं। इस बदले हुए सन्दर्भ में नवलेखन को प्रस्तुत कर हम शायद पाठकों के लिये उसके रसास्वादन और मूल्यांकन को अधिक सुगम बना सकेंगे।

यह विचार ऐसे आया कि ज्यों ज्यों इस संकलन के लिये सामग्री एकत्रित होती गयी, त्यों त्यों हमने यह पाया कि एक दूसरे से सर्वथा अनजाने में, कई लेखक भावबोध के एक ही पक्ष को विभिन्न आयामों में उभार रहे हैं और कई लेखक जिनकी रचनाओं में मूल्यों की खोज का आभास मिलता है, उनके प्रयास कुल मिलाकर आधुनिकता के समूचे सन्दर्भ की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

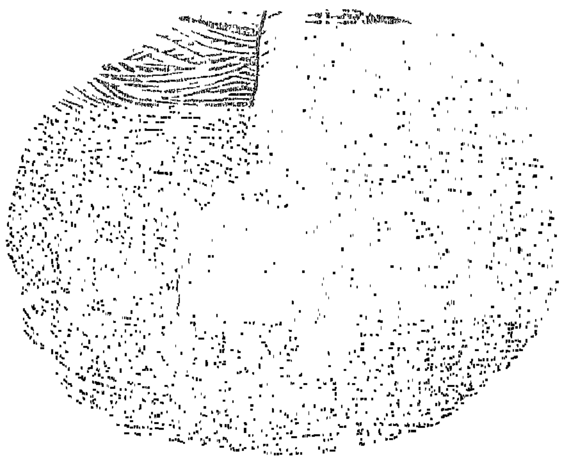
जब काफ़ी सामग्री एकत्रित हो गयी तब हमने उसका पुनर्परीक्षण किया और इस संदर्भ में इस संकलन की क्या रूपरेखा उभर रही है, इस पर विचार किया। इस दृष्टि से अधिक सुविधाजनक लगा कि इसके दो खण्ड कर दिये जायँ—मूल्यान्वेषण और संचयन। दूसरे खण्ड में संकलित बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जो पहले खण्ड में आसानी से रक्खी जा सकती हैं और यही बात मूल्यान्वेषण खण्ड की भी रचनाओं के बारे में कही जा सकती है। यह वर्गीकरण केवल संकलन की पद्धतियों का सूचक है और जिस नये सन्दर्भ पर बल देना आवश्यक है उसी के दोनों पूरक-पक्षों की ओर संकेत करता है।

पहले खण्ड का आरम्भ नये कवियों की—'घोषणा पत्र' के अन्तर्गत संकलित तीन रचनाओं से होता है जिसमें कवियों ने "क्षण को सपनों से जीवित रखने" या "क्षण की मर्यादा को थामने" का जिक्र किया है; दूसरे खण्ड का समापन एक वयोवृद्ध कवि की नवीनतम सजीव रचनाओं से होता है जिसमें वह "क्षणिक के स्थिर राज" का प्रश्न उठाता है। ये दोनों इस संकलन की अन्तर्निहित एकसूत्रता के दो छोर हैं। इन दोनों छोरों के बीच मूल्यान्वेषण की दृष्टि से, या विषय-वस्तु की दृष्टि से जिन रचनाओं को एक साथ रक्खा गया है, उनमें दृष्टिकोण की विभिन्नता न हो ऐसी बात नहीं है। पर उन विभिन्नताओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके इसी के लिये सन्दर्भ की एकता की ओर संकेत करना आवश्यक था।

बीच में यह भी अनुभव किया गया कि कतिपय लेखक किसी विशेष समस्या के प्रति अधिक सचेत हैं और उनकी विविध कृतियों में उसी समस्या के विविध पक्ष उभर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह लगा कि अगर उनकी टिप्पणियों के साथ उनकी एक से अधिक रचनाएँ भी दी जा सकें तो उनके सृजनात्मक योग का अधिक स्पष्ट रूप सामने आ सकेगा। जब यह सुझाव उन लेखकों के सामने रक्खा गया तो उन्होंने उदारतापूर्वक सहयोग दिया। दो एक लेखकों ने यह भी आग्रह किया कि सम्पादक चाहे सहमत हो या न हो, किंतु उनकी दृष्टि में उनकी अमुक कृति उनके इस पक्ष का अधिक समर्थ प्रतिनिधित्व करती है और उसका सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। ऐसी दशा में लेखक के आग्रह को सम्पादकों द्वारा सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लिया गया।

यदि समय अधिक होता, और साधन कुछ अधिक होते तो शायद इस नयी पद्धति से किया गया यह संकलन अधिक सर्वांग-सम्पूर्ण बन पाता। पहले से तो इसका ध्यान भी नहीं था। वैसे यह शायद अच्छा ही हुआ वरना एक निश्चित पैटर्न को ध्यान में रख कर सम्पादकों द्वारा संकलन किया जाता और तब उसमें शायद अन्य प्रकार के अभाव आ जाते। यह तो सम्भवतः उचित ही हुआ कि सामग्री एकत्रित हो जाने के बाद ही उसका पुनर्परीक्षण किया गया, संकलन की प्रस्तुत रूपरेखा बनायी गयी। इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया कि रचनाओं पर कोई योजना आरोपित न की जाय बल्कि उन्हीं रचनाओं में से अगर कोई योजना स्वतः उद्भूत होती हुई दीख पड़े तो उसी के अनुसार समस्त सामग्री व्यवस्थित कर दी जाय। यह श्रमसाध्य कार्य था, फिर भी सार्थक और महत्त्वपूर्ण जान पड़ा, अतः किया गया। उसमें कतिपय अभाव भी यदि रह गये हों तो आश्चर्य नहीं, पर फिर भी जो कुछ है, वह निकष के पाठकों को रसास्वादन के नये धरातलों और मूल्यांकन की नयी दिशाओं की ओर ले जा सकेगा, इसका हमें विश्वास है।

प्रथम खण्ड



घोषणा-पत्र

क्षण की सार्थकता और नयी काव्य-दृष्टि

रंगीन रेत

विक्षुब्ध धरातल पर रागात्मक प्रतिक्रियाएँ

स्वयम् से साक्षात्कार

विवशता के निर्वासन में अपनेपन की खोज

सादा कैनवस

पुरातन और नूतन के बीच का असमंजस

यन्त्र-युग और

मूल्यों का विघटन

विषकारा

अस्तित्व, विकल्प; और पूर्व-निर्धारित नियति

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

चरम उपलब्धि की व्याख्या

असीम काल : एक अनन्त वर्तमान

आस्तिक श्रद्धा और मानवीय गरिमा

श्रद्धा : एक चमत्कार । करुणा : एक नक़ाब

कुछ तीखे प्रश्नचिन्ह

मन्वन्तर

मनु और श्रद्धा का निर्वासन

तथा

मनुपुत्रों की स्थापना

घोषणा-पत्र

●

तीन कविताएँ

२

हम

कुँवर नारायण

हम शायद वर्तमान का असली रूप नहीं :
हम कुछ अतीत हैं—
जिसका भावी स्वप्न अभी घटने वाला।
हम तुम परिचित हैं अपने लाखों सपनों से :

हम शायद वर्तमान का असली रूप नहीं :
हम कुछ भविष्य हैं
अभी नहीं जो घटित हुआ
जिसको अतीत ने देखा था।
हम तुम परिचित हैं पिछले लाखों सपनों से :

हम एक इशारा हैं दो भिन्न दिशाओं में,
हमसे होकर सदियों के प्रश्न गुज़रते हैं :
हम एक व्यवस्था हैं क्षणभंगुर जीवन की
जो हर क्षण को सपनों से जीवित रखते हैं।

आओ अतीत को भूलें

मुद्राराक्षस

आओ हम अब उस अतीत को भूलें
जिसके पक्ष-पक्षियों हमको
प्रिय लगते हैं !
क्योंकि वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे

ज्यों-ज्यों
अज के चमकीले तारे
कल
अनायास, धीमे-धीमे किसी अकल्पित बाधावश
ओझल हो जायेंगे
अनुभवातीत

उसी तरह
हम सबके जीवन की प्रतीतियां
अनुभव और विज्ञान
पहुँच से परे चले जायँगे
किसी अतर्कित बाधावश
वे विद्रोही प्रत्यय विज्ञान
जो अब हमसे नाता तोड़ रहे हैं
मानवेतर अपनी-अपनी वास्तविकताओं में
लौट जायेंगे !

हम सब—
उजड़े महलों से
भूतों के डेरे हो जाएँगे—
अर्थहीन शब्द
ज्योतिहीन दीये
चेतनाहीन जीवन
मृत, व्यतीत

व्यष्टि के शव
प्रायश्चित्त की वेदी पर रह जाएँगे
व्यक्ति की सीमा
मोहन्जोदरो की यादगार बन जाएगी—

पिचके सिक्के
टूटी चूड़ी के टुकड़े
सड़े फ्रेन्च लेदर
भग्न पियाले
गिरे बाथरूम—

आओ हम उस अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें
छू लें इसी क्षण
क्योंकि कल के वे नहीं रहे;
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे !

घोषणा-पत्र

वसन्त देव

सामने वाली बेंच पर एक लड़की बैठी है।
लड़की वह कल थी---आज माँ बनी बैठी है।
गोद में लेटा उसका बच्चा है;
बीस बरस पुराना उसका सपना आज सच्चा है।
बच्चा भुनभुनाता है;
माँ का जी
रह-रह कुनमुनाता है।
चोरी-चोरी आँख उसकी दुनिया टोह लेती है।
बच्चे को आँचल के पट में चुपके खींच लेती है।

.........मैं हूँ वह
जिसने उस भूखे
शिशु को अपना स्तन दिया है।

पीछेवाले उस मकान के
चारों कोने चित्त पड़े
सपाट आँगन में
उड़ती चीलों की भूरी परछाँई

रेंग रही है;
और उधर की चौखटिया नाली के पास
रामू धोबी की लड़कौंही बिटिया
नहा रही है।
(गन्दे, पीले कागज की लम्बी पुड़िया में लिपटी--सी)
मलती जाती एड़ी
पत्थर पर घिस-घिस कर
नरक उसारे की दीवारों का आश्रय ले
हमें के कगियल-सी उकड़ूँ बैठी

खटिया की खन्दक के पीछे
पुन्ने का मनसुख
घुँघची आँखों ही आँखों में
अपनी सारी जान उँड़ेले
अपलक देख रहा है।

"........मैं हूँ वह
जिसकी आँखों की थ्री-नॉट-थ्री ने
रामू धोबी की लड़कौंही बिटिया की
पिंडलियों के पीले-पीले
फल को भून दिया है।"

"........मैं हूँ वह जिसने खाया है।
मैं हूँ वह जिसको खाया है।
मैं हूँ वह जिसने दुत्कारा,
मैं हूँ वह जिसको दुत्कारा।

मैं हूँ वह।
मैं ही वह।
हूँ मैं वह।

किसने क्षण की मर्यादा को थाम लिया है ?
मैंने
किसने गति को एक तमाचा मार सदा को रोक लिया है ?
मैंने
किसने पल के विष-अमृत को तृष्णा-सरीखा चूस लिया है ?
मैंने

+ + +

प्रभु ! मुझे वर दो
....
....
क्षण-क्षण पतंगों-से लूटे हुए अनुभवों के प्रति
ईमानदार बन सकूँ ;
ईमानदार रह सकूँ ।

रंगीन रेत

तीन प्रेम-कहानियाँ

मरुस्थल

देवेन्द्र इस्सर

अगर बाहर मूसलाधार बारिश न भी होती और खिड़की के शीशों पर बारिश की बूँदें रुककर न भी कांपती, तब भी वह लड़की खिड़की बन्द कर देती और परदा गिरा देती। अब छत पर केवल टिप टिप की आवाज़ से ऐसा मालूम होता था कि बाहर बारिश हो रही है और अन्दर मनोहर, उदास अंधेरे में वह लड़की पानी से भरपूर बादल का रूप धारण करती जा रही है। इस अन्धेरे में अस्पष्ट सी उत्सुकता पैदा होती है। वह लड़की जिसका नाम......नाम उसका भूल गया हूँ और नाम जानने से भी वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता—शायद उसका नाम रमा था—रमा उसके समीप सिरक आई और उसकी ओर नज़र भर कर देखते हुए अपने पांव के नाखूनों की ओर देखने लगी जिस पर लाल पालिश लगी हुई थी। रमा ने एक बार भरपूर नज़र से मोहन की ओर देखा। रमा की आंखों में जैसे पूरे शरीर का गुदाज़ सिमट आया हो। उसके चेहरे पर बादल छाने लगे। उसकी आंखों में नमी की झिल्ली सी छा गई और उसके होंठ कँपकँपाने लगे।

'क्या तुम्हें सरदी लग रही है ?' मोहन ने पूछा—

रमा ने मोहन की ओर एक क्षण के लिये देखा और फिर मोहन के प्रश्न करने पर भी दूसरी ओर देखती रही। वह मोहन के और समीप सरक आई और उस पर झुक सी गई, जैसे पलक की एक झपक से उस पर गिर जाएगी। बादल गहरे होते जा रहे थे और धरती के निकट मंडराने लगे थे। छत पर टिप टिप की आवाज़ तेज़ होती जा रही थी। रमा की आँखों की नमी बढ़ती गई और उसके होंठों की कँपकपी तेज हो गई। उसके चेहरे की कोमल रेखाएं रोशनी में डूबने लगीं। एक क्षण पहले मोहन को उसकी आँखों में शून्य नजर आता था और उसके होंठों में किसी ख़ुश्क मेवे की झलक दृष्टिगोचर होती थी। लेकिन अब उसके होंठ पूरे शरीर की पुकार बन कर उसे मौन कँपकपाहट से अपने समीप बुला

रहे थे। मोहन ने सिगरेट सुलगाई और सिगरेट का धुआँ उसके चेहरे पर फेंकने लगा। धुएँ के बादलों के पीछे रमा के कँपकपाते होंठों का आकर्षण बढ़ गया। एक दम वह होंठ उसके इतने क़रीब भी आ गए कि मोहन ने उसकी आँच महसूस की। उसने सिगरेट ऐश ट्रे में फेंक दिया। रमा बिल्कुल मौन थी। मोहन बिल्कुल मौन था। केवल वर्षा की बूंदों की टिप टिप थी और उसके दिल की धड़कन तेज थी...निस्तब्धता पूर्ण थी।

मोहन ने कोई हरकत न की। केवल आंच को महसूस करता रहा। रमा ने उकता कर होंठ उठा लिये और दूर जा कर बैठ गई और किसी पुस्तक के पृष्ठ उलटने लगी। थोड़ी देर बाद वह उसकी ओर कनखियों से देख लेती।

"तुम मेरी ओर इस तरह क्यों देख रही हो?" जैसे...मोहन ने पूछा। लड़की के होंठों की कँपकपाहट मन्द हो रही थी। बादल छा रहे थे और उसकी आँखों में पानी जैसे सूखने लगा। मोहन ने रमा के चेहरे में किसी दूसरी लड़की के चेहरे को उभरता देखा। उसका नाम भी कुछ इस प्रकार था...*उमा या कुछ ऐसा ही नाम था उसका*। कई बरस पहले वह उसके जीवन में होले से दाखिल हुई और छुप कर किसी कोने में बैठ गई। मोहन बेखबर था और रमा अबोध थी। अनजाने में वह एक दूसरे से न जाने क्यों टकरा गए। वे एक दूसरे में विलीन होने लगे। मोहन ने उस लड़की से कहा था..."तुम्हारे होंठ बड़े सुन्दर हैं और जैसे शहद में भिगो रखे हैं।"

वह लड़की ख़ामोश रही। उसका जवाब था—अधिक स्पर्श। कई वर्ष बीत गए। आज शायद सरदी में ठिठुरती हुई वह अपने पति के मैले कपड़े धो रही होगी या उसके जूठे बरतन मांज रही होगी। वह अपने हाथ की रेखाएँ किसी ज्योतषी से पढ़वा रही होगी—रेखाएँ जो बनतीं बिगड़ती रहती हैं। उसके सिगरेट के धूयें के भरगूले की तरह। और अन्त में राख झटक दी जाती है। कभी कभी दूसरी सिगरेट सुलगाने के लिये—मोहन एक दम जैसे स्वप्न से चौंका। "क्यों मुँह का मज़ा ख़राब हो गया?" मोहन ने रमा से पूछा। रमा फिर समीप सिरक आई। इतनी समीप कि उसकी साँस मोहन की नाक की सरदी पर गर्म हवा का स्पर्श कराती हुई महसूस हुई। बादल फिर गरजने लगे। आँखों की नमी उभर आई और होंठ कँपकपाने लगे और मोहन के बेहरकत होंठों पर कई क्षण कँपकपाते रहे।

कितनी बड़ी ट्रेजेडी है। मोहन सोचने लगा। जब उसके अपने होंठ कँपकपाते थे और उसकी छाती से सांस कविता की सुन्दरी बन कर निकलती था। लेकिन कविता शून्य में गूँजती थी और जिसके लिये यह संगीत था उसके शरीर के इर्द गिर्द नामहसूस तीलियाँ थीं जिसको छुए बिना शरीर का स्पर्श असम्भव था और जिसको छूने का परिणाम मृत्यु था और जिसके आसपास काले भूत नाचते थे और आत्मा की आवाज़ जैसे हज़ार परदों से छन कर आती थी।···और मोहन के गिर्द एक दूसरा ही शरीर मंडराता रहा जिसके कान कुरूप थे और उनमें इमीटेशन टाप्स थे। उसकी आँखों में नमी न थी बल्कि किसी बंजर धरती पर शून्य का नृत्य था और होंठ चिरन्तन भूखे थे मगर कँपकपा नहीं सकते थे। वह लड़की जिसका उभार कृत्रिम दृष्टिगोचर होता था। उसके शरीर में हृदय था। हृदय में धड़कन थी। बे-सुर-लय जो उसके शरीर पर बजती थी और इमीटेशन टाप्स के रंगमंच पर प्रेत की तरह नाचती थी।

"तुम मुझसे प्यार करती हो।" मोहन ने उससे पूछा।

"···तुम्हारा माथा छोटा है और तुम्हारे जूड़े का फैलाव बहुत विशाल है ...यह क्या बेहूदगी है ?"

"···तुम्हारे पाँव में इस प्रकार के जूते बड़े बदसूरत मालूम होते हैं।"

'···तुम यह मूर्खों की तरह हंस क्यों रही हो !'

'···वास्तव में मैं उल्लू का पट्ठा हूँ—समझ गईं आप...अन्धेरा हो रहा है और तुम्हारे मां बाप तुम्हारी राह देख रहे होंगे।" एकदम मोहन के मस्तिष्क से वह लड़की जैसे कूद कर बाहर निकल गई। क्योंकि उसके होंठ शीतल हो गए। कँपकपाते होंठ फिर बेहरकत हो गए। बादल छँट रहे थे। रमा कुछ हांपने लगी।

'तुम क्या सोच रहे हो ?' रमा ने जल कर कहा।

'कुछ नहीं।'

'मैं तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ मोहन !'

'हूँ !'—(होगा)

'मैं तुम्हारे बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकती।'

'हूँ !'—(तो फिर मरतीं क्यों नहीं ? इन्तज़ार किस बात का है ?)

'तुम जवाब तो देते नहीं। बस गुमसुम। जैसे,.....'

'हूँ!'—(जैसे मुझे सांप सूंघ गया है। ठीक तो है सांप सूंघ गया है।)

मोहन ने सोचा कि अब उसके पास 'हूँ' के अतिरिक्त क्या रक्खा है। यह पहली लड़की नहीं जो उससे प्यार करती है और जो उसके बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकती। लेकिन जो सब लड़कियों की तरह ज़िन्दा रहेगी। शायद रानी की तरह जिसने अभी कुछ दिन हुए अपने पत्र में उसे लिखा था—

'मोहन, मेरा पति मुझसे बहुत प्यार करता है। वह कहता है तुम (अर्थात मैं) बहुत स्वीट हूँ। मैं तुम्हारे बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। उसके पास ब्यूक है और मालाबार हिल पर उसकी बड़ी आलीशान कोठी है। तुम कभी बंबई आओ तो ज़रूर मिलना। आओगे ना? तुम्हारा चेहरा बड़ा भोला है। तुम बड़े शरीर हो, तुम्हारी बातें बड़ी दिलकश होती हैं। जब वह नहीं होते तो तुम्हारी बातें बहुत याद आती हैं। क्या तुम्हें भी मेरी याद कभी आती है?' 'ज़रूर आती है।' मोहन के होंठों पर ज़हर की लहर सी दौड़ गई और तमाम चुम्बन ज़हर में डूबने लगे। रानी के पर्स में मालाबार की एक कोठी, एक ब्यूक और ढाई लाख रुपयों का चेक है। और मोहन के पास बेहरकत होंठ हैं जो कँपकपाने की हसरत में भी कँपकपा नहीं सकते।

वह लड़की यानी रमा अपने सैंडिल के फ़ीते बांधने लगी।

'तुम बड़े मूर्ख हो।' रमा ने तिरस्कार से कहा।

मोहन जैसे चोट खा कर उठा और उसने रमा के होंठों पर अपने होंठ रख दिए और उसे ज़ोर से भींच लिया। लड़की के मुँह से हल्की सी चीख निकली और वह उसकी गोद में गिर गई और मोहन उसके कपोल पर हल्का सा तमाचा लगा कर हंसने लगा।

'तुम्हारी शादी कब हो रही है?' मोहन ने पूछा।

'अगले सितम्बर में।'

'मैं तुम्हारी शादी पर ज़रूर आऊंगा।' और उसे ऐसा महसूस हुआ कि उसकी बाहों में लड़की का शरीर रेत का लोंदा बन गया है और धीरे धीरे बिखरने लगा है और रेत उसकी धमनियों में तेज़ी से दौड़ने लगी जैसे उसका सारा जीवन एक विशाल मरुस्थल है और वह रेत के बगूले की तरह उस में भटक रहा है।

निकटतम, अवस्था

नर्मदेश्वर प्रसाद

साल दर साल पुरानी आदतें वापिस आ जाती हैं, पुरानी शक्लें, पुराने रंग। वही समन्दर का किनारा, वही बसन्त की बढ़िया बालुका। वही मेरा वह हाथ है जो अपनी हथेली पर तुम्हारे होठों को रक्खे रहता है हर किस्म के बहाने के बावजूद। तुम मुझसे आज़ाद नहीं हो सकतीं, न मैं तुमसे हो सकता हूँ। अगर मेरा दिमाग़ 'चाइना', एलीफैन्टा, भारहूत का जमघट, कबाड़ीखाना है तो तुम्हारा चेहरा है हल्का ज़िन्दा रंग और तुम्हारा शरीर है मेरी स्मृति का एक रूप।

"तुम सिर्फ एक ही बार मोही जा सकती हो। उसके बाद वञ्चना खत्म हो जाती है। लेकिन इसके बग़ैर जीत, मोह मुमकिन नहीं।"

"हम लोग बाग़ में चलें साथ," उसने कहा।

तुम महासागर में डूब जाती हो, जैसे पत्थर। पानी तुम्हारे हाथ और आँखों को ढक लेता है। तुम्हारा जो बच जाता है, वह मैं हूँ। हम लोग बैठे हैं ताराविहीन बादलों की सीढ़ियों पर। रात गर्म है, हम दोनों पर झुकती आ रही है, डूबती जा रही है दरख्तों से होकर। और बात करने को कितना कम है।

अगर तुम मेरा हाथ पकड़ लो तो मैं इससे ज़्यादा और कुछ नहीं महसूस करूँ कि खिड़की से रोशनी आ रही है। बिछुड़ने का सपना, जब हम दोनों साथ हैं, देखा नहीं। जब हम एक दूसरे से अलग होते हैं, भूलते नहीं।

एक दोपहर को हम दोनों ने मीना से साथ चाय ली। सड़कों पर सूरज गरम, पीला था, लेकिन मीना का लाल-और सफ़ेद चिन्तन ताज़ा और ठण्डा था।

"तुम निहायत अच्छे और खूबसूरत आदमी दीख पड़ते हो", उसने कहा था, "लेकिन तुम परीशान हो शायद।"

"शायद मैं हूँ।" मैंने कह दिया था, "क्या मुझे दोगी मदद, कभी ज़रूरत पड़ने पर?"

"ज़रूर।" यह छोटी सी लड़की पंजाब की थी। हँसना पसन्द करती थी, जानती भी थी।

लौट कर अपने, मेरे, घर के ख़ामोश कमरे में बैठ गये थे हम। ख़ामोश घर का ख़ामोश कमरा जहाँ कुछ नहीं चलता, जहाँ आवाज़ अपना अस्तित्व खो बैठती है; जहाँ शब्द फूल की तरह चुप है; जहाँ सुनने की कोई जरूरत नहीं।

हवा में स्थिर दरख़्त तुम्हारी परछाईं हैं। अबोले शब्द के आवरण के अलावा तुम्हारे इर्द-गिर्द कुछ नहीं है। लेकिन मेरे होठों पर जो हज़ार-हज़ार सवाल उठते हैं—जवाब मिलते जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं जिसे हम दोनों न जानते हों, यहाँ या कहीं। फिर भी एक दुनिया का तसव्वुर हम दोनों के लिए ग़ैरमुमकिन है। और फिर भी बहुत कुछ सम्भव है। मैं अपनी तस्वीरें तुम्हें भेजता हूँ, तुम मुलायम जवाब देती हो, तुम्हारा मुँह मुझसे छुपा हुआ है।

"मेरे पास कोई कारण नहीं कि मैं समझाऊँ। पर मैं उन्हें जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हें समझा नहीं सकता।"

हर लमहा सड़क पर मोटर गुज़रती है। खिड़कियों के शीशे से सूरज की किरणें खेलती हैं। मुझे न कुछ कहना है, न करना है—सिवा इसके कि हम लोगों ने कुछ प्रतिज्ञाएँ की थीं और उनके लायक भी हम थे। अब मैं पदचाप और आवाज़ें सुनता हूँ जहाँ पहले कुछ नहीं था। शब्द-हीन और सुन्न जैसे सूखा हुआ कुआँ। मैं अपने ड्राइंग-रूम में जाता हूँ। रेडियो बजा देता हूँ......बाहिरे बादल झरे। मैं महोगनी टेबुल पर उसकी तस्वीर देखता हूँ जो तुम्हें प्यार करता है, तुम्हारा मालिक है। समय फिर चल पड़ा धीरे-धीरे, बरसाती सड़क पर बैलगाड़ी की तरह।

और चीज़ें अपनी प्राकृतिक जगहों पर खिसकती जा रही हैं—टेबुल, कुर्सी, सोफ़ा भी। रेडियो पर बाहरी वातावरण का संगीत अब बुझ रहा है। और अब और हमेशा के लिये समय और स्थान निश्चयता लेकर टिकेंगे। और मैं तुम्हें फिर देखता हूँ; समय और स्थान कपड़े की तरह उतार दिये गये हैं। याददाश्त वर्तमान पर धावा बोल कर उसे कुचल देती है।

मैं जानता था कि मुझे जाना है।

"मैं तुम्हारे साथ स्टेशन तक चलूँगी।" उसने कहा। हमने दरवाज़ा

बन्द कर ताला डाल दिया। लेकिन हम दोनों के लिये एक चाभी थी जिसे हम दोनों अलग-अलग इस्तेमाल नहीं कर सकते थे। हम दोनों के लिये एक चाभी थी जिसे हम दोनों साथ-साथ नहीं इस्तेमाल कर सकते थे।

साल दर साल, पुरानी आदतें, पुरानी शक्लें, पुराने रंग। हमारी चाभी आदत की बनी हुई है, या हमारी चाभी आदतें खोलती है। वक्त को थाम लेना, बन्द कर देना एक और कहानी है। शक्लें बगैर किसी बदलाव के असम्भव रूप से वही हैं।

समन्दर हरी घास का एक मैदान बन जाता है, और बालू—शहर, कोई भी शहर। तुम्हारा हाथ सड़क का एक कोना है और वह सड़क मेरी जानी-पहचानी है।

मैं तुम्हारी देह के पेवमेन्ट पर घूमता हूँ, और हज़ार-हज़ार मकानों की खुली खिड़कियों में तुम्हें देखता हूँ। वसन्त मेरे रक्त में है, हमेशा से रहा है। वसन्त में दीवारें रोशनी की तरफ घूमती हैं। वसन्त में तुम्हारी खिड़कियाँ उतनी ही खुली हैं जितनी हवा। और हवा शरीर की तरह मुकम्मल है।

यह वैसी ही भारी रात है। और मेरा भी हाथ वही, वैसा ही है।

मन्टू और मैं मैक्सिम गये थे। साथ में थी एक औरत लिन्डा। उस रात आसमान साफ़ था। आसपास के मकानात, ऐसा लगता था, जेली के बने हुए हैं और सामने का बड़ा मैदान बना था भाफ से। और वह जगह हल्की खिड़कियों का एक वृत्त; पिघली हुई सूरतें, आतीं जातीं।

लिन्डा; तुम बड़ी हसीन हो। तुम्हारे केश सुनहले हैं। और तुम हँसना भी भूली नहीं। तुममें जीवन की गन्ध है। और कभी-कभी तो छोटी बच्ची बन जाती हो; बड़ी खुली आँखें और हल्का तुतलाता हुआ प्यार। तुम नहीं जानतीं तुम क्या हो। मैं बताऊँ, हमारी तहज़ीब का एक घना बड़ा टुकड़ा।

हम लोग मैक्सिम से अन्दर गए और देर तक खड़े रहे तीन जगहों के लिए। सामने 'बार' चमक रहा था। छोटे-छोटे केबिन काव्य में छाया-वाद की तरह दीख रहे थे। कई हल्के और मुलायम रंग इधर-उधर घूम रहे थे।

जितना कि मैं हूँ, या तुम हो, या ये सब हैं; और इसे हम दूसरी दुनिया कहते हैं, क्योंकि यह हमारी नहीं है, क्योंकि इसे हम आँक-पहचान

नहीं सकते। ये सड़कें, जो बारिश में जवान होती हैं, ये मकान, ये लोग, ये आवाज़, ये कूट के आसमान पर मसनूई सितारे !

यह तो गीत की गंध है। धुंआ और स्वेद उतने ही ठोस हैं जितने कि नृत्य-रस। तुम भी नाच सकती हो लिन्डा ? मंटू तो है ही। मैं तुम दोनों को नाचते हुए देखूँगा। मैं देखता हूँ तुम दोनों को भीड़ में गुम होते हुए। मैं मार्टिनी पी रहा हूँ, और तुम दोनों को देख रहा हूँ, तुम घूम जाते हो रोशनी के साथ, आवाज़ के साथ, देह के तक़ाज़ों के साथ। सारी ज़मीन घूम रही है भाग्यचक्र की तरह।

मैक्सिम का यह लमहा एक तस्वीर है, इम्प्रेशनिस्टिक स्टाइल की। इन सब के बीच में मैं एक शक्ल देखता हूँ, पहचानी हुई, जो बार-बार जाने कहाँ से झाँकती है। गिटार की लम्बी धुन काँप रही है जैसे रति-व्यस्त नारी की देह। लिन्डा पसीने से तर मुस्कुरा रही है।

मेरे हाथों पर हवा भारी है संगीत मेरे चेहरे को ढँक लेता है मास्क की तरह। और वह फिर झाँक रही है। मैं उसकी आँखों में देखता हूँ—गहरे, नीले पानी का एक पन्ना। हम एक दूसरे से बँध जाते हैं। और तब आवाज़, रोशनी सब गुम, गुल। सिर्फ़ तुम्हारी आँखें और दूरागत वंशी-रव। साथ हैं हम गरम, ख़ाली, तनहा।

गरम हवा मुलायम और सफ़ेद है। हम लोग बाहर आ गए मैक्सिम से। बड़े मैदान के किनारे-किनारे टहल रहे हैं। टैक्सी नहीं मिल रही है। लिन्डा मुझसे पूछती है मैं उदास हूँ क्या ? मैं कहता हूँ नहीं।

मैंने पुल पार किया है और अब नदी के किनारे घूम रहा हूँ। उस पार और इस पार घने पेड़ हैं—हरे धब्बे की तरह। हवा में जाफ़रानी गंध है। सफेद आसमान फैली हुई तलहत्थी की तरह दीखता है। मैं एक बड़े पेड़ के सामने खड़ा हूँ, जो अकेला है। इसकी शाखें धुँघरा रही हैं। इसकी टहनियाँ नन्हीं, मुलायम उँगलियाँ हैं। इसका तना गुलाब देई का हाथ है जैसे। मैं इसे छूता हूँ। अनगिनत छोटे-बड़े कौवे के घोंसले हैं इस पेड़ में। उनकी आँखें चमक रही हैं—हरे टेबलक्लाथ पर काले मख़मल का काम और उन पर ये ताज़ा धब्बे ! ये कौवे उसी तरह पेड़ पर टिके हैं, जैसे काला सपना दिमाग़ में भूला हुआ पड़ा रहता है। उस पार से एक ज़ोर की हवा चलती है। नदी, पेड़, मैदान सब को सिहरा देती है। लेकिन घोंसलों का कुछ नहीं बिगड़ता। पेड़ के हज़ार हाथ उन्हें सहारा देते हैं।

हवा मर जाती है और ज़मीन में धँस जाती है। मैं फिर घूमने लगता हूँ। चमकती हुई घास और चुप्पी के आस-आस।

नदी, पत्थर और मछलियाँ एक अन्तहीन गीत गुनगुना रही हैं। मैं अपना हाथ नदी में छुरे की तरह घुसाता हूँ। अभी ज़ख़्म हुआ, हाथ निकाल लेने पर फिर ठीक। नदी मुझे माफ़ कर देती है। शेष-सन्ध्या आसमान को रहस्य-रञ्जित बना रही है।

और मैं देखता हूँ कि तुम बड़ी दूर, नींद में हो। यह पेड़ तुम्हारी बाँह है—अव्यक्तिगत चुम्बनों में बद्ध। तुम्हारी देह-ऊषा उठती है बरसात के काले सवेरे पर। मैं देखता हूँ तुम तक का चोर-दरवाज़ा खुला है, ताला टूटा है और चाभी कुँए में फेंकी हुई है। तुम्हारी सुबह का एक अलग और नया नाम है। मेरी सुबह का अस्तित्व भूरी, कुहासे-भरी सड़क में खो गया है। मैं पुल पर से होकर फिर इस पार वापिस चला आता हूँ। तुम्हारा हाथ, तुम्हारा पेड़ गायब हो रहा है। आसमान पर्दे की तरह गिर रहा है।

एक दिन सपना देखा था कि मैं तुम्हें खत्म कर रहा हूँ। कुल्हाड़ी चला रहा था और तुम कट रही थीं। फिर तुमको अख़बार में लपेट कर कहीं नज़दीक ही छुपा दिया था। बाद में पुलिस वाले आए। काफ़ी पूछताछ कर चले गए। मैं चुपचाप बिस्तर पर लेट गया। लेटा ही था कि तुम कहीं से आकर मेरे सिरहाने बैठ गयी। "तुम्हारा सर दर्द कर रहा है न?" तुमने पूछा। पुलिस वाले परीशान होकर, खीझ कर, झेंप कर चले गए न। तुमने भी खूब उन्हें धोखा दिया। "लाओ, तुम्हारा सर दाब दूँ।" "अरे तुम! कहाँ थीं, क्या कर रही थीं?"

"मैं अखबार पढ़ रही थी जिसमें तुमने मुझको लपेटा था। और फिर मैं तुम्हें देख रही थी और सुन रही थी तुम्हारी बातें।" "तो तुम मरी नहीं?" "क्या कहूँ? मरी भी और नहीं भी, तुम मुझे प्यार कर सकते हो। इससे ज्यादा, इससे अलग और तुमसे कुछ भी नहीं होने का। छोड़ो, चलो, कहीं घूम आएँ।"

घूमते-घामते हम दोनों "नानकिन" गए थे। मैं 'एसपरगस' सूप पी रहा था और तुम शार्क-फिन। तुम्हारी तरफ़ चीनी अदा से झुक कर वेटर ने कहा था—"द लेडी हैज़ टेस्ट"। बाद में बारबरा भी आ गयी थी। तुम उसकी ज़िन्दगी का हाल पूछती रहीं। मुझे 'ड्रै शुन्ड' पसन्द नहीं। मेरी तो

झाँकर से ही दोस्ती हो सकती है। बाद में कोणार्क की कला पर मैंने एक लम्बा लेक्चर दे डाला था।

बूढ़ी, भूरी रोशनी खिड़की से छन कर आती है और मेरा दम घोंट देती है। मैं खुद को आइने में देखता हूँ। मेरी आँखों से तनहाई की हज़ार सुबहें झाँकती हैं।

साल दर साल पुरानी आदतें वापिस आ जाती हैं, पुरानी शक्लें, पुराने रंग। हम दो तकिए हैं। पतझड़ बिस्तर है। हमारी ख्वाहिश धरती है जो सो रही है। दिन में हमारी दीवारें सफेद रहती हैं और शाम को हमारी शक्लों से रंगीन, आबाद। बाहर गति और गीत का मौसम है, लेकिन दरवाज़ा अन्दर से बन्द है।

सुबह तुम्हारे अनगिनत रंगों का एक अलबम है। तुम्हारी आँखें समन्दर को चुप करा सकती हैं। अगर मैं कुछ कहूँ, तुम उत्तर दे देती हो। रात चलती है तुम्हारी गति के तर्क के अनुसार। यह वैसी ही भारी रात है और मेरा हाथ भी वही, वैसा ही, है।

दूर-दूर तक फैली हुई तुम, निकटतम, अवस्त्रा, निर्विकल्प, अपराजिता!

ठंड, रात और छिपकली

राधाकृष्ण सहाय

बाहर अवश्य ही घना अँधेरा छाया होगा ! ठंड से भींगती रात निश्चय ही उस कामिनी सदृश सिहर रही होगी जो असमय ही किसी पुरुष के बाहुपाश में पड़ जाती है। गो कि इतनी ठंड पड़ने का अभी मौसम नहीं आया......पर होनी को रोक कौन सकता है ?

कमरे में बन्द हूँ। खिड़कियाँ बन्द हैं। मुख्य दरवाज़े बन्द हैं। यहाँ तक कि जहाँ-तहाँ से झाँकने वाले सुराख भी बन्द हैं लेकिन......लेकिन जैसे ठंड से हड्डियाँ गल रही हैं।.....

एक कोने में बिजली का चूल्हा पड़ा है। ऐसा चूल्हा कि 'स्विच' 'ऑन' कर दो तो सारा कमरा गरम हो जाय। मैं कुर्सी खींच कर चूल्हे के निकट पहुँच आता हूँ। स्विच ऑन कर देता हूँ। कमरा कुछ गरम होने लगता है......पर अजीब बात ! नसों में जैसे खून इकट्ठा होकर जमने लगा है......जैसे भीतर का सब कुछ एक ही बिन्दु पर आकर ठहर गया है।......ओः,......यह सब ज़रूर छिपकिली के कारण है...जो सामने दीवाल पर रेंग रही है...घि...नौनी...बदशक्ल !......मैं अपने मित्रों से अक्सर कहा करता हूँ कि छिपकिली बड़ी घिनौनी होती है...और मैं इसीलिये उससे घृणा करता हूँ...यहाँ तक...यहाँ तक कि घृणा के मारे मैं उसे देख भी नहीं सकता...पर...पर...यह भी सच है कि मुझे छिपकिली से भय लगता है।

कितना विचित्र !...बात पुरानी है फिर भी जैसे ताज़ी है, एक-दम टटकी......

......मैं नंगा कर दिया गया हूँ। आँगन में जो विशाल दैत्याकार खम्भा है न ? मैं उसी में बँधा हूँ। मेरे हाथ-पाँव बाँध दिये गये हैं और मेरा शरीर इस प्रकार खम्भे में चिपका है कि टस से मस होना असम्भव है......और पहले हाथ ही से खींच-खींच कर चपत पड़ती है...

गाल लाल बिम्ब हो आया है...अ...ौ...र...फिर बेंत से सट्-सट् !...
पैर सूखी हुई टहनी की तरह काँप रहे हैं।

पर इससे क्या ?...बाल को पुनः खींच कर खम्भे में टकराया जाता है...फिर,...काँपते हाथों से बेशुमार...सट्-सट्-सट्...आँखों का पानी तक सूख गया है। यद्यपि मैं संज्ञाशून्य नहीं हूँ। मुझमें चेतना है। मैं सोच सकता हूँ।

पिता जी की आँखें जैसे शिव के तीसरे नेत्र की तरह हैं। उनके खड़ाऊँ की आवाज़ मानो रक्त-प्रवाह को रोक देने के लिये पर्याप्त है......
औ...र...और...(मैं)...संत्रस्त हूँ...बाहर-भीतर सब ठौर घिरा हूँ।

और......भय से ही तो आशंका का जन्म होता है ?

हाँ, छिपकिली दीवाल पर आगे बढ़ती आ रही है...तेज़ रोशनी में उसके शरीर का अंग-अंग दीखने लगा है जाने कैसी चिपचिपी है यह !...लिबलिबी। मन में हो रहा है यदि इसे छुआ जाय तो बड़ी नरम होगी अत्यंत नरम। दाब दो तो उसके भीतर का सब कुछ पिच् से बाहर निकल आये......।

आशंका ! आशंका यह कि यह छिपकिली कहीं चलते-चलते सिर पर न आ जाय ?...एकदम सिर के ऊपर ? लोहे की कड़ी में आकर कहीं लटक जाय तो ? तो कुर्सी खिसका कर भागना होगा क्या ? लेकिन इस जीव को तो अभ्यास है। अभ्यास में व्यतिक्रम की गुंजाइश नहीं होती। छिपकिली भी भला कहीं ऊपर से गिरती है ?...पर...आशंका भी अजीब है।

फातिमा मुझे हाथ में रूमाल दे रही है। हमारे पिता जी का तबादला जो हो चुका है ! अब इस शहर को हमें छोड़ देना है। बग्घी पर बैठने के पहले मैं गलियारे में घुस आया हूँ। फातिमा यहाँ बहुत देर से इन्तज़ार कर रही है। वह सिसक रही है।...मुझे भी दुख मालूम होना चाहिए न !...वह कह रही है—'मैं तुम्हारा ही इन्तज़ार करूंगी, केवल तुम्हारा इन्तज़ार।'...'नहीं आओगे तो सुनोगे कि फातिमा अपने बदन में आग लगा कर मर गई'।

...'धत्'...'अच्छा सुनो'...मैं उसको पकड़ कर दीवाल से सटा देता हूँ, बड़े ज़ोरों से...। ऊपर से चेहरा बना है पर भीतर से जाने कौन कहता है ?—'जाओ, कहीं जाओगी तो मुझे याद ज़रूर करोगी।'

...और सचमुच आशंका फातिमा और हमारे बीच दीवाल बनकर खड़ी हो जाती है...विचित्र-विचित्र आशंकाओं के बीच में घिर आता हूँ...

...और, माँ पुकार रही है—'बेटा !...ओ बेटा,...राजन् !'

धत्तेरे की !...

रात है। एकांत है। आज मैंने बहुत मार खायी है। [illegible] अन्न खाने के लिए मिन्नतें कर रही है। मैं रो नहीं रहा हूँ यद्यपि [illegible] अंग-पसलियों में घूँसे की मार बसी है। मेरा पिता निर्दयी है...चार[illegible]...!... शान्ति बहन मेरे रूखे-उलझे, बेतरतीब बालों में उंगलियां [illegible] अपनी गोद में मुझे रख रही है। अपने आभापूर्ण मुख को मेरे कान्तिहीन मुख के समीप लाती है। अपना मुख उठाती है तो आंखें लबालब हैं।...'भाई, राजन्,...भाई...खाना खा लो।'

जाने मुझे क्या सूझता है ?...मैं उसे ढकेल कर भाग खड़ा होता हूँ।...'तुम मेरी [illegible]?'...'अपनी बहन नहीं!'...'मेरा इस दुनियाँ में कोई नहीं'...'कोई नहीं'...

ऊफ़ !...सुबह-सुबह शिबू उठाने पहुँच आया है। पढ़ने के लिये अब वह कहेगा। परीक्षा समीप है न ?...धोखेबाज़...बूढ़ा खब्बीस... समझता है कि मैं इसकी लल्लो-चप्पो नहीं समझता ? मुझे ही फरेब में फसना चाहता है ? पुराना नौकर है इसीलिए छोड़ दूँगा अन्यथा मैं नहीं जानता क्या कि यही मेरे पॉकेट से पैसे चुरा लेता है...बाहर चीजें खरीदने के लिये ले जाता है...आधे पैसे का खरीदता है और आधा पैसा अपनी ज़ेब में रखता है।

पर यह आशंका कहां-कहां पीछा करेगी ?

मैं स्वयं हूँ। हां, हूँ ही तो।...होने के प्रमाण भी तो हैं ! सांस तेज़-तेज़ चल रही है। धड़कनें मशीन की तरह धक्-धक् बोल रही हैं। आंखों की पुतलियां खुलती हैं—बन्द होती हैं।...अ...ौ...र...आ...ँ... र...चाहूँ तो मैं होने के प्रमाण में हाथ हिला सकता हूँ, पैर उठाकर छोटी मेज़ पर फेंक सकता हूँ...और हां, यह भी कि चाहूं तो उंगलियां भी चटखा सकता हूँ।

बारी-बारी से होने के प्रमाण में मैं यह सब कर सकता हूँ; इतना ही नहीं; चाहूँ तो मैं अमिता को पत्र भी लिख सकता हूँ।

..."प्यारी अमि,

[illegible] मिली है। आज ही तो आयी है। जेब में पड़ी है—बिल्कुल [illegible]! परन्तु इतना जान लो कि मैं इस पत्र को पढ़ूँ[illegible] [illegible]हीं... [illegible]गा...साल बीत जाय...युग बीत जाय पर मैं तुम्हारी चिट्ठी [illegible]।"...

प...र...रु...क...ो...त...ो...

माला की तरह यह किसके हाथ मेरी गर्दन को दोनों ओर से घेरे हुए ? और किसका यह मुखमण्डल मेरे चौड़े वक्षस्थल पर झूल रहा है ? मानो मल्लिका के अनेक सुवासित पुष्पों के बीच सबसे विहँसित और पुष्पित यही हो ?...

...अरे ! यह कौन आशीर्वाद की तरह मुझे आप्लुत करना चाह रही है ? आखिर हुआ क्या है जो श्रेष्ठा और पवित्रा यह सावित्री अपने अयोग्य – अनधिकारी सत्यवान को वरण करने [illegible] रही है ?...

...धर्म की तरह दृढ़ और मंत्रोच्चार की तरह [illegible] यह कौन मुझमें विश्वास-मोह, संतोष-सुख, तृप्ति और संतुलन भरना चाह रही है ?...

...और दो मूर्तियां नग्न हो गयी हैं। बदन पर झीना वस्त्र तक नहीं है। एक मूर्ति दूसरी को आबद्ध कर रही है...बाहुपाश में घेर रही है... एकदम से आप्लुत कर रही है...पुरुष निश्चेष्ट है...नारी-मूर्त्ति ही मानो पुरुष-मूर्त्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करती है...।

...पर...पर रेलगाड़ी भागती जा रही है। पेड़ पौधे, ताल-तलैया, गांव-गंवई और जाने क्या-क्या छूटता जा रहा है ?...प्रयाग-काशी-पटना, लखनऊ-कलकत्ता; सब छूट रहा है...

शाम का वक्त है। किसी अनजाने पार्क में पड़ा हूँ। सामने एक लम्बा, कभी न झुकने वाला अडिग ताड़वृक्ष खड़ा है। अगल-बगल पेड़-पौधे, फूल-पत्तियां हैं। नीचे घास की मुलायम बिछावन है। ऊपर है नीलाकाश।

...मैं अकेला हूँ। नितांत अकेला।...यद्यपि पार्क में [illegible] नहीं, हैं अनेक [illegible]न्तु अनेक होते हुए भी एक नहीं हैं। [illegible] हैं, [illegible] हैं,

हरि है, शिब्बू है, पिता जी हैं, मां, हैं...और...और कितने हैं ?—अनगिनत; लेकिन हमको हो क्या गया है ? गौतम की तरह निकल पड़ा हूँ क्या ? अमिताभ बनने की महत्वाकांक्षा जग पड़ी है मुझमें ?

...और स्टेशन का प्लेटफार्म दांत बाये फैला है। गाड़ियां आ-जा कर विश्राम ले रही हैं। शांति है। कोई नहीं है। मैं बिना मालिक के कुत्ते की तरह भाग रहा हूँ...दौड़ रहा हूँ...जीभ निकल आयी है...हांफते-हाँफते दम निकल रही है...

...और यह कौन मुझे पकड़ कर मेरे गले में चमोटी डालना चाहती है ?...कौन है यह जो मेरी स्वतंत्रता, मेरी भटकनें छीन लेना चाहती है ?...यह कौन पुचकार रही है ?

नहीं-नहीं...मैंने संतुलन खो दिया है। व्यक्तित्व में समता नहीं है। इसीलिये तो असफलतायें सामने जीभ निकाल-निकाल चिढ़ाकर भाग रही हैं...जैसे मैं पशु होऊं और असफलतायें बच्चे हों...और वे ठेंगा दिखा-दिखा भाग रहे हों...ओह ! जैसे असफलतायें...बारी-बारी से मुझे ही अपना पति वरण कर रही हैं...औ...र. मैं दूल्हा बना थोथा—मिथ्या गुरुत्व धारण कर मुँह फुलाये हप्प बना बैठा हूँ !......

......भला तमाशा तो देखिए !......गोलाकार मिट्टी का छोटा लोंदा पड़ा है तो लगता है कि सामने पहाड़ खड़ा है...पहाड़,...हाँ......ऊँची चोटियों वाला तुङ्ग-शृङ्ग...और...और मैं पाँच फीट का न होकर एक फीट का हो गया हूँ। हाथ मेरे कितने छोटे हो गये हैं ?...पांव मानों माटी की मूरत के हैं ! गर्दन मोम की मूरत की !...और मैं ?...मे...रा...म... ... ...र...।...स...ब...कु...छ...कि...त...ना...हास्या...स्प...द...हृ... !......

......मानो मैं अनिश्चय की कुर्सी पर बैठा होऊँ !...कुर्सी का आधार कभी भी छिन सकता है। कभी भी इसकी बाँह टूट सकती है। कभी भी उठँगने वाला पीछे का हिस्सा कुर्सी से अलग होकर विच्छिन्न हो सकता है—नष्ट हो सकता है......जैसे मैं अनिश्चय की, आशंका की, भय की; अनास्था की नहीं...नहीं...कोमल रूई की गट्ठर हूं—हल्की, तैरने वाली...विराट्...गहन...अ...त्यन्त चौड़े पाट वाली नदी में जैसे छोड़ दी गई हूँ। ओह हो, यह रूई की गट्ठर क्या कभी पानी

में भींग सकेगी ?...भींग कर...नीचे...नीचे...अतल गहराई में डूब सकेगी क्या ?......

......छिपकिली गिरी...गिरी...गि...र...ी...ी...वाह, वाह,... क्या खूब इसने अपने को बचाया।......ओह, पसीना छूट आया...धड़कन तेज हो गयी...सारा शरीर गर्म होकर तपने लगा......

...भला छिपकिली भी क्या जीव है !...पिद्दी-सी-लम्बाई, रंग भी, चढ़ै न दूजो रंग...छोटी-छोटी ललहथियां...सिकुड़ी हुई पूंछ...और... दाग़...दाग़...चारों ओर दाग़...अजीब कुत्सित और घृणित दाग...ठीक अमिता के चेहरे के दाग़ की तरह......

हाँ, अमिता के चेहरे पर भी तो दाग हैं ?...शीतला माता के दाग़ ? हूबहू छिपकिली के दाग़ की तरह ?...बदशक्ल...घिनौने...पर,... पर...मानो कि छिपकिली गिर जाती है; हाँ, सिर से होकर कंधे पर आकर लटक जाती है...तो ?...तो ?...

धत्...ध...त।

छिपकिली को मैं कुचल नहीं सकता—कभी नहीं कुचल सकता...

झटके से यकायक कुर्सी छोड़कर मैं उठ खड़ा होता हूँ। सहसा उठने से मेरी छाया बिजली के प्रकाश में कमरे की सारी वस्तुओं को ग्रस लेती है......

......अमिता के होठों में गिलास लगा है। वह पानी पी रही है। खाने की मेज पर हम दोनों अगल-बगल हैं। उसका आधा चेहरा गिलास में ढँका है। केवल आँखें दीख रही हैं—बड़ी-बड़ी ! खाना खाते-खाते वह यकायक पानी पीने लगी है और पानी पीते-पीते सहसा हँसने लगी है। खिलखिला-खिलखिला वह हँस रही है। जैसे सोडावाटर बोतल से गिलास में ढाला जा रहा है......

"सुनो !"......"सुनो !"......"तुम मेरे चेहरे की ओर क्या घूर रहे हो ?"......"क्या देख रहे हो ?"......"बताओ न ?"......"बहुत बद-शक्ल हूँ न ?"......"घिनौने दाग छाये हुए हैं !"......दाग...कितने गन्दे दाग हैं ये ?"......

अमिता हँसती जा रही है...हंसती ही जा रही है...जैसे हँसी का न ओर है, न छोर......

"सुनते क्यों नहीं ?"..."नहीं सुनोगे ?"..."नहीं हमारी बात तुम अनसुनी नहीं कर सकते"......"सुनो, तुम मेरा गला घोंट दो"......"तुम्हें बड़ा पुण्य लाभ होगा"...."सच, घोंट दो न"..."तुम्हें छुटकारा मिल जायगा"..."हाँ...हाँ, तुम भी मुक्त हो जाओगे"......

और अमिता की आँखों में उमड़े हुए समुद्र की लहरों का कोई ठिकाना नहीं !......कोई ठिकाना नहीं !......आज बाँध को, पत्थर को, रेत को, ब्रिज को,...सब को...सब को तोड़-फोड़ कर पानी बहेगा... बहेगा ही...

अमिता हँसते-हँसते रो रही है...रोते-रोते हँस रही है...गिलास ढाल का काम कर रहा रहा है। पानी की बूँदें गिलास के ऊपर से बहकर खाने की थाली में गिर रही हैं...

हे ईश्वर !...भ...ग...व...ा...न...इस उठे हुए समुद्र में मैं कैसे डूब जाऊँ ?...नीचे...नीचे...अतल गहराई में कैसे डूब जाऊँ !......

स्वयम् से साक्षात्कार

सर्वेश्वर दयाल

फिर बहुत दिन बाद —
सामने की रेंड़ चटकी,
हिला सरपत का भुआ,
झुनझुनी नीलाम्बर की
चुप हुई,
सर उठाकर किसी मँगते ने
मुझे दी दुआ।

आ गयी मुझको स्वयम् की याद,
फिर, बहुत दिन बाद !

छोड़कर अपना कृत्रिम यह साथ,
मुड़ चला मैं स्वयं से मिलने;
घने कुहरे से ढँकी
वीरान घाटी में
दबे पैरों आ गया मैं,
रुँधे बाड़े तोड़कर
शक्ति भर मैंने पुकारा,
कोटरों में फड़फड़ाए पंख

अँधेरी छाया लगी हिलने,
खड़खड़ाने लगी मेरी साँस
सर झुका. संध्या लगी फिरने,
'मैं नहीं हूं शेष' —
थरथरा कर चेतना की डाल टूटी,
'नहीं, अब नहीं मैं रहा'—
चीख़कर मुख ढाँप छायाएँ गिरीं।
तब — चरमराए द्वार —
अंधगृह-वासी,
मौन संन्यासी,
बढ़ा बाहें खोल,
शून्य टटोल टटोल
काँपते स्वर में लगा कहने
रुका जल जैसे लगा बहने—

'आ गए तुम :
कभी आओगे
बस इसी विश्वास पर
डाल से था टँका पीला पात।
सुनो, अब जिया जाता नहीं,
नित्य के इस स्वाँग से
मैं थक गया हूँ,
हो सके तो बस करो;
साँस मेरी घुट रही है
कहो तो चेहरे लगाना छोड़ दूँ,
अभी कब तक चलेगा अभिनय तुम्हारा ?
क्या हमारी लाश को भी
नाटकी पोशाक पहनाकर नचाओगे ?

बुरा मत मानो
मैं नहीं कहता कि जीवन मत जियो,

सभी जीते हैं,
तुम्हें भी पड़ेगा जीना
जानता हूँ,
किन्तु कुछ ऐसा करो
पैर रखने की जगह तो हो,
एक अंगुल भूमि भी ऐसी मिले
जहाँ मैं जो हूँ
वही बनकर खड़ा रह सकूँ,
सर उठाऊँ
एक क्षण को ही सही
सत्य जो समझूँ
उसे देखूँ, सुनूँ, कह सकूँ।

बात क्या मैंने बड़ी कह दी ?
आज इतना भी असंभव है ?
दूसरों की दृष्टि से ही
तुम्हें खुद को देखना
इतना जरूरी है ?
मैं नहीं कुछ रहा ?
इसलिए मैं पूछता हूँ यह
कि शायद ज्ञात तुमको
यह न हो—
मैं आज अन्धा हूँ—
क्योंकि तुम
सदा अनदेखी कराते रहे ;
मैं आज बहरा हूँ—
क्योंकि तुम
अनसुनी करता रहूँ,
इसके लिए मजबूर करते रहे ;
और अब—

पैरों तले का साँप तक
मुझको दिखाई नहीं देता ,
मरण-शय्या की पुकारें
अनाथों की चीख,
लावारिस कराहें
कुछ सुनाई नहीं देती ।
अब यहाँ रहना न रहने की तरह है ।
इधर देखो
डाल का यह टँका पीला पात
हवा लगकर
खड़खड़ाता है—
मैं तो मनुज हूँ ।
क्षमा कर देना मुझे,
मैं नहीं यह लहू मेरा बोलता है,
क्योंकि तुम
होंठ मेरे सिल चुके हो,
और अन्तःकरण की आवाज तक
गिरवी रख आए हो ।
क्या करूँ ?
ठठरियों में साँस है जब तक—
कहीं से आवाज़ आएगी,
तुम न जागो तुम्हारी मर्ज़ी
किन्तु यह तुमको जगाएगी;
और जिस दिन
इसे बेचोगे,
मैं नहीं हूँगा
और तुम भी रहोगे ? शायद !'

इसे सुनकर
झुकाकर सर
मैं चला आया,

दीप जैसे
स्वयं अपनी ही समाधि
पर जला आया;
लगा चिल्लाऊँ—
जोर से शक्ति भर
इस दुखी वीरान वादी में—
"सभ्य हूँ मैं
ज़माना जैसा बनाएगा बनूँगा,
...कहाँ जाऊँ ?"

पर न जाने क्यों
बोल मैं पाया नहीं
गला मेरा रुँध गया
छा गया बेहद घना अवसाद—
फिर बहुत दिन बाद

मादा कैक्टस

लक्ष्मीनारायण लाल

●

पात्र

●

अरविन्द
आनन्दा
सुजाता
सुधीर
दद्दाजी
डाक्टर पापा
तथा गंगाराम

निर्देश

●

'मादा कैक्टस' को सोचते ही पहली सुधि इसकी मंचसज्जा की होती है; क्योंकि मंच का स्वरूप और इसका पूरा स्वर उस सिंफनी का दृश्यगत आधार होगा जिसकी रचना की सारी क्रियाशीलता पात्रों के मनोभावों में है—उन्हीं से उत्पन्न उनकी विभिन्न स्थितियों में है। इसलिये यह सच है कि मंच की कल्पना में एक प्रतीक जमा बैठा है। जिसके लिये मंचसज्जा यदि यथार्थ से अधिक रहस्यमय लगे, वास्तविक से अधिक काल्पनिक लगे तो इसकी अभिव्यंजना शक्ति में अद्भुत बल आ जायेगा। क्योंकि इस नाटक में मुख्य पात्रों ने बहुत ही कम कहा है। उनकी वृत्तियाँ ही जैसे उन्हें बाँध बैठी थीं; इसलिए जो नहीं कहा गया, अथवा जो नहीं कहा जा सकता, उसकी अभिव्यंजना का दायित्व तो मंचसज्जा ही में है। अतएव

मंच में इतना प्राण घोलना होगा कि वह अपनी सांकेतिकता में सदा जागरूक रहे।

तभी *प्रकाश-व्यवस्था* का स्थान यहाँ अन्यतम है। मंच का कोई न कोई एक छोर आकाश की तरफ खुला होगा, जहाँ से यह स्पष्ट दिखायी दे कि घुटन का कुहासा उस क्षितिज से उठ रहा है—और प्रकाश की किरण भी। ऊँचे 'बेस' पर जहाँ 'मादा कैक्टस' है, वहाँ केवल उसी बिन्दु पर सिमटा, जमा हुआ एक पीला प्रकाश, जो मंच के सारे वातावरण की सरलता, स्निग्धता में धब्बे की तरह उभर रहा है। केवल आरम्भ को छोड़कर, जब तक कि मूल दृश्य नहीं खुलता—शेष पूरे नाटक में कहीं तेज रोशनी नहीं है। सदा हल्का दूधिया, नीला प्रकाश—वह भी आनन्दा, सुजाता की उपस्थिति के समय बिखर जाता है, जैसे रोशनी कहीं से अब टूट-टूट कर, कट-कट कर आ रही हो।

संगीत रचना : नाटक के आदि में, द्वितीय अंक के प्रारम्भ में और अंत में नीलाम का बाजा, क्रमशः ऊँचा मध्यम और प्रतिध्वनि जैसा। दृश्यों के अंत में, बीच-बीच में सितार वाइलिन और गिटार के संगीत, कभी तेज़, कहीं धमा—स्थित्यनुसार।

पात्र-परिचय : अरविन्द चित्रकार है, अवस्था प्रायः पैंतीस चालीस की है। प्रभावशाली मुख-मण्डल और उस पर मानो गम्भीरता का कवच पड़ा है। बेहद सुरुचिपूर्ण रंगढंग, व्यवहारों में अजब मोहक शालीनता। आनन्दा, अरविन्द की सहधर्मा—अवस्था अठाईस-तीस वर्ष—व्यक्तित्व पर सुन्दर आभिजात्य संस्कार। आधुनिक, पर स्वभाव से विशुद्ध भारतीय नारी। आकर्षक से अधिक प्रभावशाली—शालीनता की आभा से मण्डित। सुजाता, अरविन्द की पत्नी, अवस्था में आनन्दा के ही आस-पास, पर देखने से इसकी प्रौढ़ता अधिक है। निष्ठावान नारी, स्त्रीत्व की गरिमा से पूर्ण। और सुधीर, आनन्दा का छोटा भाई। उम्र पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं—पर स्वभाव में एक ओर 'बेबी' हैं तो दूसरी ओर मोछ वाले बुजुर्ग और पूरे व्यक्तित्व पर चंचलता, आवारगी और

कर्मशीलता का अद्भुत समन्वय। प्रकृति से आक्रमक, मुँहफट, बातूनी और जिद्दी शिशु जैसे। तभी घर-बाहर के लोग मारे लाड़-प्यार के इन्हें 'बेबी' कहते हैं। अक्सर ऊँची पैन्ट, पर कभी-कभी अपटूडेट जो इनसे सँभाले नहीं सँभलता। दद्दाजी, अरविन्द के पिता, अवस्था साठ के आस-पास। कुलीनता पर फ़्यूडल सत्य के गहरे रंग। आँखों पर मोटा चश्मा। बाल सफेद। अपनी बात को प्रभावशाली रूप देने का प्रयत्न। और डाक्टर पापा, आनन्दा बेटी के पिता। अवस्था दद्दा जी से कम नहीं, पर गंभीर अधिक, जिस पर चिन्ता और जीवन के गहरे बहुमूल्य अनुभवों की छाप। जैसे कभी नहीं हँसते। सदा पैन्ट और बन्द गले की कोट, जिस पर फ़ेल्ट टोपी कभी भूली ही नहीं जा सकती। और हाथ की छड़ी तो उनके व्यक्तित्व को और भी साथ देती है, यद्यपि रिटायर्ड हुये उन्हें कई वर्ष हुये। और अन्त में यह गंगाराम, अवस्था पचास वर्ष से अधिक नहीं। धोती कभी घुटने से नीचे नहीं गयी है। मोंछें घनी, जैसे खूब दुलार से रखी गयी हैं। विश्वासी, परिवार का अभिन्न अंग।

अंतिम बात : हर हालत में, मंच पर इतनी खुली जगह हो, इतना निर्बंध स्थान (स्पेस) हो कि सक्रिय पात्र उफन-उफन कर बह सकें। लगे कि वातावरण की घुटन को वे तोड़-तोड़ कर दिखाना चाह रहे हैं, और मूक पात्र भी उस स्थिति के सूनेपन से टकरा रहे हैं।

नीली दूधिया रोशनी के चारो ओर जो कुहरा जमा है, सारे पात्र उस परिधि में आ फँसे हैं और सब उससे मुक्ति चाह रहे हैं।

पहला अंक

[पर्दा खुलने पर वास्तविक दृश्य आसमानी रंग के महीन पर्दे से ढका रहता है। दायीं ओर से कालेज के विद्यार्थी की तरह बड़ी मस्ती में, मुंह से सीटी बजाता हुआ, दायें कन्धे से कैमरा, बायें से 'बाइनाक्यूलर' लटकाये सुधीर प्रविष्ट होता है, और पूरे

मंच को पार कर जाता है। अंतिम सिरे पर पहुँचते-पहुँचते उसकी दृष्टि एकाएक जैसे दर्शकों की ओर चली जाती है, और वह आश्चर्य-पूर्ण जिज्ञासा से घूम पड़ता है।]

सुधीर : अयँ! यह बात क्या है। ('लाउडस्पीकर' को देखकर) इतने लोग यहाँ बैठे हैं, और चुपचाप। यहाँ रोशनी, वहाँ अँधेरा, बात क्या है? 'माई सिगरेट एंड मैचबाक्स।' (पाकेट से निकाल कर सिगरेट जलाता है) आखिर क्यों, क्या बात है यहाँ।...यह बाजा तो कह रहा है कि यहाँ कोई नीलाम होने वाला है। तो यह बात है। (आश्चर्य में पड़कर) लेकिन यहाँ रोशनी, वहाँ इतनी दूर में अँधेरा! यह खामोशी तो कुछ और कह रही है। आल राइट। 'सिगरेट बाईकाट।' (फर्श पर पटक कर उसे जूते से दबा देता है) जी सुनिये! मेरा नाम है सुधीर, पर मेरा असली नाम 'बेबी' है 'बेबी'। जी, उमर मेरी पचीस साल, आठ महीने नौ दिन की है तो क्या? अजी, आप हँसते क्यों हैं?

खैर, छोड़िये अपनी तारीफ। मेरी इस मुट्ठी में क्या है, यह बताइये! सोचिये।......सोचिये......अक्ल लड़ाइये। सिग-रेट फूँकिये, अजी, सिर खुजलाइये। हाँ अब बोलिये, क्या है मेरी इस मुट्ठी में। बोलिये नहीं तो आप सब की तस्वीर उतार लूँगा हाँ, और छपवा दूँगा अखबार में कि देखिये इन लोगों को......हाँ, हाँ! बताइये क्या है मेरी इस मुट्ठी में? मैं कोई लफ्फाज़ नहीं, जादूगर नहीं। बहुरूपिया नहीं। अच्छा खासा 'मिडिल क्लास' का नौजवान हूँ; मेरे पापा तो 'अपर क्लास' के हैं भाई! लेकिन मैं उतने ऊपर जाने का कायल नहीं। आखिर उतने ऊपर से गिरकर चोट कौन खाये?

अब बताइये, क्या है मेरी मुट्ठी में? कोई नहीं? कोई नहीं?......तो जाइये फिर मैं अपनी मुट्ठी की चीज़ नीलाम किये दे रहा हूँ।......कोई नहीं, एक...कोई नहीं, दो...कोई नहीं......।

स्त्री स्वर : (सहसा) रुको मैं बताती हूँ।

सुधीर : (डर से) अँय......नहीं......नहीं......।

[घबड़ाकर भागने-भागने को होता है, फिर सामने आता हुआ ।]

सुधीर : मैं तुमसे थोड़े ही पूछ रहा हूँ । मुझे क्या पता तुम चारों ओर हो । तुमसे क्या पूछना ! तुम चली जाओ यहाँ से ।...चली गयीं न । ठीक । (दर्शकों से) मेरी मुट्ठी में जो चीज़ है उसमें सब काँटे ही काँटे हैं । और काँटों के भीतर फूल है, और फूल के भीतर एक बेहद हसीन कीड़ा है । अब बोलिये क्या है मेरी मुट्ठी में ?

[उसी क्षण पीछे का आसमानी पर्दा हट जाता है । वास्तविक दृश्य:—अरविन्द के बँगले का बरामदा । पीछे ड्राइंगरूम के दरवाजे और खिड़कियों पर कीमती पर्दे दिखाई दे रहे हैं । बरामदे के बीचो-बीच नीची गोल मेज़ के चारों ओर बेंत की चार कीमती कुर्सियाँ । एक कोने पर टेलीफोन, दूसरी ओर पतली सी नीची टेबुल पर विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकायें और दो चार किताबें । सामने एक खूबसूरत 'बेस' पर तीन 'कैक्टस पाट्स' सजाये रखे हैं, अलग-अलग । दीवार पर अरविन्द के बनाये हुये दो चित्र लगे हैं ।

(जाड़ों के दिन हैं, सुबह के साढ़े आठ बज रहे हैं ।]

सुधीर : (दृश्य में आकर पुकारता है) गंगाराम ! ओ गंगाराम !...... गंगाराम !

आवाज : (भीतर से) जी, आया सरकार ।

[सुधीर तीनों 'कैक्टस पाट्स' को एक किनारे सटा देता है और इससे जो जगह निकलती है, वहाँ अपना कैमरा और 'बाइनाक्यूलर' रख देता है ।]

सुधीर : (बड़े बेढंगे तरीके से कुर्सी पर बैठता हुआ) अजी, जल्दी चलो यहाँ, नहीं तो टेलीफोन करना पड़ेगा ।

[गंगाराम का प्रवेश]

गंगाराम : (आते ही) नमस्ते साहब ।

सुधीर : काफी पिलाओ पहले । आज ज़रा पिकनिक के मूड में हूँ । ज़रा मूड देखकर बातें किया करो ।

गंगाराम : (अदब से) बेंत की कुर्सी है न साहब। ज़रा कायदे से बैठिये। पैर ज़रा नीचे.....इधर की तरफ.....उधर नहीं, नीचे।

सुधीर : अर्थात् मैं खड़ा हो जाऊँ। ले तेरी मंशा पूरी हो। (खड़ा हो जाता है)

गंगाराम : नहीं.....नहीं.....बैठिये.....बैठिये। (पकड़कर बैठाता है) आप तो सच, बिल्कुल 'बेबी' ही रह जायेंगे साहब। माई जी ने बहुत समझ बूझ कर आपका नाम 'बेबी' रखा है।

सुधीर : अजी, आज तो मैंने अखबार ही नहीं देखा। (झपट कर अखबार उठा लेता है) ऐं है! मार डाला! क्या खेलते हैं ये इंडिया वाले क्रिकेट! बस इज्जत डुबाते हैं। (अखबार उठाता है) बनने दो मेरी टीम। एक-एक की टाँग न तोड़ दूँ तो...।

गंगा : आपका नाम बेबी नहीं।

सुधीर : शट अप। (गुस्से में अखबार फेंकता है) हटाओ यह कूड़ा अखबार। यह बताओ तुम काफी लाते हो कि नहीं?

गंगा : बिल्कुल चढ़ा के आया हूँ हुज़ूर।

सुधीर : चढ़ा के आये हैं! लेकर क्यों नहीं आये। तुम्हारी इसी आदत से परेशान होकर मैंने तुम्हें अपने बंगले से हटा कर यहाँ रखवाया है।

[गंगाराम अखबार समेटकर करीने से रखता है और हँसता हुआ भीतर चला जाता है। उसी समय टेलीफोन की घंटी बजती है।]

सुधीर : (रिसीवर लेकर कुर्सी पर) हलो! जी आवाज़ पहचानिये। नहीं, पहचान सकीं। जिया जी, यह शरारत नहीं है, फैक्ट है फैक्ट। एफ० ए० सी० टी०, फैक्ट!.....जिया जी, ज़रा आज संभल कर बातें कीजिये, मैं आज बेतरह पिकनिक के मूड में हूँ! ...जी...हाँ...जी...मैं क्यों अरविंद जी को बुलाऊँ। मैं कोई गंगाराम थोड़े हूँ। मेरी मुर्गाबी को चारा डलवा दीजियेगा, हाँ! और उसके टैंक में पानी भरने के लिये भी आर्डर कर दीजिये!...मेरी परम पूज्य जिया जी, मैं [illegible] अरविंद दा को।

[उसी क्षण सहसा भीतर से अरविंद का प्रवेश, कीमती

गाउन पहने हुये, गौरवर्ण, क्लीनशेव्ड, बड़ा ही प्रभाव-शाली व्यक्तित्व और जैसे सब पर मोहक गंभीरता का कवच डाले हुये ।]

अरविंद : (प्रवेश करते ही धीमे से) ! नमस्ते ! मेरा टेलीफोन ।

सुधीर : (हड़बड़ाकर कुर्सी से उठता हुआ) जी...जी...आपका...।

अरविंद : (फोन पर) हलो...हलो ! कोई आवाज नहीं । हलो ।
(प्रतीक्षा में चुप)

[सुधीर शरारती मुद्रा में ड्राइंग रूम के दरवाजे के पास खड़ा है, उसी समय एक कप काफी लिये गंगाराम आता है। संकेत से दोनों भीतर चले जाते हैं ।]

अरविंद : (फिर से नम्बर मिलाकर) हलो ! जी...नमस्ते...जी, सुधीर खड़ा है मेरे पास । (देखकर) अरे सुधीर ! सुधीर !

गंगाराम : (प्रवेश कर) काफी पी रहे हैं ।

सुधीर : (जैसे दौड़कर) जी नहीं, मैं यहीं हूँ ।

अरविंद : बैठो । यहीं काफी पियो न मेरे सामने । बैठो । (आज्ञा से) गंगाराम, काफी लाओ ।

गंगाराम : आप भी पियेंगे न !

अरविंद : नहीं !

[गंगाराम चला जाता है सुधीर कुर्सी पकड़कर खड़ा ही रह जाता है ।]

अरविंद : (फोन से) आनन्दा जी ! देखिये यह सुधीर कुर्सी पर नहीं बैठता । खड़ा रहता है । (हंसकर) तुम्हारी जिया ने टेलीफोन पर जानते हो क्या कहा है । कहा है कि 'बेबी अदब करता है ।'

सुधीर : जी नहीं, बात यह है कि बड़ी परेशानी होती है मुझे आपके सामने कुर्सी पर बैठते हुये । जरा ठीक से मैं बैठ नहीं पाता एक जगह, और आज तो जरा पिकनिकी मूड में भी हूँ ।

अरविंद : (फोन से) सुन रही हैं न सुधीर को ! आवाज़ तो टेलीफोन ज़रूर ही 'कैच' कर रहा होगा ।

(काफी लिये गंगाराम का प्रवेश)

गंगाराम : हुजूर ! काफी लीजिये ।

[सुधीर कप पकड़ता है, गंगाराम का प्रस्थान]

अरविंद : (फोन पर) और सब ठीक है ! आऊँगा ! अभी थोड़ी देर में । ओ...के...। नहीं, नहीं...नमस्ते । नहीं, कुछ नहीं ।

[हँसते हुये टेलीफोन रख देते हैं ।]

अरविंद : और कहिये सुधीर साहब, क्या हाल-चाल है ? बहुत कम दीख पड़ते हैं आप !

सुधीर : आप मुझे देखते ही न होंगे । मैं तो रहता हूँ घर ही पर ।

अरविंद : मैं भी तो आपके घर कम से कम एक बार तो जरूर ही जाता हूँ...।

सुधीर : जी...वही तो ।

अरविंद : वह जो जाल में फँसाकर आप कोई मुर्गाबी ले आये थे न, क्या हालचाल है उसका ? कैसी है, मुझे भी तो दिखाइये एक दिन ।

सुधीर : मैं उसको कभी बाहर नहीं निकालता । न किसी को देखने ही देता हूँ । (काफी खत्म करके) बात यह है कि मुर्गाबी बड़ा ही गरीब परिन्दा है, पर उतना ही खूबसूरत और लाजवाब !

अरविंद : तो···

सुधीर : जो गरीब है पर खूबसूरत और लाजवाब है । इस गल्ती के लिये मैं लानत भेजता हूँ कुदरत पर । सोचिये, यह भी कोई बात हुई ।

अरविंद : इसीलिये आप उसे चौबीस घंटे कब्जे में रखते हैं, ताला कुञ्जी बंद ।

सुधीर : जी ! एक तो गरीब परिन्दा, दूसरे शिकार, तीसरे उसको देखते ही हर गोश्तखोर के मुँह में जो पानी भर आता है । बड़ी मुसीबत है ।

अरविंद : भाई, मैं तो विशुद्ध शाकाहारी हूँ ।

सुधीर : (ठहाका मार कर हँस खड़ा होता है) शाकाहारी, वह भी विशुद्ध ।... अरविंद दा । मेरी समझ से दुनियाँ में कोई शाकाहारी नहीं ।

अरविंद : अच्छा, तुम बैठो, मैं अभी आया । जाना नहीं, हाँ... ।

[अरविंद का तेज़ी से प्रस्थान. क्षण भर बाद गङ्गाराम का प्रवेश]

गंगाराम : काफी अच्छा थी न साहब ?

सुधीर : सुनो, कान इधर लाओ गंगाराम। बस तुम हाथ से गये। तुम इतने होशियार क्यों हो गये जी ? (रुक कर) दद्दा जी कहाँ गये, दिखाई नहीं पड़े अब तक।

गंगाराम : आज सुबह ही सुबह पता नहीं कहाँ चले गये। शायद कहीं टहलने गये हों।

सुधीर : क्यों गंगाराम, चलो पिकनिक या शिकार पर चलते हो। तुम शिकार लिये बैठना, मैं बंदूक और केमरा लिये उस मोतीझील में देखूँगा।

गंगाराम : बंदूक और केमरा एक साथ ?

सुधीर : जैसे कला और पेट की भूख। अजी, तुम क्या समझोगे इन बातों को (रुक कर) एक बात बताओ गंगाराम। तुम्हारे साहब इतने सुविख्यात चित्रकार कलाकार, फाइन आर्टस कालेज के प्रिंसपल...पर 'कैक्टस' के इतने शौकीन क्यों हुये ? अरे, एक से एक हसीन फूल पत्तियाँ, बेल-लतर हैं कुदरत के पास।

गंगाराम : हमारे साहब हर चीज़ की आत्मा पूजते हैं, शरीर नहीं।

सुधीर : तभी बँगले भर में कैक्टस ही कैक्टस हैं। बाहर भीतर, लान में, ड्राइंगरूम 'बेडरूम' यहाँ-वहाँ, गर्ज़ चारो ओर कैक्टस। पता नहीं दद्दा जी कैसे यहाँ साँस लेते होंगे।

गंगाराम : बहुत झुँझलाते हैं, पर साहब को ये कैक्टस इतने प्यारे हैं कि जैसे इन्हीं की नींद में वे सोते जागते हैं। पिछली बार एकाएक चार पौधे सूख गये, साहब दो दिनों तक परेशान थे।

सुधीर : परेशानी की क्या बात, और मगवा लेते। अरविंद दा कहें तो मैं ट्रक के ट्रक कैक्टस लदवा कर यहाँ पाट दूँ।

[उसी समय दद्दा जी का बाहर से प्रवेश, गंगाराम उन्हें देखते ही भाग जाता है।]

सुधीर : (उठकर) नमस्ते दद्दा जी।

दद्दा : नमस्ते। बैठो, खड़े क्यों हो गये ?

सुधीर : दद्दा जी, मैं राजा बेटा हूँ न ! बड़ों को अदब देता हूँ। दद्दा

जी...आप के बदन पर यह शेरवानी खूब जँचती है। क्या कहने हैं, अहा हा !

दद्दा : हर समय, हर युग का अपना 'कल्चर' होता है, और वह 'कल्चर' आदमी के पहनावे से झलक उठता है। मैं अँग्रेजों के संग उठने बैठने वाला आदमी, फिर भी अपनी भारतीय संस्कृति का सदा उपासक रहा हूँ।

[बीड़ी दाग कर पीते हैं।]

सुधीर : पर दद्दा जी आप बीड़ी क्यों पीते हैं ?

दद्दा : मजबूरी ! न अपना समय रहा न जमाना ! महज यादें रह गयीं। (कश लेकर) मेरा एक दोस्त था, अँग्रेज कलक्टर... वह हिन्दुस्तान के बारे में अक्सर कहा करता था कि यहाँ कभी कहत नहीं पड़ सकता, क्योंकि हिन्दुस्तान के लोग कुछ भी खा-पी सकते हैं। मुझे ही देखो, चुरट और सिगार पीने वाला बीड़ी पर उतर आया।

[उसी समय टेलीफोन की घंटी बजती है। सुधीर रिसीवर उठा लेता है।]

सुधीर : जी...हलो...जी हाँ...हैं तो अन्दर।

[दौड़ा हुआ गंगाराम आता है।]

गंगाराम : (सुधीर के पास आ) क्या है साहब ? किसका 'टेलीफोन' है ?

सुधीर : कोई साहब हैं अरविंद दा से मिलना चाहते हैं। कहीं दूर से इनके दर्शन के लिये आये हैं।

गंगा राम : (फोन पर) देखिये जी, अभी साहब हैं नहीं...। (रुककर) उन्हें पता नहीं था।

[टेलीफोन रख देता है।]

दद्दा जी : (चिढ़कर) अब नौकर को तुम ! तू इतना झूठ क्यों बोलता है ? तेरे साहब के पास अगर वक्त नहीं है, किसी से मिलने का अगर जी नहीं है, तो यहाँ झूठ का इतना बड़ा व्यापार क्यों चलता है ? हिम्मत से साफ बात क्यों नहीं कह देते ?

[गंगाराम चुप खड़ा रह जाता है।]

दद्दा जी : साहब कहाँ हैं ?

गंगाराम : पूजा कर रहे हैं।

सुधीर : (जैसे चौंकता है) ऐं पूजा ! क्यों गंगाराम सचमुच पूजा ? कैक्टस और पूजा !

दद्दा : अजी कोई राम नाम की पूजा ? पूजा नहीं 'कंसंट्रेशन'।

[गंगाराम का प्रस्थान]

दद्दा : तुम्हारी अरविंद से भेंट हुई ?

सुधीर : जी हुई थी।

दद्दा : तुमने बता दिया न, कि आनन्दा को बुखार आ गया है।

सुधीर : उनका तो खुद टेलीफोन आया था...जब अरविंद दा को उन्होंने नहीं बताया तो मै क्यों बताऊँ कि आनन्दा जिया को कल शाम से बुखार आया है।

दद्दा : नहीं 'बेबी', तुम्हें बता देना था अरविंद को। वह बड़ा परेशान होगा।

सुधीर : दद्दा जी, मैं क्यों बताऊँ ! और यह कोई एक दिन की बात तो है नहीं। अरे मेरी आनन्दा जिया को अक्सर शाम को 'टेम्प्रेचर' हो आता है, सुबह फिर ठीक हो जाती हैं। कहती हैं, 'दिस इज़ माई नार्मल लाइफ।' दद्दा, एक बीड़ी मुझे भी !

दद्दा : (देते हुये) लेकिन मैं इस समय वहीं से आ रहा हूँ...टहलते-टहलते चला गया था। आनन्दा को इस समय भी टेम्प्रेचर है...'नाइन्टीनाइन प्वाइंट सेविन'।

सुधीर : (बीड़ी दाब कर) अरे दद्दा जी, यह सब तो यूं ही है, आप फिकर मत कीजिये। बड़ी 'डिलचस' बीड़ी है दद्दा जी ! कहाँ से मँगाते हैं ? क्या नाम है ?

दद्दा : (अपनी ही बात में) तुम अभी लड़के हो, तुम्हें क्या पता !

सुधीर : दद्दा जी, मैंने एक मुर्गाबी पाल रखी है, दिखाऊँगा किसी दिन आपको। मैं उसका जोड़ा लगाने वाला हूँ...आजकल मैं जाल लगवाऊँगा झील में; फिर देखियेगा मुर्गाबी डांस ! मैं उनके लिये एक शीशे का बक्स बनवाऊँगा।

दद्दा : बिल्कुल बच्चे हो तुम। अजी, मुर्गाबी शिकार की चीज है, और शिकार खाने की चीज़। और तुमने उसे पाल रखा है। 'अननेचुरल', 'इनह्युमन'।

[इसी क्षण किसी पक्षी की आवाज़ सुनायी पड़ती है, सुधीर अपना 'बाइनाक्यूलर' लेकर भागता है।]

सुधीर : (जाते जाते) दद्दा जी, मैं अभी आया। किसी पहाड़ी चिड़िया की आवाज़ आयी है।

[प्रस्थान; क्षण भर बाद अरविंद का प्रवेश]

अरविंद : सुधीर कहाँ गया ?

दद्दा : अभी-अभी अपना 'बाइनाक्यूलर' लिये भागा गया है।

अरविंद : इसे तो मिलिट्री में होना चाहिये था। डाक्टर पापा के घर में यह...।

दद्दा : (बीच ही में) शायद आपको पता नहीं, आनन्दा जी की तबीयत खराब है।

अरविंद : क्या हुआ ? सुधीर ने नहीं बताया ? और अभी थोड़ी देर की तो बात है, आनन्दा जी ने स्वयं मुझसे बातें की हैं ! पर कहीं से कोई पता नहीं कि वह बीमार हैं।...आपको कैसे पता ?

दद्दा : मैं वहीं से आ रहा हूँ। डाक्टर साहब ने बताया कि कल शाम जब आप आनन्दा जी को घर छोड़ कर यहाँ आये, वह बाहर लॉन में ही लेटी रहीं। डाक्टर पापा ने कहा, उनकी 'मदर' ने समझाया, पर वह लॉन से हटी ही नहीं, पता नहीं कितनी रात तक वहीं लेटी रहीं, और जब डाक्टर साहब ने देखा तो लाड़ली बेटी को तेज़ बुखार।

[पृष्ठभूमि में बंदूक का फायर]

अरविंद : (बिगड़ कर) यह क्या ? मेरे अहाते में बंदूक का कैसा फायर ? (पुकार कर) गंगाराम। गंगाराम। (गंगाराम का प्रवेश) देखो कौन है बंदूक चलाने वाला ? पकड़ लाओ ! ये हिंसक ! अमानुष !

[गंगाराम जाता है।]

दद्दा : सुधीर तो 'बाइनाक्यूलर' लेकर गया है। सड़क पर तो कई लोग दिखाई पड़ रहे हैं।

[दोनों खड़े होकर उसी दिशा में देखते हैं।]

अरविंद : मैं देखना चाहता हूँ वह कौन है, जिसने इतनी हिम्मत की। मैं तब तक डाक्टर पापा के यहाँ टेलीफोन तो कर लूँ। (नम्बर

मिलाकर) जी, मैं अरविंद बोल रहा हूँ।...आनन्दा जी को क्या हो गया? कैसी हैं वे?...जरा टेलीफोन उन्हीं को दे दीजिये। धन्यवाद। (विराम) मैं बहुत नाराज़ हूँ आपसे। यह क्या तमाशा है! कल रात से ही बुखार है आपको।...झूठ...सब झूठ कहेंगे? मैं अभी दद्दा जी को टेलीफोन दे दूँगा।...जी बिल्कुल सामने खड़े हैं। यह क्या बचपना है!

दद्दा : क्या कह रही हैं?

अरविंद : (फोन से अलग) कह रही हैं 'मुझे कुछ नहीं हुआ है। मैं कार से अभी आती हूँ।'

अरविंद : (फोन पर) नहीं-नहीं, आप मत आइये! मैं आ रहा हूँ।... बस...बस आप आराम कीजिये।...आप क्यों आयेंगी!... अच्छा, देखता हूँ कौन कहाँ पहुँचता है!

[टेलीफोन रख देते हैं। उसी बीच गंगाराम के संग सुधीर आता है।]

अरविंद : क्या है? किसने फायर किया?

सुधीर : मैंने, सुधीर, बेबी ने।

गंगाराम : दद्दा जी, चलिये आप नाश्ता कर लीजिये। आज तो दवा भी नहीं पी आपने!'

[गंगाराम के संग दद्दा जी का प्रस्थान]

सुधीर : अहा! बड़ी सुन्दर चिड़िया थी, लेकिन बेचारी एक ही छर्रे में मर गयी, जमीन पर गिरकर जरा देर छटपटायी भी नहीं।

अरविंद : तुम्हें पता है, मेरे अहाते में कोई बन्दूक नहीं चला सकता।

सुधीर : मैं तो यह नहीं जानता था, पर शायद उन्हें यह पता था जिनके हाथ में बन्दूक थी। मेरे पास तो केवल अपना 'बाइनाक्यूलर' था। इत्तफाक से मैं वही चिड़िया देख रहा था, जिसे वे देख रही थीं, पर उनके अब्बाजान बन्दूक चलाने से मजबूर थे। सच, वे आपको डर रहे थे।

अरविंद : फिर आपने बन्दूक लेकर चला दी?

सुधीर : क्या करता! शिकार, शिकारी और बन्दूक! जब सब एक प्वाइन्ट पर थे तो क्या करता!

अरविंद : ओहो ! तो यही पिकनिक थी आपकी । मिस खान आपके कालेज में पढ़ती हैं न ! मुझे पता है ?

सुधीर : तो इससे क्या ?

अरविंद : तभी मैं कहूँ, यह हज़रत साढ़े आठ बजे दिन तक सोने वाले सुबह ही सुबह यहाँ कैसे !

सुधीर : अच्छा, अरविंद दा मैं चला । (कैमरा उठाकर) नमस्ते ।

अरविंद : जरा रुकिये तो। क्यों साहब, आपकी आनन्दा जिया की तबीयत खराब, और आपने कोई खबर न दी ।

सुधीर : कौन कहाँ बीमार है, यह मैं क्या जानूँ और क्यों जानूँ ! जब आनन्दा जिया आपसे खुद नहीं बताती तो खामख़्वाह और कहने वाले लोग झूठ हैं ।

अरविंद : अच्छा, नाश्ता करके जाना । मैं अपने सँग ले चलूँगा तुम्हें ।

सुधीर : जी धन्यवाद । आज मैं जरा पिकनिक के मूड में हूँ । (चलते-चलते) नमस्ते । टा...टा...!

[सुधीर का प्रस्थान, अरविंद की दृष्टि सहसा 'कैक्टसपाट्स' की ओर जाती है ।]

अरविंद : (कड़े स्वर में) गंगाराम ! गंगाराम !

गंगाराम : (आकर) जी हुजूर !

अरविंद : यह देखो क्या है ? जरा अक़ल से देखो...ये 'कैक्टस' आपस में मिल कैसे गये ? कैसे यह हुआ ? यह क्या हो गया ?

गंगाराम : सुधीर बाबू ने मिला दिया, यहीं उन्होंने अपना कैमरा वगैरह रखा था ।

अरविंद : और तुम यहाँ किस लिये हो ? तुम जानते हो, इसीलिये मैं यहाँ अपने चपरासियों को नहीं आने देता, महज़ तुम पर विश्वास करता हूँ मैं ?

[गंगाराम पाट्स को अलग-अलग रखता है ।]

अरविंद : तुम्हें मैंने बताया नहीं था कि इन तीनों 'कैक्टस' में यह बीच का कैक्टस 'मादा कैक्टस' है । मैंने कितनी बार तुम्हें सावधान किया कि इस 'मादा कैक्टस' को नर 'पौधों' से जरा दूर रखा करो । देखो इसका नाम भी मैंने हिन्दी में लिख दिया है...और पहचान के लिये यह लाल निशान भी बना दिया

है। पर तुम्हारी अकल तो कभी-कभी मारी जाती है न।
(रुक कर) खबरदार ! निगाह रखो इन पर, ये कैक्टस आपस में मिलने न पायें। इस 'मादा कैक्टस' ने मेरे पाँच उम्दा 'कैक्टस' को सुखा डाला। पता है न !

गंगाराम : साहब, पर जब यह इतनी खतरनाक है तो इसे आप रखते ही क्यों हैं ? ऐसी चीज तो रखना ही नहीं चाहिये।

अरविंद : तुम क्या समझोगे ? तभी तो यह इतनी अमूल्य है। बिना इसके मैं एक क्षण नहीं रह सकता। इससे प्रेरणा लेकर तो मैंने अमूल्य चित्र बनाये हैं। और अभी न जाने कितने अपूर्व चित्र बनाऊँगा। (उठा लेता है) देखो, कितनी सुन्दर है। दुनियाँ का कोई फूल-पौदा इसका मुकाबिला नहीं कर सकता ! 'वंडरफुल !,

गंगाराम : पर इसमें काँटे बहुत हैं साहब !

अरविंद : वह तो महज् अपनी रक्षा के लिये है। सारा सौन्दर्य और रस तो इसके भीतर है। 'रियली डिवाइन'।

[दद्दा जी का एकाएक प्रवेश]

दद्दा : (प्रवेश करते ही) पर आप तो कहते थे कि 'कैक्टस' को सुखाने वाली कोई चीज ही नहीं होती। कई मूर्तियाँ और चित्र भी बनाया है आपने इनका।

अरविंद : जी, नये इंसान का प्रतीक है यह 'कैक्टस'। आज की विरोधी से विरोधी स्थितियों में भी यह हरा रहता है। कोई जानवर नहीं, कोई कीड़ा नहीं, कोई बीमारी नहीं, कोई दुश्मन नहीं, जो इसे सुखा सके। (रुक कर) मार्क्स और अरविंद का समन्वय है इस पौदे में। बाहर काँटे, भीतर रस।

दद्दा : (हँस पड़ते हैं) क्या खूब ! तो अरविंद कैक्टस है ? अरविंद और कैक्टस ? वाह...वाह ! पर ये कैक्टस, बहादुर फिलासफर पौदे केवल एक ही कारण से सूखते हैं...वह भी 'मादा कैक्टस' के सम्पर्क मात्र से। (हँसते-हँसते) एक छुई मुई का पौदा सुना था...वाह ! वाह !

अरविंद : आप लोगों की जिन्दगी केवल सुन सुनाकर और सोकर ही तो कटी है; और हमारी जिन्दगी...।

दद्दा : आपकी जिन्दगी !...आप...और जिन्दगी ! (रुक कर) जिन्दगी का रूप यह नहीं होता। वह तो बहुत पीछे छूट गयी !

अरविंद : जहाँ आप लोग हैं ! और थे।

दद्दा : (बीड़ी दागते हैं)

[उसी समय पृष्ठ भूमि में कोई कार आकर रुकती है।]

अरविंद : (मादा कैक्टस को 'बेस' पर रखकर, उत्साह में) आनन्दा !... आनन्दा जी। (बाहर निकल जाते हैं।)

दद्दा : (उसी ओर देखते हुये) आ जाओ...आ जाओ। यहीं आ जाओ बेटी। इत्मीनान रखो मैं चला जाऊँगा यहाँ से।

[अरविंद के सँग हँसती हुई आनन्दा का प्रवेश।]

दद्दा : (जैसे आनन्दविभोर हो) आ हा...हा। क्या जोड़ी रची है ईश्वर ने ! पता नहीं मेरा जीना कब सुफल होगा। आ जाओ, इधर बैठो बेटी !...क्यों जी, अब तबियत ठीक हो गयी आपकी ?

आनन्दा : दद्दा जी। मैं बीमार ही कहाँ थी ! (खाँसी आ जाती है।)

दद्दा : अच्छा जी, ओह ओ ! खाँसी तो आ रही है ! इसे क्यों नहीं छिपातीं ?

आनन्दा : जाड़ों के दिन हैं, खाँसी तो यूँ ही आ जाती है। देखिये न, मैं बिल्कुल नार्मल हूँ ! देखिये...! हाथ देखिये न दद्दा जी !

दद्दा : ओ गंगाराम, जरा थर्मामीटर तो लाना। कुछ ठंड तो ज़रूर लग गयी है, 'इक्सपोजर' है।

आनन्दा : (हँस पड़ती है) दद्दा जी आप भी ! मुझे कैसा 'इक्सपोज़र।' इतना तो लादे हूँ, ब्लाउज, सुएटर, यह शाल !...देखिये न मेरा हाथ। क्या मैं बीमार लगती हूँ ?

[हलकी खाँसी]

दद्दा : बीमार लगें तेरे दुश्मन। बेटी, तुम्हारी क़ीमत मैं जानता हूँ।...आज एक हफ्ता हुआ, जब से मैं यहाँ आया हूँ रोज स्वप्न देखता हूँ...बेला चमेली के फूल खिले हैं, शंख बज रहे हैं, कहीं मंडप में गा-गाकर मंत्र पढ़ा जा रहा है...सोने से मढ़ी हुई शहनाइयाँ बज रही हैं।

[अकेली आनन्दा हँसती जा रही है। दद्दा जी की बात ज्यों ही खत्म होती है, इसी समय गंगाराम थर्मामीटर लिये आता है।]

गंगाराम : दद्दा जी, यह लीजिये थर्मामीटर ।

अरविंद : गंगाराम ! तू भी बड़ा मूर्ख है, बात नहीं समझता ।

दद्दा : यानी मूर्ख तो मैं हूँ ।

[सब एक साथ हँसते हैं ।]

दद्दा : लो मुँह में डालो थर्मामीटर ।

आनन्दा : दद्दा जी, मुझे हँसी आ रही है। आप मज़ाक कर रहे हैं मेरा ।

[मुँह में रखती है]

दद्दा : कोई बात नहीं । बदले में आप दोनों मिलकर मेरा मज़ाक कर लीजियेगा । ठीक...। बेटी, तुम्हारे डाक्टर पापा युनिवर्सिटी के प्रोफेसर थे, पर तुम्हारे लिये केवल पापा थे,...तुम्हारे लिये डाक्टर मैं हूँ ।

अरविंद : होमियोपैथी ही सही ।

[कुछ क्षणों बाद थर्मामीटर लेकर दद्दा जी देखने लगते हैं ।]

आनन्दा : थर्मामीटर की क्या रीडिंग है दद्दा जी । (खाँसी)

दद्दा : देखने तो दो...अरे। यह नार्मल कैसे है । अरे···अरे !!

आनन्दा : (हँसती हुई) हार गये न !

दद्दा : लगता है तुमने ठीक से लगाया नहीं ।

अरविंद : क्यों, क्या यह ज़रूरी है कि इन्हें टेम्प्रेचर हो ही ।

दद्दा : (दुख से) ओह ओ । कैसी अशुभ बात करते हैं आप, टेम्प्रेचर आप दोनों के दुश्मनों को हो । बेटी, अभी मैं काफी भिजवाता हूँ तुम्हारे लिये । तब तक आप दोनों मेरा मजाक कीजिये (हँसी) आओ गंगाराम...चलो । (भीतर जाकर वापस) देखो, चुपके से न चली जाना हाँ । (प्रस्थान)

[अरविंद और आनन्दा की मीठी, स्नेहसिक्त हँसी]

आनन्दा : लगता है कि हम लोगों के संग ये कैक्टस भी हँस रहे हैं । (उठा लेती है) कितनी प्यारी है यह 'मादा कैक्टस', रियली ब्युटीफुल !

अरविंद : तो आप केवल अपनी प्रशंसा करेंगी ?

आनन्दा : नहीं सच, जी होता है कि इसे कपड़े पहनाऊँ—साड़ी-ब्लाउज़, लहँगा, दुपट्टा-ओढ़नी । कितनी प्यारी गुड़िया लगेगी तब यह ।

अरविंद : पर काँटे कहाँ जायेंगे ?

आनन्दा : इसकी रूपसज्जा में ढँक दूँगी।

अरविंद : सच, कितनी कला होती है आप लोगों में ! (रुककर) एक बात बताइये, मेरे फादर आपको कैसे लगते हैं ?

आनन्दा : बड़े स्वीट है दद्दा जी। (खाँसी)

अरविंद : लेकिन बड़े ही पिछड़े ख़्यालात के हैं। फ्यूडल टेम्परामेंट के लोग हैं, अँग्रेज़ी हुकूमत के दावेदार। इस नये ज़माने के लिये ये लोग 'फिटइन' नहीं करते। हर चीज, हर नाता...रिश्ता उसी पुराने पैमाने से देखते हैं...।

आनन्दा : (बीच में ही) पर हैं स्वीट दद्दा जी !

अरविंद : (रुककर) पर दुख तो इस बात का है कि नयी चीजों को ये लोग समझ ही नहीं पाते, मान्यता क्या देंगे।...हटाओ इन बातों को। तो आपकी तबीयत सचमुच खराब थी, आपने खूब छिपा लिया। अब मुझ से सही सही बताइये, बुखार था न !...क्यों ?

आनन्दा : अब आप भी दद्दा जी हो जायेंगे ! (हल्की खाँसी)

[दोनों हँसते हैं। सहसा पृष्ठभूमि में संगीत के साथ, एक मोटी तेज आवाज़ फिर शेष बच्चों के सम्मिलित स्वरों में समवेत गान उभरता है। आनन्दा और अरविंद की कुछ अस्पष्ट बातें, और कभी कभी स्पष्ट हँसी इस गान के बीच बीच में उभरती डूबती रहेगी।]

'दयालू नाम है तेरा पिता अब तो दया कीजे।
हरी सब तुम को कहते हैं हमारे दुःख हर लीजे॥
बहुत भटका फिरा दर दर शरण तज है पिता तेरी।
पकड़ कर हाथ अब तो दुख सागर से छुड़ा दीजे॥

अरविंद : (झुँझला उठता है) गंगाराम। गंगाराम।

गंगाराम : जी सरकार।

अरविंद : देखो यह क्या तमाशा है। कौन हैं ये लोग ?

[गंगाराम बाहर जाता है, समवेत गान अबाध गति से चल रहा है।]

'तुम्हीं माता पिता सबके तुम्हीं हो नाथ धन विद्या।
शरण आये पड़े हैं नाथ अब हम पर कृपा कीजे॥'

[एकाएक गीत थम जाता है, कुछ क्षणों भर बाद गंगाराम लौटता है।]

अरविंद : क्या है ?

गंगाराम : जी......वो अनाथालय वाले बच्चे हैं।

अरविंद : कैसे आये यहाँ ? बँगले का फाटक बन्द नहीं रखते क्या तुम ?

आनन्दा : मैं जो अभी आयी हूँ।

अरविंद : ओ......आई सी......। (दोनों की हँसी)

अरविंद : देखो, उन्हें जाकर एक रुपया दे दो...पर समझा दो उन्हें, आइन्दा वे यहाँ कभी न आयें। यह एक नया तमाशा हुआ।...अजीब लोग हैं...।

[गंगाराम भीतर जाकर, फिर बाहर जाता है।]

अरविंद : समझा देना उन्हें। वह उनके आने की जगह नहीं ! (रुककर आनन्दाजी से स्नेह स्वर में) तो आप जीत गयीं। अर्थात् मैं जीत गया।

आनन्दा : कैसी जीत ?

अरविंद : टेलीफोन पर मेरी आपकी बात हुई थी न !...मैंने जरा भी विश्वास नहीं किया था कि आप पहले यहाँ आ जायेंगी और इतनी जल्दी।

आनन्दा : आप ने सोचा होगा कि मैं तो पलंग पर पड़ी होऊँगी।

अरविंद : नहीं नहीं, मुझे तो पूरा विश्वास था कि आप बिल्कुल ठीक हैं। और देर तो मुझे सुधीर की वजह से हो गयी। बड़ा अजीब है सुधीर !

आनन्दा : कहाँ गया सुधीर यहाँ से ?

अरविंद : पता नहीं। पर था आज बड़ी मस्ती में। चौराहे के बगल वाले बंगले में जो मिस्टर खान रहते हैं...इंजीनियर, उनकी लड़की के लिये उसने बात-बात में एक चिड़िया की हत्या कर दी।

आनन्दा : मुझे सब पता है, बड़ा ही वह तूफानी है। आज इतवार है न, अब वह पिक्चर गया होगा।...और मिस खान के संग गया होगा। (रुककर) उन्हीं के कार से कई दिन मिस खान को अपने घर ले आया था, पर किसी से मिलाया तक नहीं। इस तरह 'पज़ेस' करने की आदत है उसमें कि...।

अरविंद : अर्थात् बहुत जल्द दोनों की शादी तै हो जायगी।

आनन्दा : कोई ताज्जुब नहीं।

[दोनों हँस पड़ते हैं।]

अरविंद : तो अगले इतवार से हमारे आर्ट कालेज की 'इक्जबीशन' शुरू हो रही है। आपके चित्र 'माउंट' होकर आ गये हैं कालेज में।

आनन्दा : इतनी बड़ी 'इक्ज़बीशन' में मेरे चित्र...! (हल्की खाँसी)

अरविंद : जी, आपके चित्र बीचों बीच में होंगे...बिल्कुल 'आर्ट गेलरी' में। क्या समझती हैं आप अपने चित्रों को। उन्हें तो मैं जानता हूँ !

आनन्दा : मेरे सारे चित्र रखियेगा आप ?

अरविंद : कुल आठ ही तो हैं। (रुककर) मैं तो बहुत चाह रहा हूँ कि तब तक दो-एक चित्र आप और बना डालिये।

आनन्दा : यह नहीं होगा मुझसे। आई फील टायर्ड !

अरविंद : अरे ! आप तो मुझे इतना उत्साह देती रही हैं !

आनन्दा : लेकिन इधर पता नहीं क्यों, जी नहीं हो रहा है।

अरविंद : अच्छा, कल से आप मेरे संग बैठियेगा...(उठकर) अभी तो 'इक्ज़बीशन' के पूरे छः दिन मिलने हैं इस बीच में मैं कम से कम पाँच चित्र बनाऊँगा, इतना प्रेरित और उत्साहित हूँ मैं कि...।

आनन्दा : (उठकर) आपकी कला में अनुपम शक्ति है। हजारों लोग तो आपको ही देखने आयेंगे।

अरविंद : अर्थात् मेरे चित्र अनदेखे रह जायेंगे।

आनन्दा : (मुस्करा पड़ती है) देखिये अब मैं जाऊँगी।

दद्दा : (एकाएक प्रवेशकर) हाँ, क्यों नहीं, चुपके से तो जाना ही चाहिये। नये 'वैल्यूज़' में यह भी एक 'वैल्यू' है। (पुकार कर) गंगाराम। कहाँ रह गया। काफ़ी ठंडी हुई तो...।

गंगाराम : ले आया हुजूर !

[ट्रे में काफी लिये आता है।]

आनन्दा : दो ही कप क्यों ? दद्दाजी, आप नहीं पियेंगे क्या ?

दद्दा : बेटी, मैं ज्यादा से ज्यादा चाय के [illegible] हूँ।

आनन्दा : (पीती हुई) फिर इतनी अच्छी काफ़ी कैसे बना लेते हैं !

दद्दा : सीखा है, ताकि आप सब का साथ दे सकूँ। (दोनों हँस पड़ते हैं) बेटी, जब तुम मेरे घर रहने लगोगी न, मैं तुम दोनों को सदा अपने हाथ की बनी काफी पिलाऊँगा।

अरविंद : (एकाएक प्याला रख कर) इसके अलावा आप कोई और बात नहीं कर सकते क्या ?

दद्दा : (मुँह देखते रह जाते हैं।)

अरविंद : आनन्दा जी, आप चलिये, मैं अभी आता हूँ।

[काफी समाप्त करने लगती है सब चुप]

आनन्दा : (उठती हुई) अच्छा दद्दा जी, मैं चलूँगी, नमस्ते।

दद्दा : नमस्ते बेटी। (आनन्दा को विदा देते हैं, अरविंद भीतर जाते हैं) फिर आओगी न। आना जरूर, और क्षमा भी करना, हाँ।...अच्छा नमस्ते।

[कुछ क्षण बाद पृष्ठभूमि में कार स्टार्ट होकर चली जाती है, दद्दा जी अपमानित से चुप खड़े देखते रह जाते हैं। गंगाराम आता है।]

गंगाराम : दद्दा जी! दद्दा जी! आप बोल क्यों नहीं रहे हैं? (रुककर) वह खराब वाला थर्मामीटर था। अच्छा वाला तो यह है: (दिखाता है) मैंने अभी देखा।

दद्दा : दोनों थर्मामीटरों को तोड़ दो ले जाकर!

[गंगाराम भीतर लौटने लगता है।]

दद्दा : सुनो। मेरा सामान ठीक करो जाकर, मैं आज ही शाम को यहाँ से चला जाऊँगा। ऐसी जगह बसना मैं पाप समझता हूँ।

[सहसा अरविंद का भीतर से प्रवेश, छूट में गंगाराम भीतर, चला जाता है।]

अरविंद : (आते-आते) पर जिसे आप पुण्य समझते हैं वह मेरे जीवन को चुका देने वाला है! मैंने देखा है उसे! मैं गुज़र चुका हूँ उस रास्ते से।

दद्दा : मैं आपसे बहस नहीं करना चाहता। क्योंकि मुझे बोलना नहीं आता। आप कलाकार हैं, आपकी कलाकृतियों पर कलापारखी न्योछावर है। आप इतने बड़े आर्ट कालेज के प्रिन्सिपल हैं, मैं क्या बात करूँगा आपसे।

अरविंद : मैं भी नहीं कर सकूँगा।

दद्दा : फिर बात खत्म हुई। मुझे यहाँ आनन्दा के डाक्टर पापा ने इतना आग्रह करके बुलाया है, वरना मैं नहीं आता।

अरविंद : तो आप मुझसे बात कीजिये न। आनन्दा जी के सामने जो नाटक आप करते हैं, वह मुझे कतई पसन्द नहीं। वह आनन्दा जी को भी बुरा लगता है।

दद्दा : मैं नाटक करता हूँ। और दर्शक तुम हो? बोलो...या नाटक तुम करते हो और दर्शक मैं हूँ। बोलो बस, सारा जवाब मुझे इसी में मिल जायगा और मैं घर चला जाऊँगा। मैं समझूँगा कि मेरा यहाँ आना सफल हुआ।

अरविन्द : (जाते हुए) आपकी तरह मुझे इतनी फ़ुर्सत नहीं।

दद्दा : यह मैं मानता हूँ। पर मेरी बात सुनो।...बैठो...बैठ जाओ जरा।

अरविन्द : (कुर्सी पर बैठता हुआ) कहिये!

दद्दा : डाक्टर पापा बहुत परेशान हैं। आनन्दा बेटी का कुछ फैसला कर डालो।

अरविन्द : फैसला यानी विवाह।

दद्दा : जी हाँ।

अरविन्द : आप से मैंने कई बार कहा है...कि किसी स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में ब्याह से भी बड़ी कोई चीज होती है। उसके सामने ब्याह तो सहज एक बच्चों का घरौंदा है। और घरौंदा भी ऐसा जो बहुत पुराना हो चला है!

दद्दा : तो उस पुराने घरौंदे को मिटा कर कोई मजबूत चीज बना लो, नायाब और शानदार। पर बना लो जरूर, उसे मिटने न दो।

अरविन्द : मैं उसे तो बिलकुल ही मिटाना चाहता हूँ। मैं उस रास्ते पर चलकर देख आया हूँ, उसमें गति नहीं है, प्रेरणा नहीं है। सबसे बड़ी चीज है आपस की 'अन्डर स्टैन्डिंग' सिम्पेथी।

दद्दा : मैं इस बात को समझ नहीं पाता।

अरविन्द : आप उस बात को भी नहीं समझ सके थे, जब मैंने अपने ब्याह के चौथे वर्ष बाद मजबूर होकर सुजाता को छोड़ा था।

दद्दा : आप ठीक कहते हैं।

अरविन्द : (उठ खड़ा हो कर) फिर मैं विवाह नहीं करना चाहता। आपने

तीन विवाह किये थे। माँ के स्वर्गवास के तीन ही महीने बाद आप ने दूसरी शादी की थी, उसे हंटरों से मारते थे आप। फिर उसी के सीने पर आपने तीसरी भी शादी की। भाग्यवश एक एक कर वे दोनों मर गयीं।

दद्दा : (चुप हैं)

अरविंद : हम और आनन्दा एक दूसरे को बड़े भाग्य से मिले हैं। हम जीवन-पर्यन्त इसी भाँति आनन्द और प्रेरणा से एक दूसरे के संग रहेंगे। इसमें आप क्यों दुखी हैं, डाक्टर पापा क्यों इतने चिन्तित हैं, हम और आनन्दा जी, दोनों नहीं समझ पाते इस रहस्य को।

दद्दा : मुझे तो छोड़िये, पर डाक्टर पापा खूब समझते हैं, क्योंकि वे हिन्दू बाप हैं, इकलौती बेटी के।

अरविंद : आनन्दा जी युनिवर्सिटी में लेक्चरर हैं, सब दृष्टि से वह स्वतंत्र हैं। (रुक कर) और हम दोनों कोई बच्चे नहीं हैं जो आप लोग हमें शिक्षा दें, या रास्ता दिखायें। अपना भला-बुरा मालूम है।

दद्दा : तो आपको सारे सोशल स्ट्रक्चर पर विश्वास नहीं, सारे ट्रेडीशन को आपने तोड़ा। पुराने 'मॉरल वैल्यूज़' को आपने ठीकरा समझ लिया। फिर आपके पास क्या है, जिसके सहारे आप जियेंगे, और अपनी कला-कृतियाँ तैयार करेंगे?

अरविंद : 'कांशेन्स' है हमारे पास। कुछ और न हो, हमें परवाह नहीं।

दद्दा : जो स्त्री को मौत समझे, कहाँ का कांशेन्स है उसके पास, मैं जानना चाहता हूँ।

अरविंद : वह इतने ऊपर नहीं कि आप देख-समझ लें।

दद्दा : क्यों नहीं! वह बहुत भीतर छिपा होगा।

अरविंद : जी हाँ। बहुत भीतर, जैसे इन 'कैक्टस' में कहीं सौन्दर्य छिपा है, रस और शक्ति छिपी है।

दद्दा : ये 'कैक्टस'। (व्यंग्य की हँसी) बिना फूल के ये डरावने, बदशक्ल ठूँठ, बौने पौधे। प्यार से भी छुओ तो काँटों के जहरीले डंक मारने वाले। छी...छी...छी...।

अरविंद : आपके मन में घृणा है, द्वेष है, ईर्ष्या है।

दद्दा : पर कहीं विश्वास भी है।

अरविंद : वह अंधविश्वास है, जिसे आप विश्वास कहते हैं।

[अरविन्द जाने लगता है।]

दद्दा : ठीक है, जाओ...। तुम्हारा रास्ता तुम्हें प्रकाश दे।

[अरविन्द अदृश्य हो जाते हैं, दृश्य में अकेले दद्दा जी रह जाते हैं।]

दद्दा : (जैसे अरविंद से कह रहे हैं) अरविंद। जिस सुजाता को तूने उस तरह अपमानित करके त्यागा था वही सुजाता चारों ओर है। हर स्त्री वही सुजाता है। सुजाता! सुजाता! मत या आओ तुम! मत या आओ सुजाता! सुजाता!

[बढ़ते-बढ़ते आगे, बिल्कुल दायें किनारे पर पहुँच जाते हैं, दायें हाथ में दोनों आँखें भिंच गयी हैं। मंच का प्रकाश धीरे-धीरे ख़त्म हो जाता है, और क्षण भर बाद जब फिर प्रकाश लौटता है, तो फिर वही आसमानी पर्दा दीख पड़ता है। हल्का वाद्य संगीत, धीरे-धीरे उभरता हुआ ऊँचा, फिर गहरा होने लगता है, और सबसे ऊँचे उठकर सहसा टूट जाता है।

तभी बायीं ओर से अरविंद का प्रवेश, कुर्ता पैजामा पहने हैं, हाथ में एक अधूरा चित्र और ब्रश है।]

अरविंद : (प्रवेश करते ही) सुजाता! ..सुजाता!

सुजाता : जी आयी...(प्रवेश कर) क्या है?

अरविंद : मेरा स्टैन्ड यहीं ला दो। मैं वहाँ अपने कमरे में बैठकर कोई चित्र नहीं पूरा कर सकता?

सुजाता : और क्या ला दूँ? बोलिये...।

अरविंद : मुझसे पूछती हो 'और क्या ला दूँ!' तुम्हें खुद मालूम होना चाहिये मुझे क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये। तुम्हें मेरे पूरे मन को जानना चाहिये।

सुजाता : आपकी बाहरी आवश्यकताओं को तो मैं जान लेती हूँ, पर आपके मन को नहीं जान पाती, क्या करूँ, प्रयत्न तो करती रहती हूँ।

अरविंद : यही तो मेरा दुर्भाग्य है, क्यों नहीं तुम मेरे मन को जान पाती ?

सुजाता : आपका मन तो आपके चित्रों में रहता है।

अरविंद : फिर मेरे चित्रों से ही मेरे अन्तस् के भावों को क्यों नहीं जान लेती ?

सुजाता : (चुप है)

अरविंद : बोलो, चुप क्यों हो गयीं ? डरो नहीं, खुलकर कह दो कि आपके सारे चित्र अधूरे हैं, मैं कैसे जानूँ उनके भावों को।

[सुजाता सिर झुकाये वापस चली जाती है।]

अरविंद : भाग गयीं न तुम ! मुझे पता है तुम मन ही मन में कुढ़ती हो, तभी मेरे मुँह पर नहीं बोलती। घर-गृहस्थी में इसका एक भयानक परिणाम होता है, और उसका शिकार मैं हो रहा हूँ।

[सुजाता स्टैन्ड लिये आती है।]

सुजाता : यह स्टैन्ड किधर...कहाँ लगा दूँ ?

अरविंद : लाओ इधर लाओ...।

[सुजाता संकेतानुसार रखने लगती है।]

सुजाता : देखिये ठीक है न !

अरविंद : कभी तुमने ठीक लगाया भी है। ऐसा खड़ा किया है कि हवा लगते ही यह गिर जाय। (रुककर) हर चीज़ का संस्कार होता है, एक सहज रुचि होती है, जो इन्सान को काम में लगाती है।

सुजाता : मेरे संस्कार में घर-गृहस्थी है।

अरविंद : और रुचि चौका-बर्तन करने की। यही न। ठीक...खुश हो गयी न।

सुजाता : यहाँ तो बहुत ठंड है, कैसे आप काम करेंगे !

अरविंद : पता नहीं।

सुजाता : रुकिये, मैं अँगीठी ला देती हूँ।

[प्रस्थान]

अरविंद : (तेज स्वर में) कुछ मत लाओ सुजाता। बस, मुझे यहाँ अकेले छोड़ दो।...सुनो तो...मेरी बात सुन लो, अँगीठी पर हाथ मत लगाओ। (सुजाता आती है)

सुजाता : क्या है ?

अरविंद : सुनो। मैं चाहता हूँ कि मुझे यह महसूस हो कि इस घर में मैं उतनी देर तक बिल्कुल अकेला हूँ जब तक मैं यहाँ यह चित्र पूरा करता हूँ।

सुजाता : अर्थात् इस घर में मेरी उपस्थिति आपकी कला में बाधक है।

अरविंद : नहीं...नहीं...ऐसी बात तो नहीं। पर न जाने क्यों मेरा मन कैसा होता चला जा रहा है। जैसे मेरी कला धीरे-धीरे मुझसे दूर भाग रही है।

सुजाता : नहीं, ऐसा नहीं होगा। मैं देख रही हूँ, आप परेशान रहते हैं। मैं तो कहती हूँ, जो आपको निष्क्रियता दे, उदास करे आपको, उसे आप निःसंकोच त्याग दीजिये।

अरविंद : लेकिन त्याग कैसे दूँ। जो जीवन के अंग बन गये हैं, उन्हें क्या करूँ।

सुजाता : उनमें से आँख मूँद कर निकल जाइये, जैसे साँप अपने ही केंचुल के बीच से निकल जाता है।

अरविंद : तुम यह सब क्या कह रही हो सुजाता? किससे कह रही हो? क्यों कह रही हो यह सब? होश में तो हो? मतलब जानती हो, जो तुम बक रही हो?

सुजाता : जी बिल्कुल होश में हूँ मैं।

अरविंद : जो मुझसे कह रही हो, वह क्या है?

सुजाता : जानती हूँ! उसकी गति भी जानती हूँ।

अरविंद : तुम कभी-कभी कितनी ऊँची बात करने लगती हो। पर अब मैं कोई चित्र पूरा क्यों नहीं कर पाता? क्या बात है? यह मैं अपने में पिछले एक वर्ष से पा रहा हूँ। ऐसा तो पहले नहीं था। जिस चित्र को मैं सोचता था, उसका सम्पूर्ण सृजन कुछ ही घन्टों में हो जाता था। प्रेरणा, उत्साह के मारे मैं जैसे छलकता रहता था। बोलो, अब क्या हो गया मुझे?

सुजाता : (भरे कंठ से) आप अपना काम कीजिये।

(भीतर चली जाती है अरविन्द कुछ क्षणों तक चुप शून्य में देखता है, फिर स्टैन्ड पर अधूरे चित्र को लगा कर फिर उसे देखता ही रह जाता है, उसी समय बाहर से दादा जी का प्रवेश, गर्मशाला ओढ़े हुये)

दद्दा : (आते ही) क्यों अरविन्द ! अब तुम्हारे चित्र बनेंगे ! कहाँ इतने छिप कर भीतर बैठे बनाते थे, अब घर में से निकल कर बरामदे में आ गये ?

अरविंद : लगता है एक दिन सड़क पर चला जाऊँगा। क्या करूँ दद्दा समझ नहीं पड़ता, कोई चित्र पूरा करने बैठता हूँ तो जैसे कुछ सूझता ही नहीं। इतनी थकान और ऊब मालूम होने लगती है कि....।

दद्दा : कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दो इन चित्रों का बनाना। कहीं घूम आओ। किसी यात्रा पर चले जाओ, या बिल्कुल साधारण आदमी की तरह कुछ दिनों जी लो।

अरविंद : स्थगित कर दूँ कुछ दिनों के लिये, शायद आप ठीक कहते हैं, यह सब कुछ रोक दूँ कुछ दिनों के लिये। (रुक कर जैसे परिणाम निकालता है।) अर्थात् कुछ दिनों के लिये मर जाऊँ, क्यों दद्दा, क्या ख्याल है आपका ?

दद्दा : आज कैसी बात कर रहे हो तुम ?... चलो गर्म-गर्म चाय पियें, छोड़ो इसे। (बढ़ कर अरविन्द के कन्धे पर हाथ रख देते हैं) जिन्दगी से बड़ी और कोई कला नहीं है। स्नेह में जीना, दया और ममता में जीना, दूसरों को अपने संग लेकर जीना, यह बहुत बड़ी चीज़ है, सारी कलाओं से कहीं श्रेष्ठ !

अरविंद : ऐसी बात हर बाप अपने पुत्र से करता है, पर शायद आप मुझसे ऐसा नहीं कह सकते।

दद्दा : क्यों ?

अरविंद : क्योंकि जो आपने अभी मुझसे कहा है, वे शायद सब झूठ हैं जीवन में, महज उपदेश की बातें हैं।

दद्दा : नहीं तो।

अरविंद : आप स्वयं अपना जीवन देखिये.. मेरी माँ के स्वर्गवास के बाद आपने दो शादियाँ कीं, और सबके संग आपका क्या व्यवहार था...।

(उसी बीच बड़ी तेजी से सुजाता का प्रवेश)

सुजाता : (प्रवेश करते ही) नहीं नहीं ! बन्द कीजिये ये बातें। चाहे मैं हूँ चाहे मेरी माँ हों, या मेरी माँ की माँ हों, सारी स्त्री जाति को

मत खींचिये यहाँ। (कंठ रुँध जाता है) प्रश्न सहज मेरा है। सहज मेरा।

अरविंद : नहीं, मेरा भी है, और उसी में मेरी कला का भी प्रश्न है।

दद्दा : लेकिन बीच की इंसानियत का सबूत किसके माथे जायेगा?

अरविंद : जो इसका दावेदार होगा। (रुक कर) तो मुझे यहाँ से भी जाना पड़ेगा। शायद मेरे लिये वह स्थिति असम्भव है, जहाँ मैं जी सकूँगा।

[स्टैंड उठाने लगता है। सुजाता उसे सहायता देती है, अरविंद आवेश में उसे झिड़क देता है।]

अरविंद :

दद्दा : यह क्या कर रहे हो? कहाँ जा रहे हो?

अरविंद : पता नहीं। (अरविंद स्टैंड सहित भीतर चला जाता है।)

दद्दा : सुजाता बेटी। यह सब क्या है?

सुजाता : कला की पृष्ठभूमि। और मेरे माथे का घाव, जिसे मैं सदा सहेज कर रखूँगी।

[फफककर रो पड़ती है।]

दद्दा : रोओ नहीं बेटी।

सुजाता : मैं कभी नहीं रोती दद्दा। सच, स्त्रीत्व की सौगन्ध लेकर कह रही हूँ, मैं चुपचाप ऐसी अदृश्य हो जाती कि मुझे कोई न जान पाता। (स्वर सिसकियों में बह जाता है) लेकिन वे जो यह कहते हैं कि मेरा विवाह मेरी कला को खा रहा है....यह बड़ा भयानक है दद्दा।.... पत्नीत्व कलाकार को सुख देता है, यह कितना निर्मम है सोचना।

दद्दा : (परेशान हो पुकारने लगते हैं) अरविन्द! अरविन्द!! चलो मैं तुम्हें आवाज दे रहा हूँ।

सुजाता : (सिसकियों के बीच) मैं रोती नहीं, चुप रह लेती, लेकिन जैसे मेरी वजह से सारी व्याहता स्त्रियां....।

[आँचल में मुँह छिपा लेती है। दद्दा अरविन्द को आवाज देते रहते हैं, उसी समय मंच का सारा प्रकाश धुंधला होते हो खत्म हो जाता है। विलम्बित और करुण गति वाले संगीत के साथ जब प्रकाश लौटता है तब हम फिर वह मूल दृश्य पाते हैं—

[अरविन्द का बरामदा । बाहर से चिंतित अपमानित से दद्दा आते हैं, गंगाराम को बुलाते हैं, कुर्सी पर बैठ जाते हैं।]

दद्दा : एक गिलास पानी पिलाओ गंगाराम।

[दरवाजे से लौट जाता है]

दद्दा : गंगाराम जल्दी स लाओ।

गंगाराम : (पानी का गिलास देते हुये) आज आप बड़े चिन्तित लग रहे हैं दद्दा जी।

दद्दा : (पानी पीकर) मेरी एक सुजाता बेटी थी, तुम्हारे साहब की धर्मपत्नी, आज वह मुझे बेहद याद आ रही है, लग रहा है वह मेरे सामने सामने चल रही है। लगता है अभी-अभी वह आयी थी।

गंगाराम : अब वह कहां रहती हैं दद्दा जी ?

दद्दा : क्या बताऊँ गंगाराम, वह बहुत गहरा घाव है। (रुक कर) अब वह एक स्कूल में अध्यापिका है, पर कान की बहरी हो गयी है।

[टेलीफोन की घंटी बजती है।]

गंगाराम : (रिसीवर उठाता है) हलो...जी...सुधीर बाबू आज सुबह यहां आये थे, यहीं नाश्ता साढ़े नौ बजे के करीब। आज वे पिकनिक के मूड में थे।...आनन्दा बेटी यहां आयी थीं, वही कह रही थीं कि सुधीर बाबू कहीं पिक्चर देखने गये होंगे।...जी...अभी तो नहीं गये मेरे साहब, आप ही के यहां गये थे।...अच्छी बात है...जी...जी नमस्ते।

[रिसीवर रख देता है।]

दद्दा : किसका टेलीफोन था ?

गंगाराम : डाक्टर पाधा के घर का, रानी माँ बोल रही थीं। सुधीर बाबू को पूछ रही थीं, सुबह यहाँ आये थे न, अब बारह बज रहे हैं, अब तक घर नहीं पहुँचे।

दद्दा : साहब तुम्हारे कहीं हैं ?

गंगाराम : माँ ने बताया है, मेरे साहब रानी बेटी के संग कहीं गये हैं। अब तक नहीं लौटे हैं।

दद्दा : आनन्दा जब यहां आयी थी, उसे सच बुखार था।

गंगाराम : जी, तब दद्दा, बराबर मेरी गल्ती थी...मैंने भूल से खराब वाला थर्मामीटर आपको दे दिया था।

दद्दा : (बढ़ कर) और उसे खाँसी भी थी (रुक कर) गंगाराम ! आनन्दा बेटी, और सुजाता की कोई तुलना नहीं, कोई समानता नहीं, पर न जाने क्यों आनन्दा को देखकर मुझे मेरी सुजाता बेटी याद आती है, तभी आनन्दा मुझे इतनी प्रिय है। उसका बुखार भरा हाथ, जैसे अब भी मेरी मुट्ठी में है। (रुक कर सामने दायीं ओर बढ़कर) गंगाराम वह देख कौन आ रहा है ?... जल्दी देख !

गंगाराम : (बढ़कर) डाक्टर पापा हैं।

दद्दा : बेचारे पैदल आ रहे हैं। मुझसे जवाब माँगने आ रहे हैं। गंगाराम मैं अन्दर जाकर कहीं छिप जाना चाहता हूँ, तुम डाक्टर पापा से कहना कि दद्दा जी चले गये यहाँ से ! मैं उनसे आँख नही मिला सकता !

गंगाराम : नहीं दद्दा जी ! डाक्टर पापा जी बिल्कुल घबड़ा जायेंगे। बड़े कमजोर हैं दिल के।

दद्दा : घबड़ा तो मैं बहुत गया हूँ, पर मैं उस सत्य को कैसे कहूँगा डाक्टर पापा से, इतने ऊँचे ख्यालात के लोग इतने साफ दिल, इतने विश्वासी...! (बढ़कर स्वागत में) आइये, आइये डाक्टर साहब...।

[डाक्टर पापा का प्रवेश]

दद्दा : नमस्ते ! आइये...इधर आइये...।

डा०पापा : नमस्ते। जी, बहुत आराम है।

गंगाराम : नमस्ते साहब।

डा०पापा : नमस्ते।

[गंगाराम भीतर जाता है।]

दद्दा : गंगाराम भीतर जा रहे हो, चार बीड़े पान दे जाना।

डा०पापा : जी नहीं, बिल्कुल जरूरत नहीं। जब असली दाँत नहीं रहे, फिर क्या पान खाना। अब पान-सान कुछ नहीं खाता।

दद्दा : डाक्टर साहब, मैं भी बीड़ी पीने लगा हूँ। (बीड़ी सुलगाते हैं)

डा०पापा : आनन्दा और अरविंद अब तक नहीं लौटे। पता नहीं कहाँ चले जाते हैं। रात भर बुखार था उसको, खाँसी बढ़ी थी।

दद्दा : और कमाल देखिये, सुबह यहाँ आयी थी, कहने लगी, 'अब तो मैं बिल्कुल ठीक हूँ, बुखार कहाँ है ? 'लेकिन आँखें उसकी बुझी-बुझी थीं, खाँसी भी थी।

डा०पापा : बुखार सिर दर्द को तो यह कुछ समझती ही नहीं। कहती है, 'यह भी कोई बीमारी है, रात को सोकर काट लिया बुखार, सिर दर्द सुबह ठीक।'

दद्दा : बड़ी जीवन्त बेटी है।

डा०पापा : लेकिन मैं तो बुड्ढा हो रहा हूँ न !

दद्दा : मैं तो आपसे भी आगे हूँ।

डा०पापा : चार साल पहले आनन्दा और आज की आनन्दा की कोई तुलना नहीं, कोई पहचान नहीं सकता कि वही आनन्दा यह है। बिल्कुल सुर्ख़, तेजस्वी। अब तो बल्कि छोटी लगने लगी है, तब इससे ऊंची लगती थी।

दद्दा : जी, वह तो ज़ाहिर है। गंगाराम भी बता रहा था।

डा०पापा : अक्सर बुखार, तेज सिर दर्द, कमर और घुटनों में पीड़ा... लेकिन सबसे छिपाती है यह। अपने दुख-दर्द माँ तक को नहीं बताती...और अगर आप उसका कमरा देखिये, स्टडी रूम देखिये...तो बस किताबें ही किताबें, चित्र ही चित्र, तथा दवा की शीशियाँ और पैकेट।

दद्दा : जी, बेशक...बेशक।

डा० पापा : फर्स्ट क्लास फर्स्ट एम० ए०, युनिवर्सिटी में लेक्चरर, चित्र-कला, संगीतकला की पुजारिन...लेकिन स्वभाव में बिल्कुल बच्ची है...कुछ मना करो, कुछ सलाह दो, कहीं कोई कड़ी बात कह दो तो फिर बेतरह रूठ जायगी, रोयेगी, खाना-पीना छोड़ देगी।

दद्दा : जी उसी का तो यह सब परिणाम है।

डा०पापा : क्या बताऊँ कुछ समझ नहीं पाता। (रुककर) कुछ आपसे अरविंद से बातें हुईं ? क्या फैसला किया आप लोगों ने।

दद्दा : (आश्चर्य से) आप लोगों ने, जैसे मैं भी उसमें शामिल हूँ।

नहीं डाक्टर साहब इस समस्या से मैं अपने को बिल्कुल अलग पाता हूँ। यह तो आपके बुलाने से मैं यहाँ आया हूँ, वरना मैं यहाँ कभी नहीं आता। आज करीब छः साल हुये, जब इन्होंने अपनी पत्नी सुजाता को छोड़ा था, तब इन्होंने मुझसे अपनी सफाई देते हुये कहा था, 'दद्दा जी, जब से सुजाता से मेरा विवाह हुआ, तब से मुझे लग रहा था कि मैं रिक्त होता जा रहा हूँ, मेरी सारी प्रतिभा, रचनात्मक शक्ति क्षीण होती जा रही है।' डाक्टर साहब उसी दिन से मैं इस अरविंद से जैसे टूट गया और फिर कभी नहीं मिला इनसे। (रुक कर) वैसे डाक्टर साहब, मेरा यह लड़का हिन्दुस्तान में अकेला है। इसकी प्रतिभा और कला को लोग पूजते हैं।

डा०पापा : जी बेशक। इसे कौन नहीं जानता। मेरी आनन्दा बेटी कोई अज्ञानी लड़की नहीं। अपने ही अनुकूल उसने अरविंद को पाया। अब शुभ इसी में है कि जल्द से जल्द दोनों का विवाह हो जाय।

दद्दा : तब तो कहना ही क्या था! पर स्वर्ग शायद कल्पना में ही है।

डा०पापा : अब तक मैं कभी का पांडिचेरी चला गया होता, पर मन की एकमात्र यही लालसा शेष है कि आनन्दा के पाँव पूजूँ, अकेली यही लड़की है।

दद्दा : डाक्टर बाबू। (रुक कर एक ओर टहल कर) डाक्टर बाबू—कैसे कहूँ आपसे, बहुत बड़ा अपराधी अनुभव कर रहा हूँ अपने आप को।

डा०पापा : नहीं—कहिये—कहिये।

दद्दा : विवाह तो शायद अरविंद नहीं ही करेगा। वह कहता है 'विवाह एक पुरानी प्रथा थी, सरासर ढकोसला। हम और आनन्दा, इससे ऊपर उठकर रहेंगे, पर रहेंगे सदा एक संग।'

डा०पापा : अपने इसी व्यक्तित्व का प्रभाव अरविंद ने आनन्दा पर भी बुरी तरह डाल रखा है। वह भी कहती है 'कि क्या हम दोनों विवाह से ऊपर उठ कर सच्चे दोस्त और सहयोगी की तरह एक संग नहीं रह सकते।' (रुक कर) पर मैं इसे बिल्कुल नहीं मानता!

दद्दा : और मैं तो इसे सरासर झूठ समझता हूँ।

डा० पापा : तो फिर क्या होगा इसका परिणाम ? आपने क्या फैसला लिया ?

दद्दा : यही कि आज रात की गाड़ी से मैं निश्चय ही घर वापस चला जाऊँगा।

डा०पापा : (एकाएक भावावेश में) तब आज मैं आपसे इतना ही चाहूँगा कि अरविंद मेरी आनन्दा को छोड़ दें। मैं उनके पाँव पड़ता हूँ, वे मुक्ति दे दें मेरी बेटी को।

दद्दा : (अजीब हँसी बिखेर कर) छोड़ दें ! जैसे मर्ज मरीज़ को छोड़ता है। वे दोनों इतने पढ़े लिखे हैं, विवेकशील हैं, खूब आपस में एक दूसरे को दोनों ने समझा बूझा होगा, बहुत कुछ पाया खोया होगा—सो इतनी गहरी 'अंडरस्टैन्डिंग' से वे कैसे मुक्ति पा सकेंगे। कहाँ ले जायेंगे उसे ? (रुक कर) बहुत गहरे इस समस्या की जड़ पैठी हुई है, जिसे शायद कोई नहीं देख सकता। मात्र अनुभव केवल यही दोनों करते होंगे।

डा०पापा : पर मैं क्या करूँ, यही मैं नहीं सोच पाता।

दद्दा : मैं भी कुछ नहीं सोच सका। मैं बहुत लज्जित हूँ डाक्टर साहब।

डा०पापा : और मैं अपमानित हो रहा हूँ।

दद्दा : आप से कई गुना अपमानित मैं हुआ हूँ। और आप का अपमान मेरा ही अपमान है। वह मेरे ही सिर माथे है।

डा०पापा : फिर मैं जा रहा हूँ। (उठते हैं।)

दद्दा : कैसे कहूँ मैं। पान तो खाते जाइये— (पुकार) गंगाराम कहाँ रह गये तुम ?

गंगाराम : (प्लेट में पान लिये आता है) पुलिस थाने के चौराहे पर चला गया था पान लाने। बहुत मशहूर पान लगाता है।

दद्दा : (देते हुये) लीजिये डाक्टर साहब, मेरी खुशी के ही लिये लीजिये।

डा० पापा : नहीं जी, बहुत विवश हूँ। (जाते जाते) तो आज चले जायेंगे ?

दद्दा : जी !

डा० पापा : पर मैं कहाँ जाऊँगा, कुछ समझ नहीं पाता।...अच्छा नमस्ते...।

गंगाराम : नमस्ते सरकार।

[दद्दा चुप खड़े रह जाते हैं, उनकी ओर देखते हुये। हाथ से प्लेट गिर कर फूट जाती है।]

गंगाराम : (उठाता हुआ) दद्दा जी ! ... दद्दा जी ! ... अन्दर चलिये ...थोड़ी देर आराम कर लीजिये...चलिये... । मत देखिये उधर...।

[गंगाराम उन्हें लिये अन्दर चला जाता है। पृष्ठभूमि में कार की हार्न बजती है और कार रुकने की आवाज़, क्षण भर बाद अरविंद के संग आनन्दा का प्रवेश। आनन्दा के बालों में बेहतर फूल गुथे हैं, दोनों हाथों से अंक में फूलों के बड़े बड़े गुलदस्ते भरे हैं।]

अरविंद : बस, आओ इधर यूँ खड़ी हो जाओ...इसी तरह फूलों में डूबी हुई। मैं झट से स्केच कर लूँ।

[खड़े खड़े स्केच करने लगता है।]

आनन्दा : मेरे पाँव काँप रहे हैं, मैं इस तरह खड़ी नहीं रह सकूगी !... आह ... ! वह लड़खड़ा कर कुर्सी का सहारा ले लेती है [हाथ के सारे फूल गिर जाते हैं।]

अरविंद : अरे क्या हो गया ? उफ़ ! पानी ले आओ गंगाराम। तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं...! कोई बात नहीं, मैं स्केच तैयार कर लूँगा। इतवार को अपनी 'इक्जबीशन' है उस दिन के पेपर में तुम्हारी कला पर एक परिचय लिखूँगा, और मैं तुम्हारा चित्र भी छपने को दूँगा। चलो आराम करो !

आनन्दा : (जैसे जग कर) अयँ यह क्या है, आप कुछ कह रहे थे ?

अरविंद : नहीं तो (हंसकर गंगाराम के हाथ से पानी लेकर देते हुये) लो जरा सा पानी पीलो। (आनन्दा पानी पीती है) चलो किसी डाक्टर को दिखाऊंगा तुम्हें। क्या हो गया कुछ बताती नहीं तुम। बड़ी चुप्पी हो !

आनन्दा : (उठती हुई) जी नहीं, मुझे अब मेरे घर छोड़ दीजिये।

अरविंद : ये सारे गुलदस्ते तो ले लो। तबीयत बहली रहेगी। (रुककर) गंगाराम ! मैं अभी आया। [अरविंद सारे गुलदस्ते हाथ में लिये आनन्दा के संग बाहर जाने लगते ६ उसी समय भीतर से दद्दा जी दौड़े आते हैं]

दद्दा : रुको...रुको न बेटी...जरा टेम्प्रेचर ले लूं, नया थर्मामीटर है।
रुको...!
[वे दोनों रुक कर दद्दा की ओर देखते हैं, उसी पर तेजी से पर्दा गिरता है। बहुत घना और ऊंचा वाद्य संगीत]

दूसरा अंक

[वही दृश्य। वही वस्तुस्थिति, सुबह के साढ़े आठ बज रहे हैं। अन्तर इतना ही है —

'बेस पर तीन कैक्टस के स्थान पर अब केवल दो ही है, मादा कैक्टस नहीं है।

पर्दा उठने पर कुछ क्षण स्टेज सूना रहता है। उस सूनी स्थिति में नगारची पर नीलम वाला बाजा बजता रहता है, उसके बन्द होते ही दायीं ओर से जैसे दौड़ा हुआ सुधीर आता है..बिलकुल नये सूट-बूट में। टेबुल पर रखे हुए हिन्दी अंग्रेजी के अखबारों को उलट कर देखता है, फिर उसी तरह रख देता है।

सुधीर : (दरवाजे पर आवाज देता है) सुधीर दा। सुधीर दा। सुना है आप बाहर से आ गये। [बड़ी आवारा मस्ती से दायीं उंगली में कुंजी की चेन नचाते हुए उसी ताल पर गाने लगते हैं।]

हमारा एक्सीडेंट हो गया
हमारा स्वीट सेटिलमेन्ट हो गया
हमारा होम गवरमेन्ट हो गया
अजी,
हमारा इंगेजमेन्ट हो गया
हमारा ऐक्सीडेन्ट हो गया ॥

[उसी समय गाऊन पहने भीतर से अरविंद का प्रवेश]

अरविंद : (आते आते) नमस्ते...नमस्ते...क्या बात है। आज तो बिल्कुल एक्सीडेंट के गीत गा रहे हैं आप। बात क्या है ? सब शुभ है न !

सुधीर : शुभ क्यों न हो अरविंद दा। आज मैं शायराने मूड में हूँ। अभी-अभी मेरा पहला गीत बना है 'वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान' यह गलत है, 'सोल्जर होगा पहला कवि, धाँय से निकला होगा गान।'

(अखबार उठाकर देखता है) लीजिये अखबार, लोकल न्यूज़ देखिए

[जब तक अरविंद अखबार देखते हैं उस बीच सुधीर फिर गुन-गुनाने लगता है:

हमारा स्वीट सेटिलमेन्ट हो गया]

अरविंद : ओफ ओ। 'कौंग्रेचुलेशन्स !' तो यह खबर है आज...मिस खान से मिस्टर सुधीर का इंगेजमेंट हो गया। ओफ ओ ! बड़े हीरो आदमी हो तुम तो। मान गया भाई। बिल्कुल मान गया। (आवाज देते हैं) गंगाराम। अरे ला जल्दी अपने बेबी साहब का मुंह तो मीठा करा।

सुधीर : अब बेबी नहीं। मिस खान ने कहा है, देखिए जी, मुझे बेबी नहीं पसन्द है। मैंने कहा, जी मुझे ही कौन पसन्द है बेबी ! लाइन क्लियर।

अरविंद : यानी मैं दो दिनों के लिये बाहर क्या गया कि शहर में इतनी बड़ी घटना हो गयी।

सुधीर : तभी तो हुई ही। आप होते तो शायद कभी न होती। (रुककर) आनन्दा जिया अस्पताल में पड़ी थीं। पर यह सब उन्हीं का करिश्मा है।

अरविंद : (घबड़ाकर) खैरियत तो ? कैसी तबीयत है अब ?

सुधीर : बिल्कुल घर पर हैं, सब ठीक ठाक है, कोई ऐसी बात नहीं, बस कमजोर बहुत हो गयी हैं, और अरविंद दा, यह हमारा स्वीट इंगेजमेंट, मेरी आनन्दा जिया ही ने अपने दम से कराया है। मैंने तो उनके चरण चूम लिये। मदर फ़ादर तो बिल्कुल नहीं तैयार होते थे।

अरविंद : रुको, जरा मैं फ़ोन कर लूं। जी बड़ा परेशान हो गया।

सुधीर : मेरे इंगेजमेंट से ?

अरविंद : नहीं भाई। आनन्दा और अस्पताल की बात सुन कर...(नम्बर मिला कर) हलो...आनन्दा। नमस्ते, कैसी हो ? सच... बिल्कुल ठीक ! झूठ बोलती हो तुम। (हंसी) अच्छी बात है ! हां हां...सुधीर बाबू मेरे पास बैठे हैं। आपको बधाई।

सुधीर : (बीच ही में) और मेरी मिठाई।

गंगाराम : (प्लेट में लिये आ जाता है:) लीजिए हुजूर।

[**सुधीर खाने लगता है**]

अरविंद : (फोन पर) जी,...सब ठीक हो चुका है 'इक्ज़बीशन' में। ठीक चार बजे उद्घाटन है। आओगी न। अच्छी बात है। टेक कम्पलीट रेस्ट। मैं आऊंगा...जरूर...जरूर। मैं व्यस्त हूँ तो क्या। (रुककर) आज का अखबार देखा, तुम पर आर्टिकल आया है न। (रुककर) अयं ! मुझ पर आर्टिकल ? (टेलीफोन रख देते हैं)

गंगाराम : हिन्दी का अखबार तो देना !

सुधीर : (देता हुआ) जी, मुझसे लीजिए। सचमुच आप पर बहुत लम्बा चौड़ा लेख है।

[**अरविंद अखबार देखते हैं**]

सुधीर : ले जाओ गंगाराम।

गंगाराम : काफी लाऊं !

सुधीर : नहीं जी, अब सिगरेट पिऊंगा कि...।

[**सिगरेट जलाता है, गंगाराम प्लेट लेकर भीतर जाता है।**]

अरविंद : (आश्चर्य में डूबकर) यह कौन है सुजाता ? इस समीक्षा में तो अद्भुत पैठ है। यह सुजाता कौन है ?

सुधीर : कोई उपासिका होंगी आपकी।

अरविंद : उपासिका ! (एकाएक भाव बदल कर) तो सुधीर तुम बड़े अच्छे लड़के हो। शादी कब हो रही है तुम्हारी ?

सुधीर : इसकी चिन्ता नहीं अब ! रजिस्ट्री हो ही गयी है। चिन्ता इसी की थी। (एकाएक भाव बदल कर) अरविंद दा, अब अच्छा, मैं चला। जरा मुझे चाय पीनी है एक जगह।

अरविंद : अब एक जगह क्यों कहते हो ?

सुधीर : जरा शर्माता हूँ अरविंद दा।

अरविंद : तो आप मेरे यहां नहीं आये; आये वहां थे।

सुधीर : जी हां, जरा जल्दी चला आया था। और आपको यह सूचना भी देनी थी। आनन्दा जिया ने भी कहा था, पहले अरविंद को देख लेना। अच्छा अब चला...नमस्ते।

अरविंद : (विदा देते हुए) नमस्ते। आनन्दा जी से कहना, बिल्कुल कम्पलीट रेस्ट लें। मैं 'इक्ज़बीशन' का कुछ बहुत ही जरूरी काम निपटा कर फौरन आ रहा हूँ।

सुधीर : मैं भी आऊंगा 'इक्ज़बशन' देखने

अरविंद : जरूर। और सपरिवार आइए !

सुधीर : श्योर...श्योर !

[हँसी बिखेर कर सुधीर गायब हो जाता है : कुछ क्षण बाद ही जैसे अरविंद हिन्दी अखबार को फिर से देखना शुरू करता है, पृष्ठभूमि में वही अनाथालय वाले बच्चों का आरकेस्ट्रा उभरता है, और कोरस गीत के स्वर से सारा वातावरण भर जाता है :]

> विधाता तू हमारा है, तुही विज्ञानदाता है।
> बिना तेरी दया कोई, नहीं आनन्द पाता है॥
> सताता जो न औरों को, न धोखा आप खाता है।
> वही सद्भक्त है तेरा, सदाचारी कहाता है॥

अरविंद : (क्रोध से जैसे चीख पड़ता है) गंगाराम। (अखबार फेंककर) चलो जल्दी।

गंगाराम : (दौड़ा हुआ आकर) जी साहब।

अरविंद : कान पकड़ के निकाल दो इन अनाथालय वालों को। मुझे इनकी सूरत और आवाज़ से नफरत है।

[गंगाराम बाहर जाता है। थोड़ी देर बाद गीत बन्द हो जाता है]

अरविन्द : (बढ़कर ऊँचे स्वर में) क्यों आते हैं ये लोग यहाँ (झुंझलाकर जैसे अपने आप) दया—दया—और भीख। हमें हैरान करते हैं ये लोग। (टेलीफोन नम्बर मिलाकर) हिन्दी दैनिक। हलो—जी, मैं अरविंद बोल रहा हूं। प्रिंसिपल फाइन आर्ट कालेज

सम्पादक जी। नमस्ते—देखिए—यह सुजाता जी कौन हैं, जिन्होंने आज के पेपर में मुझ पर लेख लिखा है। उनका पता क्या है, वह करती क्या हैं? कौन हैं वह? जी—गर्ल्स कालेज की कोई लेक्चरर हैं, ओ! धन्यवाद।

[टेलीफोन रख देते हैं]

गङ्गाराम : (आता है) जी, मैंने अनाथालय वालों को कम्पाउन्ड से बाहर कर दिया।

अरविंद : बहुत अच्छा किया। (रुक कर) चलो, नाश्ते के लिये जल्दी करो। मुझे जाना है।

[अरविन्द के पीछे गंगाराम भीतर जाता है। पृष्ठभूमि में किसी तांगे के आने और सहसा रुकने की आवाज होती है, और क्षण भर बाद किसी महिला का सामने से प्रवेश]

महिला : (दरवाजे पर आकर पुकारती है) कोई है, चपरासी चौकीदार! (भीतर से आवाज आती है 'कौन!' और गंगाराम का प्रवेश)

महिला : प्रिन्सपल अरविन्द जी हैं?

गङ्गाराम : जी, हैं।

महिला : क्या कहा?—मुझे जरा कम सुनायी पड़ता है। क्या कहा?

गंगाराम : हैं साहब! साहब हैं।

महिला : उनसे कहो, आप से एक महिला मिलने आयी हैं।

[गंगाराम का प्रस्थान क्षण भर बाद अरविन्द का प्रवेश]

अरविंद : (देखते ही) अंय। आप कौन? (जैसे बिलकुल घबरा गये हैं) जी, आप हैं, बैठिये बैठिए! देखिए मुझे बहुत काम है आज जी—बैठिए—ओ—ओ—ओ—ओ जी। हां ठीक है—बैठिये। हाँ नमस्ते।—आप—आप!

महिला : (जोर से) मुझे आपने निश्चय ही पहचान लिया होगा।

अरविन्द : आप तो मेरठ में रहती थीं।

महिला : (कान पर हाथ रखकर) मैं जरा ऊँचे सुननेलगी हूँ। मुझे पूछ रहे हैं आप? मैं लेक्चरर हूँ एक महिला गर्ल्स कालेज में।

अरविन्द : (जोर से) तो आप ही ने लेख लिखा है मुझ पर।

सुजाता : आप इतने बड़े कलाकार हैं, मैं क्या, हजारों लोग लिखेंगे,

आप पर। मैंने सोच रखा था कि कभी समय आने पर आपके सब चित्रों को देखूँगी।

अरविन्द: तो आप यहाँ 'इक्ज़बीशन' देखने आयी हैं।

सुजाता : जी मैं कानपुर से यहां आयी हूँ (रुककर) पत्र पत्रिकाओं में आपके चित्रों को देखा करती थी, उन्हीं के आधार पर मैंने वह लेख लिखा है। (रुककर) यह आनन्दा जी कौन हैं, जिन पर आपने लेख लिखा है अंग्रेजी में—बड़ा ही सुन्दर स्केच भी बनाया है आपने उनका। (रुककर) 'इक्ज़ीबीशन' में उनके सब चित्र तो होंगे ही। मैं जरूर देखूंगी।

अरविन्द: आप ताँगे से आयी हैं?

सुजाता : जी, अच्छा मुझे अब आज्ञा दीजिये। मैंने आपका बहुत अमूल्य समय लिया।

अरविन्द : रुकेंगी नहीं? तो फिर आयीं क्यों थीं?—कुछ नाश्ता कीजियेगा?

सुजाता : जी, क्या?—मैं आयी क्यों थी! यही पूछ रहे हैं न।

अरविंद : जी हाँ यही पूछ रहा हूँ।

सुजाता : सुजाता का मन! मैं भी तो नहीं जानती अपने मन को!

अरविंद : यह कान में क्या हो गया?

सुजाता : कान में? कुछ तो नहीं!

अरविंद : कब से है?

सुजाता : (कान समीप लाकर) क्या कहा?

अरविंद : यह आप कब से ऊँचे सुनने लगी हैं।

सुजाता : जब से दुनिया ऊँचे चली गयी। मैंने सोचा, मेरा कान ही ऊँचा हो जाय!

[निश्छल हंसी]

सुजाता : नमस्ते! चलूँगी अब। दर्शनार्थ आयी थी। ठीक है न—नमस्ते।

[निश्छल, स्नेहसिक्त हंसी]

अरविंद : रुकिये न। नाश्ता बिल्कुल तैयार है।

सुजाता : धन्यवाद।

अरविंद : पर रुकिये तो। आप 'इक्ज़बीशन' में तो मिलेंगी ही। आज रात को मेरे संग भोजन कीजिए।

सुजाता : जी, आज रात ही को हमें वापस चला जाना है। कल मेरा कालेज है। और उन्हें भी दिल्ली जाना है।

अरविंद : उन्हें ? कौन ! अंय।

सुजाता : मेरे पति...नाम सुना होगा आपने, श्री दिवाकर जी।

अरविंद : (त्रस्त सा) प्रसिद्ध उपन्यासकार और कवि ! वही... ।

सुजाता : जी वही...(वही हँसी रुककर) मैं कभी भी विवाह पर राजी न होती, पर मुझे चूँकि परीक्षा देनी थी अपने विवाह की। कठिनाई थी न !

अरविंद : (हाथ जोड़कर) नमस्ते (क्षणभर बाद बिल्कुल आवेश में) रुको सुजाता। इधर आओ तो तुम इसीलिये यहाँ आयी थी... चुनौती देने मुझे...इसीलिए वह आर्टिकल लिखा था। (बढ़ कर अखबार उठा लेते हैं और गुस्से से फाड़कर उसे सुजाता के मुँह पर फेंकते हैं) यह लो अपनी चुनौती।...आर्टिकल, मैं और तुम !

सुजाता : कोई बात नहीं। मैं यहाँ अपनी परीक्षा का रिजेल्ट सुनाने आयी थी, और देखने भी। अच्छा हुआ, एक ही साथ सब हो गया। धन्यवाद...नमस्ते। [सुजाता चली जाती है, पृष्ठभूमि में तांगा जाने की आवाज होती है, अरविंद मूर्तिवत खड़ा रह जाता है, फिर उसी ओर दौड़कर]

अरविंद : सुजाता।...सुनो। तुमने झूठ कहा है ...रुको ज़रा। (रुक कर) गंगाराम सुनो, गंगाराम।

गंगाराम : (आकर) हूजूर।

अरविंद : यहाँ की 'मादा कैक्टस' कहाँ गयी ? ...बोलो कहाँ है ? वह औरत तो नहीं ले गयी ? यहाँ तो महज़ दो ही है ...कहाँ है 'मादा कैक्टस ?...बोलो कहाँ है वह 'मादा कैक्टस' ? पकड़ लो उस ताँगे को ?

गंगाराम : माली के पास है 'मादा कैक्टस' हुजूर।

अरविंद : अयं...क्यों ?...माली के पास 'मादा कैक्टस'...अयं...क्यों... ऐसा क्यों ?

गंगाराम : हुजूर, पता नहीं कैसे, वह तो सूख गई।

अरविंद : क्या बकते हो। वह कोई छुईं-मुई का पौधा है क्या ? वह कभी

नहीं सूखती। असंभव 'मादा कैक्टस' कभी नहीं सूखती...कभी नहीं, कभी नहीं।

गंगाराम : मैं लाकर दिखाता हूँ हुजूर।...सच, वह सूख गयी। माली कहता था उसमें कोई जहर गल गया। हवा का जहर।

[गंगाराम का प्रस्थान]

अरविंद : (विक्षिप्त-सा) नौकर माली सब का दिमाग खराब हुआ है। कह दिया, "मादा कैक्टस" ही सूख गयी। न जानना न बूझना। (एकाएक बाहर देख कर) कौन ?...सुधीर...बेबी।... वहाँ क्यों बैठे हो ?...कब से बैठे हो ? आओ...क्या बात है ?...उठो...वहाँ क्यों बैठे हो ?...हाँ...आओ !

सुधीर : (प्रवेश कर, लड़खड़ाती जबान से, जैसे कुछ पिये हो।) जी आया और वहीं बैठ गया। कुछ सोच रहा था। नहीं देख रहा था।

अरविंद : यह हाथ में क्या लिये हो ?...क्या है, बोलो ? आज फिर पी ली तुमने न ! बुरी बात है !

सुधीर : छोड़िये जी उसे ! बताइये क्या है मेरे हाथ में ?...बोलिये... सोच कर बताइये।

अरविंद : कोई चित्र है।

सुधीर : ठीक ! इतना तो बिल्कुल ठीक...आगे बताइये...किसका चित्र ?

अरविंद : आनन्दा का बनाया हुआ चित्र।

सुधीर : नहीं।

अरविंद : तुमने बनाया होगा।

सुधीर : नहीं।

अरविंद : ओ समझा। ...मिस खान का बनाया हुआ, नहीं...नहीं मिसेज़ सुधीर।

सुधीर : नहीं...बिल्कुल गलत।...सही-सही बताओ आज, हाँ।

अरविंद : अच्छा, मैं हार गया, तुम्हीं बताओ...किसका चित्र है ?

सुधीर : पहले आप वादा कीजिये कि इसे आप "इक्ज़बीशन" में रक्खेंगे।

अरविंद : चलो, वादा करता हूँ।

सुधीर : (हाथ का रोल पैकेट खोलता हुआ) यह देखिये लाजवाब चित्र, 'इक्सरे' का। आनन्दा जिया के दोनों फेफड़ों का यह 'इक्सरे चित्र।'

अरविंद : (जैसे चीख पड़ते हैं) आनन्दा ! (कुर्सी में जैसे गिर पड़ते हैं।)

सुधीर : (बड़ी तेज हँसी) नशा आ गया आपको ? पिये मैं हूँ, नशा आप को ! (हँसता है)...यह चित्र 'इक्जबीशन' में रखे जायेंगे। अरविंद दा !

[गंगाराम 'आदा कैक्टस' लिये आता है।]

सुधीर : गंगाराम ! यह क्या हुआ ? अरे ! ग्रेन्डी फ्लोरस सूख गयी ! यह असंभव। (बड़ी तेज हँसी, गंगाराम हतप्रभ खड़ा रहता है)

अब बताओ मेरी मुट्ठी में क्या है ? (जैसे मंच का सारा प्रकाश सुधीर पर सिमट जाता है। पृष्ठभूमि में नीलाम का बाजा फिर बजने लगता है) बताओ कोई ? क्या है मेरी मुट्ठी में ?...यह देखो, मेरी मुट्ठी में पिस्टल है। अरे ! इसमें तो जैसे खून लगा है ? ओ समझा ! वह जो मैंने मुर्गाबी पाल रखी थी न, उस पर मैंने फायर किया है !...छिः... छिः (घृणा से पिस्टल फेंक देता है) पर मेरी मुट्ठी तो अब भी भरी है !...हाय कुछ लग गया है इसमें (हथेलियाँ कपड़ों में रगड़ता है) हाय, यह खून का धब्बा कुछ नहीं रहा है। लोगों खरीद लो मेरी मुट्ठी...देखो यह गीली है।

[तने हुये हाथों की हथेलियाँ फैली रहती हैं। आँखें आकाश की ओर हैं— उसी पर तेजी से पर्दा गिरता है।]

यन्त्र-युग और मूल्यों का विघटन

पाँच कृतियाँ

आदमी धुएँ के हैं

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

ताँबे का आसमान,
टिन के सितारे,
गैसीला अन्धकार,
उड़ते हैं कसकुट के पंछी बेचारे !

लोहे की धरती पर
चाँदी की धारा
पीतल का सूरज है,
राँगे का भोला-सा चाँद बड़ा प्यारा !

गन्धक का झोंका है,
आदमी धुएँ के हैं, (छाया ने रोका है !)
हीरे की चाहत ने घड़ी-घड़ी टोका है;
शीशे ने समझा कि रेडियम का मौका है ।

धूल 'अनकल्चर्ड' है,
इसीलिए बकती है—
'जिन्दगी नहीं है यह, धोखा है ! धोखा है ?''

मदन वात्स्यायन की दो कृतियाँ

व्याख्या—मशीन युग अपने देश में अभी आया नहीं, सभी कारखाने भी प्राइवेट नहीं हैं, विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियाँ भी एक दूसरे से काफी कुछ फ़र्क हैं, details में। इसलिए मेरे विचार ठीक पूँजीवादी व्यवस्था को फ़िट न भी करें, पर उस विशेष non-sociailst State-controlled व्यवस्था को शायद जरूर फ़िट करेंगे, जो दिनोंदिन अपने देश की प्रमुखतर रूपरेखा होती जा रही है।

पूँजीवादी मशीनयुग का एक प्रमुख और आवश्यक अंग है, काम करने वालों की आर्थिक निःसहायता, सर्वहारा-पन। सेठ के बदले सरकार नहीं, सरकारी नौकरशाह के हो जाने से यह निःसहायता कोई विशेष कम नहीं हो जाती।

इस निःसहायता का एक बड़ा परिणाम होता है नैतिक मान्यताओं का तड़तड़ा कर टूटना। Mass scale पर मानवीय मूल्यों के विघटन का हृदय-विदारक दृश्य। Technical efficiency एक दुर्बोध वैदिक शब्द है जिसका अर्थ सिर्फ़ पुरोहित जी को पता है। अगर उन्हें हाथ में Technical efficiency के छत्र, चामर, पताका, दिखाई दें तो कल मेरा राज-तिलक भी हो सकता है, पर उन्होंने यदि शनिश्चर की वक्र रेखा देखी तो परसों मुझसे यह भी कहा जा सकता है कि "your services are no longer required"। इस ब्रह्मास्त्र के शमन की ताक़त न कचहरी को है, न पार्लमेण्ट को, और किसी को तो हो ही कहाँ से सकती है।

लोभ और भय के इस अराजक भँवर में चित्त ठिकाने नहीं रहता। भाई भाई को छोड़ रहा है, ब्राह्मण जूठा उठा रहा है, कम्युनिष्ट डाली पहुँचा रहा है, कवि खुफ़िया का काम कर रहा है, कुल-नारी को देह भी अदेय नहीं।

धरा न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जेहि राखे रघुबीर, ते उबरे एहि काल महँ॥

मशीनों को तो 'रघुबीर' में भी विश्वास नहीं। सच्चे हृदय से जो सती है वह भी हर रात को किसी और की 'नई परकीया' बन आती है—पति-पोषिका स्वकीया। (देखिये, नई कविता. ३—नई परकीया)

आदर्शों के यों पाँव उखड़ जाने पर हमारे व्यक्तित्व पर Unconscious की इच्छाएँ छा जाती हैं। मशीनों पर काम करने वाले को बारीकी नहीं भाती, उसे फूल की सुगन्ध नहीं चाहिए, वह फूल को सौंध खा जाना चाहता है। गुलाबी, या सन्दिली रङ्ग भी उसे पसन्द नहीं, उसे चाहिये लाल! पीला! नीला! काला!

आठ घण्टों तक वह मशीनों पर और मशीन-अफसरों के नीचे खड़ा रहा है, मौन, खून सुखाता, अपने ego को ठोकरें लगवाता। अब घर आकर वह लुत्फ को घोल कर पी जायगा। उसे उपभोग चाहिए। उपदेश नहीं। वह आदमी नहीं, शैतानियत का 'ईश्वर' है। वह अन्दर से विगटित मनुष्य है जो ऊपर से अपने को ढंके रखना चाहता है। उसके लिये मानवीय भाषा भी बिखर गयी है; व्यक्ति, समूह, ईश्वर, दिमाग, प्रगति सभी का वह गलत अर्थों में प्रयोग करता चलता है।

इसीलिये मशीनें मेरे हृदय में एक भयावह fascination का भाव जगाती हैं। एक तरफ तो उनकी ताकत और technical सिद्धियों का सौन्दर्य, दूसरी ओर उनकी नर-भक्षी बर्बरता। लगता है, रावण की बेटी से प्रेम करने लगा होऊँ।

मशीन-युग की a-morality में मुझे विश्वास नहीं। 'पूर्णिमा के अन्धकार' के बाद सुबह की ज्योति फूटेगी, सत्ता के रावण के दसों सिर कट कर गिरेंगे, डेमोक्रेसी और स्वातन्त्र्य के राम का प्रकाश फैलेगा, रावण की बेटी सभ्य होगी और उसका तेजवन्त रूप कोमलता से ऐसा अद्भुत हो उठेगा कि इन्द्राणी भी सामने आते सकुचायेंगी।

ईश्वर

मदन वात्स्यायन

ईश्वर नाम के किसी बड़े शक्तिशाली भूत का अस्तित्व नहीं है, व्यक्ति ही ईश्वर है। व्यक्ति ही प्रकृति का स्वामी है, व्यक्ति ही सर्वशक्तिमान है, व्यक्ति ही सर्वथा अद्वितीय है। क्योंकि उसके नाम के साथ जाति-वाचक पुछल्ला लगाना उसकी पर्सनैलिटी के फैलाव को छोटा करना है और कोई उपाधि जोड़ना सूरज को दीपक दिखाने जैसा बेकार है, इसलिए हमारे कारखाने के बिहारी इंजीनियर डाक्टर ईश्वर प्रसाद ने अपने नाम से 'प्रसाद' और 'डाक्टर' झाड़कर अपना नाम सिर्फ ईश्वर रहने दिया।

ईश्वर बड़े काबिल इंजीनियर थे। हमारा कारखाना जब चालू किया जा रहा था तो एक हिस्से में बड़ी गड़बड़ी उठ खड़ी हुई थी जिसके कारण सारे कारखाने का कारोबार ठप्प सा पड़ा हुआ था। उन्होंने अपनी सूझ से मशीनों में एक महत्वपूर्ण रद्दोबदल कर उस गड़बड़ी को दूर

किया और हमारा कारखाना चल पड़ा। सारे कारखाने भर में अभी तक कोई हिन्दुस्तानी या विलायती इंजीनियर नहीं था, या है, जिसने मशीनों में इतना महत्वपूर्ण रद्दोबदल किया हो, इससे हम बिहारियों की नाक ऊँची हुई रहती थी, कम से कम हमारी अपनी छोटी ग़रीब मजलिस में। ईश्वर की तारीफ और लोग भी करते थे, मगर फ़ाइलों की माया, दूसरे लोग प्रमोशन पा पा कर कहाँ से कहाँ बढ़ गये थे, पर ईश्वर अभी फ़ोरमैन के फ़ोरमैन ही पड़े हुए थे। इसका उन्हें बड़ा रंज था हमलोग भी बड़े अफ़सोस से कहते कि आप 'डाक्टर' होते हुए भी अभी फ़ोरमैन ही पड़े हुए हैं और वे चुप रह जाते।

ईश्वर बड़े मेधावी और चिन्तनशील थे। किसी के यहाँ जाते-आते नहीं, घर पर बैठे कुछ पढ़ते-लिखते-सोचते रहते। कभी कभी जब हम लोग उनके क्वार्टर पर जाते और बातें करते होते, तो मज़ेदार से मज़ेदार बातों के बीच वह आप से आप में सिमटे कुछ सोचने लग जाते, उनकी आँखें एक ओर स्थिर हो जातीं, सिर्फ पाँव हिलते होते या हाथों की उँगलियाँ एक दूसरे से फेंटी जाती होतीं। उनके विचारों का तूफ़ान तीव्र हो उठता और वे सहसा कुछ बोल उठते और हम लोग झेंपकर सोचते कि ख़्वामख़्वाह हम लोगों ने आकर इस प्रतिभाशाली व्यक्ति का वक्त बरबाद किया। पर वह बतलाते कि सोये से भी अक्सर कुछ बोल कर वह जाग उठते थे।

उनकी स्त्री उनकी इस विचित्रता पर कभी कभी मज़ाक कर बैठतीं। कहतीं, तुम जागे में बोलते नहीं हो, सोये में चुप नहीं रहते। शहरों में बराबर रही हुई बी० ए० पास उनकी स्त्री को यह छोटी सी नई जगह पसंद नहीं आती थी। अपने बिहार के पढ़े लिखे लोग कम ही थे, उनकी पढ़ी लिखी स्त्रियाँ तो और भी कम, अपने बच्चे-बच्चे भी नहीं थे। ईश्वर की स्त्री रहतीं रहतीं, उनकी या अपनी माँ के यहाँ चल देतीं और वहाँ महीनों रुक जातीं।

जब उनकी पत्नी उनके साथ नहीं होतीं, तभी हम लोग घर पर उनका दर्शन कर पाते थे क्योंकि उस वक्त उनके आँगन में घुस जाना संभव होता था, जहाँ वह बैठा करते थे। उनसे बातें करना सौभाग्य की बात थी, क्योंकि उनकी General Knowledge और बहुत से विषयों का विशेष ज्ञान बेशक कमाल का था। कारखाने में आठ घण्टे काम करने के बाद हम लोग अक्सर हाँ खेलने-कूदने या रेडियो पर सिनेमा के रेकर्ड सुनने में ही वक्त बरबाद कर दिया करते थे। उनके साथ कभी कभी बातें करते

तो बहुत-कुछ सीखते। सिर्फ किताबों की बातें ही नहीं, क्योंकि ईश्वर आविष्कारक दिमाग के थे और बहुत सी बातें खुद सोच निकालते। वे जब मुँह खोलते तो उनका सबसे प्रिय विषय होता था, मानव-दिमाग के विकास का इतिहास। उनका मत था कि मानव-दिमाग का जितना विकास हुआ है वह सब अकेले-अकेले आदमियों ने किया है, समूहों ने नहीं, क्योंकि समूह बराबर पिटी-पिटाई लकीर पर चलने वाला होता है, प्रगति का विरोधी, भारी रौलर की तरह जो जिस तरफ लुढ़क रहा है, उसी तरफ लुढ़कता जाता है, अपनी दिशा न खुद छोड़ता है और न कोई दूसरा ही आसानी से छुड़ा सकता है। वे कहते कि खेती का आविष्कारक अनाज के पौधों से गिरकर अँकुरने वाले दानों को देखने वाला वह अकेला आदमी ही रहा होगा जो और लोगों से अलग एक ओर जा बैठा होगा और सोच रहा होगा, न कि वह झुण्ड जो उस वक्त मांस और भाँग ठूँस-ठूँस कर हुड़दंग मचा रहा होगा। बोलते, आप ही सोचिये—दो पत्थरों या सूखी लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग पैदा होती है, यह वह झुण्ड तो पता लगा नहीं सका होगा जो पेड़ों में घर्षण से आग लग जाने पर मैं-बाल-बच्चे चिल्लाता, शोर मचाता, आग को दानव समझ भाग चला होगा, बल्कि वह अकेला आदमी ही तो जिसने सबों से छिपकर डरते डरते पेड़ों के घर्षण की नकल में दो सूखी लकड़ियाँ रगड़ी होंगी। वह न्यूटन का ज़िक्र करते। कहते कि अगर वह सबों के साथ मिलकर भेड़ी चराने के बजाय आलसी की तरह अलग बैठा सेब का पेड़ न निहारा करता तो शायद उसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता भी न लगता।

उन्हीं दिनों, कारखाने के दो ताकतवर अ-बिहारी दलों का गँठ-बन्धन कुछ मनमुटाव से ढीला पड़ गया और दोनों ही दल अपनी-अपनी बाज़ी मज़बूत करने के लिये बिहारी प्यादों को चलाने लगे। संयोग ऐसा कि ईश्वर के अफ़सर गये छुट्टी पर और उनकी जगह ऑफ़िशिएट दूसरे दल वाले एक जनाब करने लगे। उन्होंने ईश्वर को एक लिफ्ट दे दिया। जब पहले अफ़सर छुट्टी से लौटे तो बहुत भुनभुनाये, पर करते क्या, चुप्पी लगा गये। मगर किस्मत की बात, ईश्वर खुद तो नाटे थे, छोटे से थे, पर लम्बे और ऊँचे आदमियों से पीछे नहीं रहना चाहते थे, अतः उन्होंने ऐल्यु-मिनियम की नलियों के लम्बे लम्बे दो पाँव बना डाले थे, जिन्हें पाँवों में बाँध-

कर वे अपने पैरों को दुगने लम्बे, और अपनी चाल औरों से दुगनी तेज कर लेते थे। जितनी देर में हम लोग सड़क से होते साइकिलों से पहुँचते, उससे जल्दी ही वह इन पाँवों से पगडण्डियाँ होते एक रोज कारखाने पहुँच गये। तहलका मच गया। लोग चिल्लाने और थपड़ियाँ पीटने लगे। उनके अपने मज़दूर हँसी के मारे उनका हुक्म न सुन पाते। उनके अफ़सर के कानों में खबर गई, ईश्वर तलब हुए और अफसर की बगल में उनसे तीन फीट ऊँचे जा खड़े हुए। अफसर ने उन्हें ऊपर से नीचे चुपचाप एक नज़र देखा और चले गये। औफिस में जाकर कौन्फिडेन्शियल लिखा कि वह नयी पोस्ट के काबिल नहीं। उनके क्वार्टर के बगल वालों ने भी रिपोर्ट की कि ईश्वर कई दिनों से अपने आँगन में किसी ऊँची चीज़ पर चढ़कर इधर उधर झाँकते हैं। ईश्वर का 'पुनर्मूषिको भव' हो गया।

हम बिहारियों का भाग्य ही ऐसा है, हम लोगों ने कहा। पर ईश्वर को भाग्य नाम के हौआ पर विश्वास नहीं था और न उन्हें अपने प्रति सहानुभूति के शब्द से बढ़कर कटु और कुछ लगता। दया का पात्र होने में ईश्वरत्व में कमी जो होती थी। भाग्य की कोई बात ही नहीं थी, ईश्वर तारों से लेकर पृथ्वी तक के सारे ब्रह्मांड को एक विशाल दिमाग़ मानते थे जिसमें वस्तु (मैटर और एनर्जी) और घटनाएँ तरंगायित विचार का समूह भर थीं।

ईश्वर कहा करते कि जिस तरह हमारा दिमाग़ कोई कहानी सोचने लगे और सोचते-सोचते जब कहानी कुछ ऐसी ओर बढ़ने लगे जो उतना मनोरञ्जक न हो तो हम उसके सोचे हुए अंश को भी फिर से सोचकर उस पुराने इतिहास का अस्तित्व ही लोप कर दे सकते हैं। उसी तरह इस ब्रह्मांड की घटनाओं और वस्तुओं का भूतकाल भी निश्चित नहीं है, भविष्यत् का क्या पूछना। विचारधारा में ऐक्सिडेन्ट से भूत भी बदल सकता है, भविष्य भी।

इस क्लिष्ट दर्शन से हम घबड़ा जाते, पर ईश्वर के तर्क अकाट्य थे और इस विषय पर उनके तर्कों की आँधी दुर्विवाद। यह विश्व नितांत शून्य में विकार मात्र है, यह उपनिषद् भी कहते हैं और आइन्स्टाइन भी, वह कहते, और यह दूसरा हो ही क्या सकता है जब एनर्जी भी शून्य में तरंगायन है और मैटर के सूक्ष्मतम कण एलेक्ट्रन और प्रोटन आदि भी।

परन्तु शून्य में तरंगायन और विकार क्या, सिवा इसके कि वह कुछ दिमाग़ में विचार जैसा हो।

हम लोगों में से कोई कह बैठता, मगर जब दिमाग़ है तो दिमाग़-वाला भी तो कोई होगा, नहीं तो सोचने का संकल्प कौन करता है। हम लोगों के विचारों का संकल्प कौन करता है, ईश्वर पूछते। हम कहते, हम। हम क्या, क्या हमारी आँखें, हमारा मुँह, हमारा दिल, जिगर, अँतड़ियाँ? हमारा दिमाग़, हम कुछ-कुछ भटकते जवाब देते। 'आऽऽह!' ईश्वर चिल्ला उठते, 'मगर बाहर से तरंगों के आघात और उनकी प्रतिक्रिया में स्वयंभूत संकल्पों के द्वन्द्व के क्षेत्र के सिवा दिमाग़ और है ही क्या!'

जिस तरह पृथ्वी-तत्त्व बर्फ़ जलतत्त्व पानी में, पानी वायु-तत्त्व भाप में, बदल जाता है; जिस तरह जल-तत्त्व तेज अग्नि-तत्त्व प्रकाश में बदल जाता है; उसी तरह से सारे तत्त्व शून्य-तत्त्व में बदलते हैं और उससे फिर उत्पन्न होते हैं। यह शून्य-तत्त्व ही चेतना है और सारा विश्व चेतना की हिलकोर में प्रतिक्षण 'ऊपर' जाता है, 'नीचे' आता है और इन दोनों के बीच, क्षणांश भर को लय हो जाता है, ईश्वर शेष करते। उनके यहाँ से जब हम उठते तो चमचमाते कुहासे से घिरे हुए।

फिर एक रोज़ ऐसा वाक़या हो गया जो भुलाये नहीं भूलता और जिसका हमें बराबर अफ़सोस रहेगा। ईश्वर ने बहुत से बिहारी मज़दूरों को बुला कर मीटिंग की थी और बतलाने की कोशिश की थी कि उनकी (ईश्वर की) तरक्की का सवाल बिहार भर के लिये बहुत महत्व का था, क्योंकि बिहार को इस वक्त टेकनिकल एक्सपर्टों की कमी ही पंगु किये हुए है, अ-कुशल और अर्द्ध-कुशल मज़दूरों की नहीं, वह तो बाएँ हाथ का खेल है। आप मेरी तरक्क़ी के लिये हड़ताल कीजिये। यह न घबड़ाइये कि आपकी नौकरी चली जायगी तो भूखों मरना पड़ेगा। अपने छोटे-छोटे स्वार्थों में भटक न जाइये।

जब मज़दूर भुनभुनाते और ताने कसते हुए थोड़ा-थोड़ा करके उठके चले गये, तब भी ईश्वर आवेश में बोलते रहे। उन्होंने भविष्य का एक बड़ा भीषण चित्र खींचा। एक बार बाकी सारी दुनियाँ एक ओर होगी और एक दैत्य दिमाग़-शाली महान मानव दूसरी ओर, जो अफ्रीका के गोरिल्ला-चिम्पैन्ज़ी आदि बन्दरों और रीछों की सेना लेकर लड़ेगा। वे

जन्दर और भालू भीषण अणु-अस्त्रों से लैस होंगे जिन्हें उस मानव ने बनाया होगा। उस भयानक युद्ध में वानर-रीछ मनुष्यों की सेना को हराकर मनुष्यों का संहार करेंगे और फिर आप भी परस्पर लड़ मरेंगे। और तब वह महा-मानव अपने आप में परिपूर्ण, अपने आप में संतुष्ट, खूब सोचेगा, विश्व में सर्वथा अकेला; विश्वमित्र की तरह एक नई सृष्टि सोच डालेगा।

बोलते-बोलते छोटे से, नाटे से, कुरूप से ईश्वर खड़े हो गये, उनकी टाँगें कड़ी और टेढ़ी हो गईं, हाथ फैल गये और अँगुलियाँ भी कड़ी और टेढ़ी होकर फैल गईं, मानों वह कोई आक्रमणकारी गोरिल्ला हों। उनकी आँखें गोल हो गईं, मुँह भयंकर तरह से खुल गया, काट खाने की भङ्गिमा में दाँत निकल आये, आकृति डरावनी हो गई! शुक्र था कि वह शून्य की ओर देख रहे थे, हमारी ओर नहीं। उन्होंने भीषण किटकिटाहट की आवाज़ की और वहीं मर कर गिर गये।

हम आज भी कैण्टीन में बैठे कभी कभी उनकी याद करते हैं और अफ़सोस करते हैं कि बिहार का एक हीरा चला गया।

पूर्णिमा का अन्धकार

—मदन वात्स्यायन

(कुतुब-मीनार पर दो साधारण आदमियों के साथ चढ़ने की गति वाली या 'दार्शनिक' तर्क-प्रधान एक बाध-कहानी)

गुलगुला बालू, उतरती है चाँदनी
किस नाज़ से,
सहमी सहमी ॥१॥

टीलों से, पेड़ों से, छतों से,
धुल धुल क
जमा होती नीचे अँधियाली ॥२॥

हंसिनी यह चाँदनी
चाँदी के पाँख
आहिस्ते फैला रही है ॥३॥

घिर रही है मलमली ज्योत्स्ना—
सोये चाँद के जगते मुँह पर
फेन जैसी चादर उढ़ा दी है
अनंग ने ॥४॥

रहस्यमय प्रकाश से
सुनसान का, बियाबान का,
एकान्त का, भूत का,
आभास बढ़ता है ।।५।।

शोर करता, 'चलता',
दूध सी गंगा में जहाज सा,
चल रहा है पन्त्र[१] ।।६।।

बाढ़ के पानी पर वर्षा सी,
पन्त्र के किनारे
बिजली की रोशनी पर चाँदनी
झड़ रही है ।।७।।

गर्मी है,
पूर्णिमा है,
प्यारी प्यारी हवा बह रही है ।।८।।

ऊँघ रहा है कमकर बैठा,
हाफ़ पैण्ट, हाफ़ कमीज़, में,
सुन्दर, नौजवान, भावुक ।।९।।

नन्हीं-नन्हीं, गोरी-गोरी, रेशमी
झोंकों वाली,
नाचती हैं परियाँ, आसपास,
विरोधी प्रकाशों में छायाओं की
अल्पना करतीं ।।१०।।

थोड़ी थोड़ी देर पर
अफ़सर इंजीनियर आ निकलता है,

[१]Plant. कारखाने का एक पूरा हिस्सा। आविष्कृत शब्द। तुलनीय—यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र।

मशीनों सा भरकम, भारी
आवाज़, वि-रूप ।।११।।

परियाँ
(विद्रूप के स्वर में)—
"धक धक
धक धक !
धक धक
धक धक !
और फिर
धक धक
धक धक ।।१२।।

"ये राक्षसी मशीनें
नोंचती हैं, चोंथती हैं,
चबा जाती हैं,
सपने, शान्ति, दोपहर को खाने
के बाद का आलस्य, उफ़
ओह ! ।।१३।।

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक !" ।।१४।।

मशीनें—
"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ! ।।१५।।

"बाप पुरुष, माँ, शक्ति-हिडि...,
चलती हैं, रुकी भी हैं,
कन्धों पर आकाश उठाये

सभ्यता का, समाज, दोपहर को
खाने के बाद के रेडिओ संगीत
का ! ।।१६।।

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक !"।।१७।।

कमकर—
"पार्क में आइसक्रीम सी चाँदनी
पिघल रही होगी !
आई होगी उर-बसी, मुझे न पा
पति के पास पलट गई होगी ।।१८।।

"पन्त्र जल रहा है
कौरप्ट ब्यूरोक्रेसी सा !
कहाँ पकड़ गया रात को मैं
आज ?
कब शिफ़्ट खत्म होगा ?"।।१९।।

इंजीनियर—
"क्या खूब स्मूथ चल रहा है
पन्त्र, मेरा शिफ़्ट है !
प्रोडक्शन का सुर तार पर है ।
(ज़ोर से—) कौन है ?" ।।२०।।

परियाँ छिप जाती हैं,
कमकर उठ खड़ा होता है,
बोलता है—"जी, मैं" ।।२१।।

इंजीनियर—
रजनीगन्धा के झाड़ सी
अंग अंग में खिल आई है
चाँदनी दिशाएँ भर रही है।।२२।।

"दिप रहा है पन्त्र
कि जैसे
चाँदनी के भीगे लेप से" ।।२३।।

कमकर—
"चाँदनी के गोरे वक्ष पर,
जल रहा है पन्त्र
रुई के फाहे के तले घाव सा," ।।२४।।

इंजीनियर—
"आयोडीन सा !
घाव पर,
गोरे वक्ष पर नहीं" ।।२५।।

कमकर—
"दूषित हो रहा है चाँदनी का
तेज
पन्त्र की कुदृष्टि से,
कि जैसे डालडा मिला घी ।।२६।।

इंजीनियर—
"कान में झुमका
उपहारी झुमका
चाँदनी अँगरा रही है ।।२७।।

"अमाँ,
छोड़ो भी शिकायतें दिल की !
सोचो तो सही ।।२८।।

"यह चाँदनी,
यह प्यारी हवा,

प्रेम के उपयुक्त, ।।२६।।
"शायद,
जगी लेटी होगी
प्राणेश्वरी !" ।।३०।।

कमकर—
कोमल है प्रकृति, कमनीय है !
पीड़ता है परुष यह पुरुष का
असुन्दर पन्त्रकोमल ख्यालों को
।।३१।।

इंजीनियर—
"पुरुष की अनुभूति कोमल है,
पुरुष की संवेदना सुन्दर,
प्रकृति निर्मोह और अ-रूप है ।।३२।।

कमकर—
"प्रकृति कोमल और कमनीय है,
पुरुष बर्बर असुन्दर,
शोषने वाला सगों का" ।।३३।।

इंजीनियर—
प्रकृति शोषती नहीं, सच है,
सीधे खा जाती है—
मेमने खा किसलयों को ।" ।।३४।।
"अ-शिव होकर भी शिव,
स-बल होकर भी कोमल,
पुरुष होता है !" ।।३५।।

कमकर (चिढ़ता हुआ)—
"दिमाग वाले !"

इंजीनियर (,,)—
"दिल वाले !"

दोनों हँसते हुए—
"प्यार वाले ! ।।३६।।

इंजीनियर चला जाता है,
कमकर जा बैठता है,
परियाँ घिर आती हैं ।।३७।।

परियाँ (पूर्ववत्) —

धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ।।३८।।

"यन्त्रण, नियन्त्रण, नियन्त्रण
नियन्त्रण !
यह समवेत कुरूपता.
यह समवेत यन्त्रणा ! ।।३९।।

धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ! ।।४०।।

मशीनें (पूर्ववत्)—

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक !।।४१।।

"क्या उड़ते से चलते हैं हज़ार
पाँव, नियमों में सधे, उन्मुक्त !
यह पाताल ! यह पृथ्वी ! यह
आकाश ! ।।४२।।

"धक धक धक धक ?
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ! ।।४३।।

कमकर—
बदसूरत और निर्मोह भीमाकार
मशीनें,
अनवरत कर्कश कोलाहल,
यह गर्द, यह धुआँ, यह दुर्गन्ध,
यह गर्मी ! ॥४४॥

"व्यास, दास, रास और कैलास
ताश खेल रहे होंगे—
कहाँ पकड़ गया रात को मैं आज!।
कब शिफ़्ट ख़त्म होगा !"? ॥४५॥

इंजीनियर—
"टार्गेट के खंभे तक हम अब
पहुँचे, अब पहुँचे; मेरा शिफ़्ट है !
क़वायदी घोड़ों सी मशीनें भाग
रही हैं !
(ज़ोर से—) कौन है ?" ॥४६॥

परियाँ छिप जाती हैं,
कमकर उठ खड़ा होता है,
बोलता है—"जी, मैं," ॥४७॥

इंजीनियर—
अद्भुत है डिज़ाइन इस यन्त्र का !
बे रोक, बे खटके,
दिन रात भागता है !" ॥४८॥

कमकर—
"भागता कहाँ लिये जा रहा है
हमें ?
उत्तरोत्तर उत्पीड़न को,
उत्तरोत्तर स्वार्थ को।" ॥४९॥

इंजीनियर—
"समवेत स्वार्थ को,
व्यक्तिगत स्वार्थ को नहीं।
समवेत परमार्थ भी कोई चीज़ है
क्या ?" ॥५०॥

कमकर—
"दिमाग़ी दोपहर का उत्ताप है
यह यन्त्र।
आदमी को चाहिये
हृदय का कुछ तत्त्व कोमल,
शीतल चाँदनी।" ॥५१॥

इंजीनियर—
"विज्ञान है कमाऊ पति,
हृदय की तृष्णा उड़ाऊ पत्नी है,
जिसे न सन्तोष है न श्रद्धा, न
शान्ति ही ॥५२॥

"जन्म दिन के तोहफ़े सा
जो सुबह को बाग़ में हँसता
मिलता है गुलाब,
क्या चाँदनी का है ? ॥५३॥

"जिसे लेकर अगरा रही है
चाँदनी,
वह ज्योति ही
क्या चाँदनी की है ?" ॥५४॥

कमकर—
"आप क्या
बैचलर की
ज़िन्दगी चाहेंगे ?" ॥५५॥

इंजीनियर—

"तुम क्या
ड्रोन की
ज़िन्दगी चाहोगे ?" ॥५६॥

कमकर—

"करुणा ही में सामंजस्य है।"

इंजनियर—

"सामंजस्य समझदारी में है,
प्रकाश में।" ॥५७॥

"बड़े शहर की, चौमुहानी पर,
पुलिस चौकी के सामने,
एक बजे दिन का, प्रकाश !॥५८॥

"कि तिनका भी खटके,
तो क्षुब्ध हो उठें सब लोग, एक
साथ—
कि, चौमुहानी पर ! पुलिस चौकी
के सामने !! दिन दहाड़े !!!"५६॥

कमकर—

"कि जहाँ
बैंक लुट जाते हैं !—"

इंजीनियर—

"—एक" ॥६०॥

"कि जहाँ
पर-नारी का परमानन्द नहीं पाते
हज़ार लोग" ॥६१॥

"नौ लाख
जहाँ गालियाँ नहीं खाते, पिटते
नहीं,
लुटते नहीं, क़त्ल नहीं होते" ॥६२॥

घूस नहीं मिलती,
जाल नहीं करते,
साज़िश नहीं होती।" ॥६३॥

कमकर—"चोर बाज़ारियाँ ?
भुखमरी मजबूरियाँ ?
क़ानूनी कुर्की ?" ॥६४॥

इंजीनियर—

"अभी पहुँचे नहीं
जन-ज्ञान की चौमुहानी पर,
हम गलियारे में हैं" ॥६५॥

"जन-संकल्प की पुलिस चौकी,
जन-समझ की दुपहर,
अभी कहाँ, अभी चले चलो,
हम-राही।" ॥६६॥

कमकर—

"धर्म घट रहा है,
करुणा घट रही है,
आस्तिकता घट रही है", ॥६७॥

"प्रकाश बढ़ रहा है,
कालिमा बढ़ रही है,
घट रही है चाँदनी—हम खो
रहे हैं दिशा।" ॥६८॥

इंजनियर—

"तुनुक-वादी है धर्म क्या ?
अन्धकार-वादी है करुणा क्या ?
आस्तिकता क्या अनियम-वादी
है ?" ॥६९॥

"कलिमा घट रही है, आँखों का
गुण बदल रहा है—कभी हम
सिंह थे,
आज आदमी हैं, भोर भी झुटपुटा
लगता है॥७०॥

"ब्रह्मास्त्र-विस्फोट गौरव था
अणु शस्त्र विस्फोट गर्हित है—
इतिहास के किस कोने में है
चाँदनी की वकालत ? ॥७१॥

"......में गोलियाँ चलती हैं,
लन्दन में नहीं चलती—
भूगोल के किस कोने में है
चाँदनी की वकालत ? ॥७२॥

"बेटी के हकों पर देखो पार्लमेंट में
बहस, धार्मिकों की—अधार्मिकों
की। संस्कृति के किस कोने में है
चाँदनी की वकालत ?" ॥७३॥

कमकर—
"दुपहर दण्ड है,
दबा सकती है, बदल नहीं सकती,
हृदय-परिवर्तन है चाँदनी दृढ़
नींव को"॥७४॥

इंजीनियर—
"नींव
क्या रात को देते हैं,
जिन तिन ईंटों से ? ॥७५॥

"चेतन दिमाग़ है किसान सा,
मोहग्रस्त हृदय
बीज-निरपेक्ष खेत है ॥७६॥

"चेतन का ही संभव है विकार
भी, संस्कार भी, समझ का,
दानाई का, विचार का,
वेदना का, संवेदना का ॥७७॥

"(चिढ़ाता हुआ—) दिल वाले!"
कमकर—
(चिढ़ाता हुआ)—"दिमाग
वाले!"
दोनों—
(हँसते हुए)—"आशा
वाले!"॥७८॥

इंजीनियर चला जाता है,
कमकर जा बैठता है,
परियाँ घिर आती हैं॥७९॥

परियाँ—
(पूर्ववत्)—"धक धक धकधक!
धक धक धक धक!
और फिर धक धक॥८०॥

"मशीनें खून पीती हैं, आयु
खाती हैं,
मुनाफ़े पर मुनाफ़े कमा कर
लाती हैं।
लाती होंगी, हमें क्या ? ॥८१॥

"धक धक धक धक!
धक धक धक धक!
और फिर धक धक धक"॥८२॥

मशीनें (पूर्ववत)—
"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ॥८३॥

"फ़सलें लहलहा उठी हैं हमारे
स्वेद से,
शस्य-श्यामल देश है।
जंगल में शहर है, शहर में दूकान
हैं, होटल हैं, क्लब हैं, सिनेमा-
अस्पताल हैं ॥८४॥

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक !" ॥८५॥

कमकर—
"साहब का दिल साफ़ है, आज
मूड भी है।
अच्छा हुआ इस शिफ़्ट में आ
गया मैं,
कब शिफ़्ट खत्म हो !" ॥८६॥

इंजीनियर
"टार्गेट के क्षितिज से ऊपर
प्रोडक्शन का ग्राफ पहली किरण सा
निकल रहा है; सुबह हो
आई।
भूख जोरों से लग रही है।
(ज़ोर से—) कौन है ?" ॥८७॥

परियाँ छिप जाती हैं,
कमकर उठ खड़ा होता है,
बोलता है—"जी, मैं।" ॥८८॥

इंजीनियर—
"हम दोनों को बधाई, मेरे दोस्त !
आज चलो, चाय तुम्हें मैं
पिलाऊँगा घर पर !"

कमकर—
"सर !—॥८९॥

"इस प्रोडक्शन से
मुझे क्या मिला ?
प्रोमोशन की मेरी कल की
दरख्वास्त दया के साथ देखि-
येगा !" ॥९०॥

इंजीनियर —
"दया ? वह कुमुदिनी
दूसरे की मजबूरी की छिपी कीच
की बेटी ?
अहंकार जिसका सौरभ है ?
अंधकार चाँदनी ? ॥९१॥

प्रिय है गुलाब, सत्य का और
न्याय का,
दूसरे के अधिकार की बराबर
भूमि का बेटा।
सौरभ है संवेदना, जिसके नियम
काँटे।" ॥९२॥

कमकर—
"सत्य क्या है,

न्याय क्या है—
ज्ञात हो गया क्या ?" ॥९३॥

इंजीनियर—
"न्याय
है समानता,
सत्य—॥९४॥

"पृथ्वी सा ऊपर उठ रहा है
हृदय की Unconscious
वासनाओं के अर्द्ध-स्पष्ट जल में
तपस्वी विज्ञान की दाढ़ों पर।"
॥९५॥

कमकर—
"हृदय—"

इंजीनियर—
"हृदय पाखण्ड है,
संवेदना बोलो। ॥९६॥

"जड़ से जीव,
जीव से मनुष्य, और मनुष्य से
आगे भी—
वेदना की राह है ॥९७॥

"नियमित है गति वेदना की—
गंगा के प्रवाह सी,
दिन रात और वर्ष के हिसाब सी,
॥९८॥

"ट्रेन सी, शिफ़्ट सी,
निर्बाध—क्षीर सागर को,
समवेत स्वार्थ को ॥९९॥

"हृदय के 'मन-मौजी' घोड़े,
कहाँ पटकें, कहाँ पहुँचें,
आज यहाँ, कल वहाँ, परसों कहीं
भी नहीं ॥१००॥

"कीमत है चाँदनी की,
जेठ में, अन्धकार में,
न कि फागुन में, या दिन में"
॥१०१॥

कमकर—
"मगर विश्वास और हिम्मत—

इंजीनियर—
"अ-न्याय में है क्रूरता, हिम्मत
नहीं,
अ-सत्य दाँत से पकड़ता है,
विश्वास नहीं करता।"॥१०२॥

कमकर (चिढ़ाता हुआ)
"दिमाग वाले !"

इंजीनियर (चिढ़ाता हुआ)
"दिल वाले !"

दोनों (हँसते हुए)—
"विश्वास और हिम्मत वाले।"
॥१०३॥

सुबह का भोंपा बोलता है,
बहुरंगे प्रकाश के औरकेस्ट्रा सा
भोर उठता है,
चाँदनी छिप जाती है ॥१०४॥

इंजीनियर और कमकर,
यन्त्र के बाहर दोनों ही ठमक
जाते हैं,
विस्मित, विमुग्ध ।।१०५।।

शहर में,
क्वार्टरों की चिमनियों से
नया धूआँ उठने लगा है ।।१०६।।

सुकुमार नई नील आभा वाला,
श्वेत और लाल किरणों से
सुपुष्पित ।।१०७।।

तुनुक माधवी लता सा, छितराया
हुआ,
कि जैसे सारा शहर
लता-मण्डप हो ।।१०८।।

हवा ठण्डी ठण्डी है,
चौकों की गन्धों से स-रस बनी;
पसीना सूख रहा है, मुँह भर
आया है ।।१०९।।

इंजीनियर—
"देखो, चूल्हे पर 'गुड़ुड़-गुड़ुड़'
कर रही चाय ।
हमारा इन्तज़ार कर रही है ।"

कमकर—
"चलिये, च चलें, आइये ।"
।।११०।

शब्द-दंश

जगदीश गुप्त

'शब्द तो है ब्रह्म'
श्रुति ने कहा कह कर हो गयी चुप

'शब्द है आनन्द : वह संवेदना है'
सुन लिया संगीत ने, साहित्य ने माना

'शब्द है आतंक'
अणु ने हो अधोमुख
वाष्पमय आकाश में विस्फोट बन
जब किया उद्घोषित
प्रलय के वज्रस्वर में
ब्रह्म की सत्ता अनास्था में तिरोहित हो गयी

आनन्द का स्वर डगमगाया
हो उठीं विक्षिप्त सी संवेदनाएँ

विश्व-संस्कृति का समावृत खोखलापन
'शब्द है फुंकार'
कहकर डस गया
आतंक अभिशापित मनुज को

शारदे ! ओ शारदे !!
तुम हृदय तल के क्षीर-सागर में अभी तक सो रहे हो ।

विष-कारा

भारत भूषण अग्रवाल

अस्तित्व, विकल्प,
और निर्वास सम्बन्धी
एक सांकेतिक-कथा

उसका नाम तो कुछ न था, क्योंकि साँपों के नाम नहीं होते, पर नाम न होने पर भी उसका अस्तित्व था, और अपने अस्तित्व का उसे पूरा ज्ञान भी था। और यह ज्ञान ही मानों उसकी सबसे बड़ी समस्या थी, क्योंकि जब उसे लगता कि उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा रहा है तो उसे चोट लगती, और वह तड़प उठता।

उसे मनुष्यों से बड़ा प्रेम था। आप चाहे इसका विश्वास न करें—असल में उसे कभी एक भी ऐसा मनुष्य नहीं मिला जिसने उसका इस बात का विश्वास किया हो—पर फिर भी उसे मानव से प्रेम था। और इसी कारण वह अक्सर बिलबिला उठता था कि क्यों उसके अस्तित्व के बावजूद मनुष्य उसे नहीं मानते, या मानना नहीं चाहते, और क्यों उसका अपना प्रेम मानव-मन में प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न नहीं करता। जब कभी भी वह मनुष्य के पास जाने की चेष्टा करता तो या तो मनुष्य ही भाग जाता, या फिर वह ऐसी तैयारियाँ करता कि उसी को भागना पड़ता। इस स्थिति में उसके त्रास का ठिकाना नहीं था।

और तब एक दिन इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए उसने जमीन के नीचे घुसकर समाधि लगायी, और भूखा-प्यासा, भगवान का स्मरण करने लगा।

भगवान तो प्रकट नहीं हुए पर उसके मन में ही एक नया ज्ञान जागा। उसने पाया कि मनुष्य उसका अस्तित्व मानता है। अन्यथा वह उसे भगा क्यों देता है, या स्वयं ही क्यों भाग जाता है। इस ज्ञान से उसे कुछ आश्वासन मिला, उसका त्रास कुछ घट गया।

पर उसका मानव-प्रेम, और उसका प्रतिदान ? वह फिर अचल-अटल वैसे ही समाधि लगाकर बैठा रहा।

स्वप्न, सुषुप्ति और न जाने कौन-कौन-सी अवस्थायें पार कर लेने पर उसके मन में दूसरा ज्ञान उदित हुआ। उसके मन में प्रेम है तो हुआ करे, पर उसके मुख में विष भी तो है। यह उसका विष ही है जो उसे मानव से तिरस्कार दिलाता है।

और ऐसा ज्ञान पाकर उसने निश्चय किया कि वह अपने विष का कभी प्रयोग न करेगा और तब मानव उसके प्रेम का अनुभव पाकर प्रतिदान भी देगा।

इस निश्चय से उनका मन हलका हो गया, वह प्राणों में एक नये आलोक का अनुभव करने लगा। कुछ दिन नियमित आहारादि से पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर वह अपने निश्चय पर दृढ़ होकर बस्ती की ओर गया।

बस्ती के सीमान्त में ही एक बहुत बड़ा बँगला था। वह ज्योंही उसके पास पहुँचा उसे बीन पर मोहन राग बजता सुनाई दिया। खुशी के मारे वह उछल पड़ा। 'नहीं, नहीं, यह मेरा भ्रम है' उसने सोचा, 'मानव भी मुझसे प्रेम करता है, वह मुझे बुला रहा है, वह जानता है, बीन में मेरे लिए कितना आकर्षण है।' और राग के स्वरों की डोर से खिंचता वह अन्दर प्रविष्ट हुआ।

पहले मुलायम घास मिली। 'सचमुच, मनुष्य कितना महान है' उसने सोचा 'मेरे लिए घर में भी जंगल सजा रक्खा है।'

फिर दालान, फिर बरामदा, फिर कमरे पर कमरे पार करता वह उस कमरे में पहुँचा जहाँ रेडियो से बीन के स्वर निकल रहे थे। रेडियो से निकलने वाले क्षीण प्रकाश के अतिरिक्त सारा घर अंधकार में था। उसे लगा, अंधकार का यह प्रबंध गृहस्वामी ने सचमुच मेरे स्वागत में ही किया होगा।

बीन अब भी बज रही थी। उसका मन एक नई आशा, एक नए मोह से आन्दोलित हो रहा था। वह मृदु, मंथर गति से बढ़ता हुआ, रेडियो की छोटी-सी टेबिल पर चढ़ गया, कुण्डली मार कर आराम से बैठ कर, उसने अपना कान रेडियो से लगा दिया। अपने भोलेपन में वह सोच रहा था कि अभी इस बीन के स्वरों से निर्मित स्वर्ग-कारा के द्वार

खुलेंगे, और इसमें से मानव निकल कर उसे अपनी भुजाओं में भर लेगा।

पर जिस भुजा ने उसे स्पर्श किया वह रेडियो के भीतर से नहीं बाहर से आई, और ज्योंही उसे स्पर्श की सिहरन महसूस हुई त्योंही वह मानवी भुजा तड़प कर अलग हो गई। पास में पड़े पलंग से एक छायाकृति धीमे, धीमे उठी, और सहमते-सहमते न जाने किधर को चली गई।

क्षण भर बाद सारे कमरे में प्रकाश भर गया। उसकी आँख जलने लग गईं। बड़ी मुश्किल से वह देख सका कि एक मनुष्य दूर पर खड़ा, उसे ताक रहा है। उसके चेहरे का भाव पकड़ना तो उसके लिए असंभव सा था। फिर भी न जाने क्यों उसे लगा कि यह वह स्वागत नहीं है जिसकी वह आशा बाँधे था।

थोड़ी देर अ-गति रही। बीन बजती रही, वह सुनता रहा, और दूर पर खड़ा मनुष्य उसे घूरता रहा।

अरे, यह क्या! यह केवल उसका अनुमान होगा, या सत्य? उसने अच्छाई से देखा कि अब एक नहीं, काफी मनुष्य वहाँ जमा हो गए हैं, और सब उसकी ओर उसी तरह घूर रहे हैं।

'आओ', उसने कहा 'आओ, मेरे पास आओ न! देखो, मैं तुम्हारे लिए कितनी दूर से कितनी बाधाएँ लाँघकर यहाँ आया हूँ। तुम्हारी बीन सुनकर भला मैं दूर रह भी कैसे सकता था। आओ मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं तुमसे घुल मिल जाना चाहता हूँ।'

जब सामने खड़े मनुष्यों की मुद्रा या चेष्टा में कोई प्रतिक्रिया न हुई तो उसे लगा कि उसकी बात उन तक नहीं पहुँची।

और तब पहली बार उसे अपनी एक असमर्थता का ज्ञान हुआ। वह जो कुछ कहता था, उसका अर्थ था, उद्देश्य था, पर उसकी सारी कथा, उसके प्राणों का सारा निवेदन मनुष्यों के निकट केवल निरर्थक फुफकार बनकर रह जाता था! अब मैं क्या करूँ, वह सोचने लगा।

कि मनुष्यों की भीड़ में हलचल मची। कठोर पुरुष स्वर भी सुनाई पड़े, पर उनका अर्थ समझने में वह भी उतना ही लाचार था। केवल उनकी भंगिमा से ही वह साध सकता था कि जो कुछ कहा जा रहा है, वह उसके लिये प्रीतिकर नहीं है।

'मैं समझा नहीं', उसने बिलख कर कहा 'मैं तो छोटा-सा जीव हूँ।

तुम्हारी भाषा नहीं जानता। पर तुम तो मानव हो, महान हो, तुम क्यों नहीं मेरी भाषा समझ पाते। चेष्टा करो तो सीख नहीं सकते ?'

लेकिन दूसरे ही क्षण वह समझ गया कि उसके वचन केवल फुफकार बनकर रह गए हैं क्योंकि अब बहुत से लोग डरावने ढंग से उसकी ओर बढ़ रहे थे और उनके हाथों में विचित्र विचित्र हथियार थे।

उसके मन ने कहा : भाग चलो, आसार अच्छे नहीं हैं। पर फिर उसे अपना निश्चय याद आया, और अपनी दृढ़ता से उसे बल मिला 'आने दो कोई चिन्ता नहीं', उसने सोचा, 'ये अभी ही समझ जायेंगे कि मैं इतनी हानि नहीं करना चाहता। जब मैं अपने जहर का उपयोग ही न करूँगा, तो फिर ये मुझे क्यों भगायेंगे।' और कहीं उसकी बात फुफकार में परिणत न हो जाय, इसलिए उसने एक शब्द भी कहना ठीक न समझा। केवल अपना फन झुकाकर गुड़-मुड़ होकर शान्त भाव से बैठ गया, मानो पालतू हो।

तभी एक लाठी उस तक लगी। चोट से वह तिलमिला गया, और उसने बड़ी कठिनाई से अपने मुँह से निकलते दुर्वचन रोके। उसके मन में बैठा कोई बोल उठा : अब भी समय है, भाग चलो। पर उसने अपने सिर को एक झटका देकर अपना निश्चय प्रकट किया। नहीं, नहीं मैं आज फैसला करके ही रहूँगा। तुम......तुम मेरे जहर के कारण ही मुझ से घृणा करते हो न ? हाँ, मेरे पास जहर है। पर मैं उसका उपयोग न करने का निश्चय कर चुका हूँ। मार लो, एक लाठी नहीं, दस और मार लो—पर मैं कुछ नहीं करूँगा ! बस, योंहीं तुमसे करुणा की, मैत्री की भीख माँगता बैठा रहूँगा। आखिर कभी तो पिघलोगे।'

एक लाठी और। उसकी देह तड़प गयी 'कोई बात नहीं ! उसने मन ही मन कहा 'यह तुम्हारा अज्ञान है, जो तुम मेरे साथ यह दुर्व्यवहार कर रहे हो। मैंने तो मुक्त कण्ठ से अपना निश्चय घोषित कर लिया है, पर मैं क्या करूँ जो हम एक दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ हैं। पर आचरण की भाषा भी क्या तुम न समझोगे ? क्या तुमने कभी ऐसा साँप देखा है जो मार खाकर भी फन न उठाये ? फिर क्या तुम यह नहीं विश्वास कर सकते कि मैं दूसरी तरह का हूँ। मैं और साँपों से भिन्न हूँ। मैं तुम्हारा मित्र हूँ।" तभी किसी लोहे के पाश में उसका फन, और उसका मुँह जकड़ गया। कोई उसे अपनी ओर घसीट रहा था।

'नहीं, नहीं, मैं आज यहाँ से नहीं जाऊँगा। मैं तुम्हें अपने निश्चय का विश्वास दिला कर रहूँगा। मैं यह नहीं सह सकता कि तुम मुझे गलत समझते रहो!' उसने मन ही मन कहा, और अपनी सारी शक्ति से मेज़ पकड़ ली।

पर जो हाथ उसे खींच रहे थे, वे उससे अधिक सशक्त थे। वह-रोता-रिरियाता, मन ही मन करुणा की प्रार्थना करता हुआ भी खिंचता चला गया। और थोड़ी ही बाद उसने देखा कि उसे एक छोटी सी हँड़िया में बंद कर बाहर दूर ले जाकर डाल दिया गया है।

इस घटना के बाद जब उसने फिर समाधि लगा कर भगवान का स्मरण किया, तो उसे एक नए और परमज्ञान की उपलब्धि हुई। उसने जाना कि हर एक व्यक्ति समाज में एक खास पार्ट अदा करने के लिए बनता है, जिससे उसे मुक्ति नहीं मिल सकती, और अपनी इस परिस्थिति के आगे व्यक्ति का निश्चय व्यर्थ है।

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

जर्नल के अंश और तीन

कविताएं

●

अज्ञेय

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

पश्चिमी यूरोप यात्रा
के दौरान में लिखे गये
जर्नल के कुछ सूत्र

एक

यान्त्रिक उन्नति इसे क्रमशः सुगमतर बनाती जाती है कि मानव अधिकाधिक काम बिना आत्मदान के कर सके।

अर्थात वह क्रमशः अधिकाधिक मानवों का अकेला होना अधिकाधिक सम्भव बनाती जा रही है यदि वे यान्त्रिक उन्नति पर ही निर्भर करते हैं।

यान्त्रिक उन्नति अपने आप में दूषित नहीं है। वह मृत्यु को सुगमतर बनाती है, इस का अर्थ यह नहीं है कि वह जीवन को असम्भव बनाती है।

किंतु यान्त्रिक उन्नति आत्मा को प्रेरणा नहीं देती; और वह प्रेरणा आवश्यक है। उस प्रेरणा के स्रोत की खोज आधुनिक मानव की खोज है।

* * *

लोक-कल्याण का अर्थ जब परिस्थितियों का प्रतिमानीकरण समझ लिया जाता है, तब शिक्षा का अर्थ भी मानसिक प्रतिक्रियाओं का प्रतिमानीकरण हो जाता है। तब हम परिस्थिति की विशिष्टता को अरक्षित होना समझने लगते हैं और भाव-प्रतिक्रिया की विशिष्टता को अशिक्षित होना।

शिक्षा विवेचन की परिपाटी देती है। जो शिक्षा विचार शक्ति की बजाय भावना का नियमन करना चाहती है, वह सर्वसत्तावाद की चेरी है।

दो

क्यों, जब-जब मैंने पूछा कि मैं किस की बलि दूँ, तब-तब तेरा उत्तर एक प्रश्न हुआ। "तू किसे अधिक चाहता है?"

एक विकृत उपपत्ति : अगर मैंने किसी की बलि देने का निश्चय कर

ही लिया है, तो मुझे केवल अपने को यह विश्वास दिलाना शेष रह जाता है कि मैं उससे प्रेम करता हूँ।

सर्वसत्तावादी स्वतन्त्रता से कितना प्रेम करते हैं?

काश कि मैं अपने आप से कुछ अधिक प्रेम करता—क्योंकि तब मैं अपने को बलिदान के लिए उपयुक्त महत्त्व और गौरव दे सकता!

अथवा मैं अपने को कुछ कम प्रेम करता—ताकि दूसरों का बलिदान करने में मुझे द्विधा न होती!

* * *

प्रेम के आयाम में मैं जानता हूँ कि जो प्रेम करता है वह अकेला है।

दुःख के आयाम में जानता हूँ कि जो दुःख भोगता है वह अकेला है।

संवेदना के दूसरे आयामों में भी क्या मैं नहीं जानता कि उस आयाम का अनुभावक भी अकेला है?

अर्थात् : क्या 'होना' ही 'अकेला होना' नहीं है?

* * *

मानव सभी एकाकी हैं यद्यपि पूर्वापर सभी कालों में नहीं। किंतु काल-पूर्वापर होने के साथ-साथ सभी समवर्ती भी हैं, अतएव प्रत्येक मानव का एक अंश सर्वदा एकाकी होती है।

यह एकाकी अंश ही प्रेम कर सकता है, शेष मानव तो केवल कामना करना जानता है। और इसी लिए त्याग भी यह एकाकी ही कर सकता है, शेष मानव नहीं।

परिणाम : मानव का जो अंश सर्वाधिक अनासक्त है, वही सब से अधिक सहता है और अपने अस्तित्व का अनुभव करता है।

* * *

सख्य मानव की स्थिति है।

अकेलों की भीड़ से अकेलापन नहीं मिटता, किन्तु अकेले के आत्मदान से मिट सकता है।

तीन

मेरी वेदना ही मेरी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। यदि मुझे स्वतन्त्र

निर्वाचन का अधिकार न होता तो मुझे वेदना भी न होती। क्योंकि या तो मैं निर्विकल्प भाव से वही कर्म करता जो सही है, या निर्विकल्प भाव से उसे स्वीकार करता जो सही नहीं है।

*　　　*　　　*

मेरी विकल्प की स्वतन्त्रता का और क्या प्रमाण है, सिवा मेरी वेदना के ?

*　　　*　　　*

क्या मैं इस लिए स्वतन्त्र हूँ कि मैं नगण्य हूँ, कि मेरा कोई मूल्य नहीं है ?

चार

अमरत्व का अर्थ अनन्तकाल तक जीवित रहना नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अनन्त काल तक मरते रहने का ही दूसरा नाम है। अमरत्व तभी सार्थक है जब वह काल-निरपेक्ष हो—अर्थात् जब वह एक अनुभूति हो, एक मनस्थिति हो, दृष्टि हो।

*　　　*　　　*

मैं या तो इस क्षण में अमर हूँ, या कभी नहीं हूँ

पांच

उपलब्धि के बिना मूल्य नहीं है; किंतु मूल्य केवल उपलब्धि में ही नहीं है, वह उस गहराई में भी है जिस पर उपलब्धि हुई हो।

प्रत्येक वस्तु जो अपनी माप है, उस गहराई की भी माप है जिस में उस की रचना हुई है।

*　　　*　　　*

सत्य इस से कम सच्चा नहीं हो जाता कि उसे थोड़े लोग जानते हैं।

पर सत्य इस से झूठा हो जा सकता है कि उसे हर कोई जानता है।

छह

ईश्वर ने अन्धकार में 'न-कुछ' से सृष्टि की।

अतः सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
न-कुछ ।
ईश्वर ने चित् से सृष्टि की कल्पना की।
अतः सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
चित् ।
ईश्वर ने अपनी तपन की पीड़ा से सब कुछ रचा।
अतः मूल रहस्य क्या है ?
पीड़ा ।

सृष्टि रच कर उसे अपने से अलग करके
ईश्वर के पास क्या बचा ?

आनन्द ।

अतः चरम उपलब्धि क्या है ?
आनन्द ।

किंतु
ईश्वर से अलग हो कर
आनन्द ईश्वर को सौंप कर
मानव के पास क्या बचा ?

स्वातन्त्र्य ।

अतः चरम उपलब्धि क्या है ?
स्वातन्त्र्य ।

अज्ञेय की तीन कविताएं

सागर तट की सीपियाँ

सीपियाँ ।
ये शुभ्र-नीलिम :
दर्द की आँखें फटी-सी
जो कभी अब नहीं मोती दे सकेंगी ।

यह गन्ध-दूषित
मुख-विवर जो किरकिराते रेत कन से
अचकचा कर अधखुला ही रह गया है ।

ये बन्द, बाहर खुरदुरी, छेदों-भरी :
हाय रे, अपनी घुटन का ले सहारा मुक्त होना चाहना
निस्सीम सागर से—
उसी के उच्छिष्ट का।

ये टूटी हुई रंगीन :
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये,
रेत से घिस चले-से भी स्निग्ध, रंगारंग --
जैसे प्यार।

और यह जो ---
चलो, यह अच्छा हुआ जो लहर उसको कोख में लेती गयी --
न जाने क्यों मुझे उसके
कँटीले रूप से संकोच होता था ;

देहरादून
मई १९५६.

रूप की प्यास

हृदय के भीतर से

सहसा कुछ उमड़ कर बोला :
सुन्दर के सम्मुख यह तुम्हारी जो उदासी है—
वह क्या केवल रूप, रूप, रूप की प्यासी है?
जिसने बस रूप देखा है
उसने केवल कुछ चाहा है
भले ही कितनी भी उत्कट लालसा से चाहा है
पर जिसने दिया है अपना दान
उसने अपने को, अपने साथ सब को
अपनी सर्वमयता को निबाहा है।

मैं गिरा : पराजय से, पीड़ा से
लोचन आये भर-से
पर मैंने मुँह नहीं खोला।

डैन्यूब के तट पर
आस्ट्रिया—जून १९५५.

बर्फ़ की झील

चट-चट-चट कर सहसा तड़क गये हिम खंड
जमे सरसी के तल पर
लुढ़क-पुढ़क कर स्थिर...
वसन्त का आना
यद्यपि पहले नहीं किसी ने जाना—
होता रहा अलक्षित ।

नयी किरण ने छुए शृंग : हो गये सुनहले
बहले सारे हिमद्वीप ! हाँ, गाओ—
"हेम-किरीटी राज-किशोरों का दल
नव-वसन्त के अभिनन्दन को मचल रहा है ।"
गाओ, गाओ : गान नहीं झूठा हो सकता !

गाओ !
पर ये हेम-मुकुट हैं केवल :
दूर सूर्य के लीला-स्मित से शोभन
कौतुक-पुतले !

नीचे की हिमशिला पिघल कर जिस दिन
स्वयं मिलेगी सरसी-जल में
नव-वसन्त को उस दिन
उस दिन—उस दिन
मेरा शीश झुकेगा !

क्योंकि तपस्या
चमक नहीं है
वह है गलना
गल कर मिट जाना—मिल जाना—
पाना ।

कोपेन हेगेन, डेन्मार्क
जुलाई १९५५.

असीम काल : एक अनन्त वर्तमान

उपन्यास का अंश और

एक कविता

पाषाण

अपने सम्बन्ध में कुछ

—डरते-डरते ... ...

अनंतकुमार पाषाण

बहुत दिन हो गये। स्वयं अपने पर व अपनी रचनाओं पर एक टिप्पणी लिखनी है। एक योजना का यह आग्रह है। मैं डरता हूँ।

साहित्य लिखता हूँ—यों ही। साहित्य मेरा ध्येय नहीं है। ध्येय है ईश्वर। साहित्य उन्हीं के लिये है।

देश का बन्धन मुझे नहीं चाहिये। किसी को नहीं चाहिये। काल की समस्या बड़ी है।

सृजन के क्षण में काल अटूट है। भूत और भविष्य का सङ्गम सृजन का क्षण है। असीम काल एक अनन्त वर्त्तमान है।

काल की संयोजक शक्ति की उपलब्धि के लिये मैं अहङ्कार को पूर्णतः नष्ट करने में प्रयत्नशील हूँ। "मैं करता हूँ," का भाव न हो, तो अहङ्कार न होगा।

श्रेष्ठ कला में मुझे लगता है, 'वास्तव' नहीं होता। कला का 'यथार्थ' जीवन के 'वास्तव' से कहीं अधिक विशाल है। वर्ड्स्वर्थ ने जिन डैफ़ोडिल के फूलों पर कविता लिखी है, वह उसने स्वयं अपने भीतर देखे थे—सुनहरी पाँखरी वाले वास्तविक फूल मुरझा सकते हैं, वर्ड्स्वर्थ के डैफ़ोडिल फूल नहीं मुरझा सकते।

अहङ्कार के जाने से व्यक्तित्व की रुचि-अरुचि का लोप हो जाता है। पक्षपात नहीं रहता। तब पकड़ आती है।

पानी जिस बर्तन में रखो, उसी का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उसमें सब स्वरूप गोपन हैं।

व्यक्तित्व की सीमा टूटने पर समभाव आता है। तब चोर का वर्णन करने में जितना आनन्द आता है, उतना ही आनन्द सन्त के चित्रण में आता है। द्वैत नहीं रहता।

अद्वैत की इस स्थिति में दिखता है—भगवान ही अनेक रूपों में अनेक खेल खेल रहे हैं। सामाजिक क्रांति भी उनका एक खेल है।

भाषा लेखक की पराजय है। काल से शासित भाषा में काल के परे का, देश के परे का अनुभव पकड़ने का एक ही उपाय है।

भाषा के प्रतिष्ठित अर्थ सम्बन्धों को तोड़, जैसे मकड़ी अपने भीतर से तार निकाल कर जाला बुनती है, वैसे भाषा बुने!

इन बड़ी-बड़ी मान्यताओं के आधार पर मुझ जैसा छोटा आदमी लिखने की चेष्टा करता है, यह भी किसी अन्य की ही एक लीला है।

"आभा ! जिस तरह के प्रेम की तुम बात करती हो वह केवल स्वतन्त्र भोगवाद है। उसके पीछे परिष्कार नहीं, क्षय है।"

और अब आभा रो रही है। आभा, कि जो इतनी कम उम्र में ही बुढ़िया दिखने लगी है। जिसने जीवन को पूरा भोगा है। उस भोग का नाम शुरुआत में था 'इन्टेलेक्चुअल फ्रेंडशिप', फिर हुआ 'इमोशनल आउटलेट' फिर हुआ 'रेशनल आउटलुक' ! अब यह सब 'लिबरल वे' है— स्वतंत्र मार्ग है।

नकुल ने अपनी आस्था को चूर-चूर कर दिया है। प्रेम के किसी परिमार्जक स्वरूप की सम्भावना उसके अपने जीवन के लिए नहीं रह गयी है। वह सोचता है और हँस देता है। उस बालक की तरह है वह, जिसे जन्म के बाद से ही माँ का दूध नहीं मिला। अब तो उम्र भी नहीं रही है मेरी उस पय की याचना की ! मैं जीवन में भोग के पीछे दौड़ा था पर भोग मेरे लिए नहीं है। मेरे लिए योग है।

बम्बई के बहुत बड़े एक होटल में बैठा नकुल देख रहा है। वेटर है जो साफ सुथरे कपड़े पहिने इधर से उधर घूम रहे हैं। एक साधारण क्लर्क के वस्त्र कभी इतने साफ़ नहीं होते।

जिस जगह वे लोग बैठे हैं उसे फैमिली रूम कहते हैं। हिफ़ाजत है दुनिया की नज़रों से, तो आभा का रोना जारी है !

काश, कि मैं रो सकता ! यह भी कितने काम की चीज़ है। दर्शक के मन में एकदम से घर कर लेने का तरीका है। इस तरीके को मौके-बेमौके इस्तेमाल करना चाहिये। और नकुल को मन ही मन कोफ़्त हो गया। वह रो क्यों नहीं सकता ! हेलन थी कि उसके पास आकर रोकर चली गयी। अब आभा रो रही है। यह उबल-उबल कर फफकना जिन्दगी का रास्ता नहीं है। करुणा कवियों और अपाहिजों में पायी जाती है। बलवान समरस होते हैं। और नकुल आज आभा की आत्मा की चीर-

फाड़ करके देख लेना चाहता है—उस भ्रामक माधुर्य के पीछे का छल, जो आसानी से पकड़ में आने वाला नहीं है।

"रोने से क्या होगा आभा! मुझ पर रोने से कोई असर भी हो जायेगा तो तुम्हारा मसला तो हल नहीं होने का।"

और आभा ने मुँह ऊपर उठाया। उसकी आँखों में अहंकार था और विद्रोह था। "शट अप!" वह बोली, "कौन तुम पर असर डालना चाहता है?"

और बहुत कुछ नकुल के सामने साफ़ होता जा रहा है। भोग की उस असीम लालसा के पीछे की वृत्ति खुलती जा रही है। आज वह निर्विराग है। कहीं कोई अपेक्षा उसे नहीं है। फलतः वह सशक्त है। पानी की तरह सबका है! वैयक्तिक इच्छा के जाल को उसने तोड़ डाला है।

उसे याद आ रहा है, जब वह कालेज में पढ़ता था, एक लड़की उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देती थी·········

एक दिन रात को दस बजे गर्ल्स कालेज की दीवार फाँद कर अमिता उसके कमरे में आयी। वह बैठा पढ़ रहा था एक दस्तक हुई। उठकर उसने द्वार खोले।

"क्यों अमिता?"

और अमिता अन्दर आ गई है, और उसकी खाट पर बैठ गयी है। उसका मन आर्द्र हो उठा है। कोई लड़की है दुनिया में जो उससे मिलना चाहती है!

"इस वक्त तुम आई कैसे अमिता? तुम्हारे होस्टल में तो सात बजने के बाद बाहर निकलने की मनाही है न?"

"उंह!" कह कर अमिता ने मुंह बिचका दिया।

और नकुल मेज के सामने बिछी अपनी कुर्सी पर बैठ गया। इस जगह सब शून्य है। उस शून्य में रोज़ असंख्य चक्रवात बन कर टूट रहे हैं।

"अमिता यह ठीक नहीं है। अगर तुम्हें कोई देख लेता तो!"

"मैं दुनिया की परवाह नहीं करती।"

और यही मुश्किल है। आभा दुनिया की परवाह नहीं करती! जहां उसके भोग को दुनिया ने भोग कहा है, वही आभा आज नाराज़ हो गयी है—"मैं दुनिया की परवाह नहीं करती!"

नकुल ने दुनिया की परवाह की है। उसने माना है कि दुनियां उससे अलग कुछ नहीं हैं! नैतिकता कोई कानून नहीं है। यह सब तो एक सलीका है! जिसे सलीका नहीं, वह गंवार है!

वेटर अन्दर आया। उसे शक हो गया कि यह कुछ रोमान्स का मामला है। बम्बई का तीन चौथाई रोमान्स होटलों में ही पनपता है। नकुल को लगा जैसे उलझन हो रही है। यह वेटर समझता होगा कि नकुल उन असंख्य आदमियों में से एक है जो यहां के होटलों में अपनी चाशनी का कटोरा लेकर जाते हैं और उसे आराम से चाटते हैं।

और नकुल जो चाशनी से अपरिचित है। जिसने जीवन को ज्यादा गंभीरता से समझा है, वह अब क्यों इस तरह पराजित होगा इस विशाल मिथ्यात्व के सामने?

वह एक बार फ़िर से जन्म लेना चाहता है। एक बार फिर नये सिरे से सब कुछ शुरू करना चाहता है। और शायद आभा भी यही चाहती है। दुनिया का हर एक विवेकहीन व्यक्ति यही चाहता है!

होटल में से निकल जाने के बाद भी नकुल आभा के साथ ही है। यह लोग चुप चल रहे हैं, जैसे पथ अनन्त है। आभा ने हाथ के इशारे से एक टैक्सी रोकी—"हिन्दुस्तान मोटर्स!"

बिजली के खंभे गोल चक्करों में नाचते चले जा रहे हैं! टैक्सी में से दुनियाँ अपने से अलग मालूम होती है। टैक्सी ऐसे चली जाती है जैसे पथ उसके लिए बाहरी है। भीतर तो पूर्ति है। आवश्यकता की स्वीकृति है। इस सब के परे जैसे अनन्त विश्व हैं। प्रत्येक विश्व की अपनी सीमा है—अपनी कुण्ठा है। प्रत्येक विश्व का अपना पार्थक्य है; अपनी दांभिकता है। इस पार्थक्य, इस सीमा से परे कुछ भी लेकर चला जा सकता है क्योंकि परे नैतिक संतोष है, अपने को किसी भी तरह प्रसन्न कर लेने की क्रिया है। नकुल देख रहा है। टैक्सी जैसे अपने आप में अदृश्य हो गयी है। सीढ़ियाँ हैं। एक के बाद दूसरी। पाँच समाप्त हुईं कि मोड़ आ गया, मोड़ के बाद फिर पाँच सीढ़ियाँ। पुरानी, सँकरी—जैसे किसी तहखाने का रास्ता हो—पत्थरों की दरारों में से सूखी घास झाँक रही है, और नीचे ही नीचे चलते जाना है। नीचे जहाँ सीढ़ियाँ और आगे चली गयीं हैं और अँधेरा गहरा होता गया है। जहाँ में हमेशा अन्धेरा

ही रहता, प्रकाश के भोक्ता तो फूल होते हैं। फूल वह हैं कि जिनका पोषण जड़ें करती हैं।

और फिर आगे सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ—जो उन तहखानों में गयी हैं जहाँ सैकड़ों मन सोना बोरों में चुरा कर रक्खा है। बोरियाँ जो कि इतनी पुरानी हो गयी है कि मिट्टी से मिल जाना चाहती है और धूल बेतहाशा है।

सीढ़ियों पर पतले-पतले साँपो की सी प्रकाश की रेखाएँ चढ़ने लगी हैं और फिर मोड़ है।

नकुल मुड़ गया है, तालाब है। गन्दा पानी उसमें भरा है। एक आदमी वहाँ भोग की अग्नि पर सुखों की दोतार चाशनी बना रहा है।

नकुल ने उसे ज़मीन पर दे मारा और पटख-पटख कर उसका सिर फोड़ दिया। उस सिर में दरार पड़ गयी। एक बार और मारा तो उसके दो टुकड़े हो गये। अन्दर से निकला नारियल का सा गूदा!

वह आदमी कौन है? वह जनेजा साहब हैं, दिलीप कुमार बांन्चू है, और शायद वह आदमी मैं भी हूँ......

टैक्सी उड़ी चली जा रही है। इरॉज सिनेमा पर बहुत भीड़ है और फिर मोड़ है। उस मोड़ पर सुनसान है, सुनसान कि जो गंजा है, बूढ़ा है। सुनसान कि जो उकताट है!

हिन्दुस्तान मोटर्स......

"मैं टैक्सी पर बैठ बैठ कर थक गयी हूँ।"

नकुल हंस दिया। टैक्सी जैसी तकलीफदेह सवारी पर बैठ कर कोई भी थक जायेगा, उसने सोचा।

आभा खट खट करती हुई दुकान के अन्दर घुस गयी। और नकुल यन्त्रवत उसके पीछे-पीछे चल अन्दर पहुँच गया। मोटरें खड़ी हैं—चमकती हुई नयी।

सेल्समैन दौड़ता हुआ आया। "जी" उसने झुक कर बिना किसी प्रश्न के उत्तर दे डाला।

"स्टुडिबेकुर!"

देखी गयी। खरीद ली गयी। नकुल देख रहा है, उत्तेजना के क्षण......क्या होता है!

उसे याद आया। उसके चाचा फॉरेस्ट ऑफीसर थे। उनके पास दो मोटरें थी। एक थी 'सनबीम'–जर्मन मेक और दूसरी थी 'एसेक्स'!

सनबीम बहुत ठाठ की गाड़ी थी। बहुत बड़ी और कुशादा। उसमें अन्दर से बत्ती जलती थी। जब वह गाड़ी खरीद कर लाई गयी थी, नकुल कितना उत्तेजित था।

और एसेक्स बिचारी थी अपनी काम चलाऊ। उसको नालों पर कुदा दो, पत्थरों पर चढ़ा दो पर चूं तक नहीं करती थी। और एक बार जब उन चाचा के साथ नकुल भी उनके दौरे पर गया था, तो वह खिड़की पर ठोढ़ी टिकाए बाहर ही देखता रहा था।

तीसरे पहर की फ़ाख़्तई धूप मुरझाने लगी थी और किसी प्रेम-क्लान्ता नायिका सी ज्योति शर्मा रही थी। जंगल था, और जंगल था, और जंगल था। नकुल के चाचा पीछे बैठे थे और ड्राइवर के सामने दर्पण में उनकी उदास शक्ल स्थित थी—धक्कों से कभी कभी अवश्य हिल उठती थी——नकुल उस शक्ल को देखने से प्रेरणा पाने का अनुभव कर रहा था। और आगे ड्राइवर की सीट के पास बैठा था नकुल। ड्राइवर जो बहुत लम्बा था, दुबला था छोटी-छोटी उसकी आंखें थीं——चुन्नी-चुन्नी। सूखे हुए आटे सा उसका रंग था। मूछें उसकी भूरी थीं। होंठ उसके गुलाबी रहते थे हमेशा और कानों में वह सोने के कुंडल पहने रहता था जो हमेशा चलते हुए हिलते थे। नकुल उन हिलते कुंडलों को देखता था!

मगर मुझे जंगल पार करना है। मोटर आभा ने खरीद ली है। एक दिन आभा से कहूंगा, कि मोटर पर बिठा कर मुझे जंगल के पार ले चलो!

और स्टूडिबेकर गाड़ी आभा बाहर निकाल लायी और नकुल को अपने पास ही बिठा लिया है आभा ने। नयी गाड़ी में कितना उल्लास होता है!

नकुल सोच रहा है। जंगल की वह धुंधली सड़क कि जिस पर वह बूढ़ी एसेक्स भागती ही चली जाती थी। पीछे पीछे छूटती जाती थी दुनिया और आगे आगे नये नये रास्ते बनते जाते थे। नकुल एकदम नये रास्ते पर नहीं चल सकता। वह तो धीरे धीरे पुराने रास्ते को नये रास्ते पर ले जा कर नया रास्ता बना देगा।

मोटर के समाने टिटहरी आती है और फुर्र से उड़ जाती है। तपी हुई राह को खरगोश काट जाते हैं। कई बार गिलहरियां दौड़ जाती हैं। पेड़ पीछे को भाग रहे हैं। ढलानों पर के साये औंधे मुहं लटके हैं; कुल्फी के शकल की एक चट्टान मैदान की तश्तरी में रक्खी है।

नकुल देख रहा है। पेड़ जैसे कुछ बोलना चाहते हैं, पर इसलिए नहीं बोलते कि उनकी भाषा कोई इन्सान समझ सकेगा, इसमें उन्हें शक है। नकुल उनसे बात कर रहा है। हर छूटे हुए पेड़ की अधूरी बात को अगला पेड़ पूरा कर देता है। और एक जगह गाड़ी रुकी। नकुल अपने चाचा के साथ उतरा तो उसने ताजी लौकियां लटकती देखीं। हरी लौकियां! मज़ा और अब नकुल आभा स्वतन्त्र हैं कि जहां चाहें जायें, तो नकुल प्रसन्न है। आज उसे एक युवती के सामीप्य की जरूरत है, क्योंकि वह अपने को परखना चाहता है कि जिस आग को उसने थपकी देके सुला दिया है, वह पूरी तरह सोई भी है या सिर्फ बहाना करके आँख बन्द करके पड़ी है। आभा से कम से कम यह तुष्टि तो उसे है ही कि लो वह विजयी हो गया है। जिस स्त्री ने एक दिन उसकी अवहेलना की थी, वही उसे अब लिए चलती जाना चाहती है।

आभा जैसे फिर जवान हो गयी है। अनेक युवकों को बाँटा हुआ यौवन-अमृत उसने किसी मन्त्र बल से वापिस लेकर अपना घट भर लिया है। मानों उन अमृत के लुटेरों से उसने कहा है—"लाओ, हमारा अमृत वापिस कर दो! हमें नहीं देना!" और अपने घट को पुनः भर कर आई है अपने आद्य प्रेमी के पास आद्य प्रेमी जो 'मात्र' है। उसने अनुभव से जाना है। शेष तो सब लूटपाट है। अधिकार-लिप्सा की बात है। अपने प्रेम को अनेक लोगों में बाँट कर जब उसे तृप्ति नहीं हुई तो वह पुनः आई है अपने आद्यप्रेमी के पास। आद्यप्रेमी कि जो मानों प्रतीक्षा कर ही रहा था!

और नकुल जैसे आज ऐसा अनुभव करना चाहता है कि वह अपने को भी भूल जावे! अच्छा अभिनेता तो वही है न कि जो स्वयं अपने को भी भुला देता है। शून्य में चक्रवात बनने आरम्भ हो गये हैं।

नकुल मन ही मन एक कविता याद कर रहा है। मानों अभिनेता

अपना पार्ट याद कर रहा है। इसी में नजात है, मुक्ति है, अभिनय का अर्थ है—

मोटे घने जंगलों में लिपटे चिपटे से
सर्पीले रस्ते जो ऊपर को उभरे थे
आगे-आगे, मेरे कदमों से भी आगे जाने के द्रुततम प्रयास में
भाग रहे हैं, केवल पीछे को मुड़ मुड़ कर
देख कभी लेते हैं
मेरी आँखें वहशत में कुछ ढूँढ़ रही हैं
किसी भीड़ में खोये दो छोटे बच्चों सी......

चौपाटी की तरफ जा रही है वह स्टुडिबेकर! चौपाटी कि जहाँ समन्दर का छल है, कि जहाँ महासमुद्र की उन्मद लहरों में मनुष्य गन्दे दोनों को फेंक कर तृप्ति का अनुभव कर लेता है। चौपाटी, जहाँ सड़ी हुई भेल पूरी को अपने पेट में ठूँस कर आप घर आकर खाना नहीं खाते। वह एक दूसरा छल है कि आप सांस्कृतिक उन्माद में भारतीय विद्याभवन में घुस जायें :—

ऑक्टोपस की खून चूसने वाली लम्बी टाँगों की सी
विटप-डालियाँ बल-खाती सी बढ़ी आ रही हैं
मानों मुझको कस लेने,
भूखा है, सारा जंगल प्यासा है, फिर भी
मैं इस जंगल में जाऊँगा......
शतरंजों की भग्न बिसाती की अनुकृति सी
मैदानों की लम्बी काया चौड़ी होकर पड़ी हुई है!
नाजुक पीली कामातुर बेशर्म हवाएँ,
बरगद जिनको मठाधीश सा
शत-शत चाबुक मार दण्ड देता रहता है शाम सबेरे!
यह तो बड़ा क्रूर जंगल है......

मोटर गति में बही जा रही है
जैसे नाइल नदी में पीला पत्ता भर कर बह उठता है,
बिम्बक-दर्पण ड्राइवर के जो पास लगा है

९

पल पल मरते जाने वाले, पुनः पुनः पैदा हो जाने
को चिर आतुर
रस्ते का एक्स-रे सा, दर्पण काँप रहा है...
तनिक गुलाबी और फिरोज़ी बीती यादें
जिनको समय-कीट ने खाकर ख़तम किया है...

मोटर गति में जहाँ जा रही; खरहे पथ को काट रहे हैं,
मोटर का तप जाने वाला बूढ़ा इंजन क्रंदन-कातर हाँफ रहा है,
आज चला हूँ मैं फिर से वह स्वाँग रचाने,
अपनी बाहों में अपनी ही छलना का प्रतिबिम्ब उठाने
जिसे प्रणय कह विश्व लोक में खो लेता है...

"क्या भुनभुना रहे हो ?" आभा ने इलैक्ट्रिक हार्न बजाते हुए कहा।

"एक कविता है ?"

"कविता !" आभा हँस पड़ी।

"हाँ, कविता !" नकुल बोला। और फिर मौन। केवल मोटर की भन्न भन्न थी और ऐसी सड़क थी जो लगता था हमारे ऊपर ही चढ़ आयेगी। ट्रकें निकल जाती थीं.........आतीं थी टैक्सियाँ...और फिर निकल जाती थीं......और...

"तुम कवि भी हो नकुल ?" आभा ने मानों व्यंग्य से पूछा। आप से तुम और नकुल जी से मात्र नकुल ! यह तो खूब रहा। प्यार की नयी अदा है, कौशल है। नकुल मन ही मन हँसा, "काफी होशियार हो गयी है आभा घाट घाट का पानी पी कर।"

और नकुल देख रहा है—विंडस्क्रीन पर रोशनी के कसीदे बन बन कर मिट रहे हैं ! उसको लगता है आभा का मन इस विंडस्क्रीन की तरह है लासिका ज्योति उसमें आती है, जाती है—अनन्त रोगों का लास्य है किन्तु उपहास से उसे अस्वीकार करने की चेष्टा की जा रही है।

"आभा तुम हँसती हो, रोती हो, जैसे इस हास-रोदन में छिप जाना चाहती हो।"

"ओफ़्फ़ो ! सायकालोजिस्ट ! बात को जड़ से पकड़ लिया। भई, मानव मन का बहुत ज्ञान है तुम्हें।"

और मोटर चल रही है। सड़क है जो ऊपर चढ़ी चली आना

चाहती है, पर हार कर गिर पड़ती है, पराजित हो जाती है। इस सड़क को नकुल गति में लहराता देख रहा है, क्योंकि आभा गति के विन्यास में अपनी स्थिति को चीन्हने देना नहीं चाहती !

तो आज आभा अपना समस्त आक्रोश, आक्रमण-चेतना इस मोटर के माध्यम से व्यक्त कर डालेगी क्या ? आज क्या अपनी पराजय को परोक्ष रूप से उसे स्वीकार ही कर लेना है ! क्यों नहीं एक और प्रयास करतीं तुम ?

और प्रयास के पीछे जो एक निष्ठा, एक विश्वास चाहिए वही तुम्हें चाहिए न ! मैं दूँगा तुम्हें वह ! मेरे कन्धे पर हाथ रख कर तुम ऊपर चढ़ सकती हो आभा। आज तुमने अनन्त क्षितिजों की स्वर्ण अर्गलाएँ खोल दी हैं। मेरे शैशव के समस्त सूर्योदय निचोड़ कर एक क्षण में भर दिए हैं। जीवन मुकुर पर अलंकृतियाँ पकड़-पकड़ कर छोड़ दी हैं। और नकुल को लग रहा है जैसे कसौटी चिटख रही है । परख अपूर्ण ही रह जायेगी।

"आभा मेरे और अपने बीच व्यंग्य की कृत्रिम दीवार मत खड़ी करो ! दीवारों को तोड़ दो आभा ! जीवन के निकटतम पातालों के उप-वन तुमने अपने यौवन रक्त से सींच डाले हैं ! अब पृथ्वी पर पुनः जन्म लो।"

"पुनर्जन्म की फिलासफी शुरू कर दी यह तो तुमने ! आकाश और पाताल को बाँधने लगे। अच्छी बात नहीं है नकुल ! तुम भी मुझे अपनी गम्भीर बुद्धि से धोखा देना चाहते हो !"

"गम्भीर बुद्धि !" और नकुल हँस पड़ा—"बुद्धि तो है ही नहीं आभा ! बुद्धि होती तो मैं यहाँ ऐसा होता !"

"क्या होते फिर ?" आभा ने पुनः व्यंग्य किया । सामने से एक आदमी जा रहा था। आभा निरन्तर हार्न बजाती रही। जब मोटर बिलकुल पास आ गई, तब हटा वह।

"बिचारा मालूम होता है मरना चाहता है ?" आभा जी खोल कर हँसी। लगता है मानो अब आभा पारा बन जायेगी, पकड़ में नहीं आयेगी। मगर नकुल उसी पारे को ग्रहण करके उसी को अपने माप का माध्यम क्यों न बना ले। मैं गिरना चाहता हूँ। इतनी बुरी तरह गिरना चाहता हूँ कि हाथ-मुँह टूट जाये। पतन के समान कोई भोग नहीं। और भोग से मैं सदा वंचित रहा हूँ।

"आभा, मुझे अपने यूरोप के टूअर के बारे में कुछ बताओ ना ?"

"क्या ?"

"यही कि कैसे इंज्वाय किया तुमने वहाँ ?"

"अब सोचती हूँ तो लगता है कि इंज्वाय तो सदा दूसरे करते हैं। मैं तो केवल साधन हूँ।"

"यूरोप में भी यही हुआ क्या ?"

"और क्या होता ! पुरुष सब जगह एक ही से हैं। एक ही डायलॉग सुनने को मिला। दिल्ली से रोम तक—'तुमने मेरे जीवन में आमूल क्रान्ति पैदा कर दी आभा ! मैं खो गया था, भटक गया था, तुमने मुझे मार्ग दिखाया। कितनी अच्छी हो तुम ! भगवान ने तुम्हें जैसे मेरा उद्धार करने को ही भेजा था।" और आभा रुककर बोली, "जहाँ गयी पतित-पावन बनकर ! बहुत पुण्य कमाया है मैंने !" और आभा पुनः हँस पड़ी। नकुल उस हँसी की आँच में मोम की तरह पिघल रहा है। कसौटी का नाश हो गया है ! परख समाप्त हो गयी है ! नकुल सँभलो ! तुम्हारा पार्थक्य टूट रहा है। दया और करुणा की राक्षसी प्रवृत्तियाँ मुँह बाये तुम्हारी ओर लपक रही हैं। आये हो तुम पाने, पर खो रहे हो। जीवन में अनन्त बार खोकर अब पाने का संकल्प लेकर आये हो। प्रमाणित करने आये हो कि दिलीपकुमार वांचू से तुम श्रेष्ठ हो !

और कार जा रही है।

जिन्दगी के पहिये दौड़े चले जा रहे हैं। आगे पीछे, दायें-बायें सर्वत्र शून्य की नीलिमा का प्रसार है। ठूँठ हैं, पेड़ों के सूखे-सुखाये कंकाल हैं और अन्धे कुएँ हैं कि जिनमें पानी कभी पैदा नहीं हुआ, जिन्हें खोदते ही खोदते मजदूर उसमें गिर कर मर गये—ऐसी ही व्यर्थता है। पहाड़ियों का कलेजा यहाँ बैठा जा रहा है। फ़रेब अजगर की तरह यहाँ आग उगल रहा है !

बच्चों की किताबों वाली तस्वीरों सी सड़क है कि एक मस्जिद भी खड़ी है उस पर—किसी मानिनी सी, जो अपने हाव भावों से अपने वृद्धत्व को धोखा देना चाहती है। मगर धोखा कैसा और किसे ? लोग आदत के मुताबिक पूजा भी करते हैं......

"क्यों फिलॉसफर ! फिर कोई थ्योरी बनाने लगे क्या ?" आभा मौन

तोड़ेगी। जो कहोगे, वह तोड़ेगी। उसे किसी भी रूप में सक्रिय रहना है। सक्रिय का अर्थ है आभा के लिए वाचाल!

"थ्योरी क्या आभा! मैं सोच रहा हूँ......" और नकुल जैसे कुछ कहते कहते चुप हो गया। जैसे नदी के मुहाने पर बाँध बाँध दिया!

"क्या सोच रहे हो?"

"एक जमाने में तुम कितनी अच्छी थीं। लगता था कि जैसे जीवन में बहुत कुछ है जो तुम कर लोगी और अन्य जनों की श्रद्धा प्राप्त करोगी।"

"क्या प्राप्त करोगी?" आभा ने पूछा! मोटर और तेज हो गयी थी। नकुल के स्वर को हवाओं ने उड़ा दिया था!

"श्रद्धा!" नकुल ने यांत्रिक रूप से शब्द दोहरा दिया।

"श्रद्धा?—वह क्यों प्राप्त करनी होती है नकुल? उसकी ज़रूरत कहाँ पड़ती है?"

सड़क लम्बी लम्बी होती चली गयी है—बस स्टैंड है और फिर थोड़ा आगे चल कर एक सिनेमा हाउस है कि आभा इस सब को देखने की ज़रूरत नहीं महसूस करती। उसे आगे ही आगे देखते जाना है। बच्चों जैसा कौतुक है कि देखें आगे क्या आता है! धुएँ की कड़वाहट से मुँह न बिगड़े और हाथ तापने को आग तैयार हो जाये! किसी चाँदी के बैल के उखड़े हुए सींग का सा विकृत चन्द्रमा ऐंठ गया है।

हवा के झकोरे ठण्डे और मासूम हैं। चाँद की हँसी में चालाकी जरूर है और आभा के मुख पर संकल्प है कि जो सामने आयेगा, आये—हम देख लेंगे!

बादलों के उधर और इधर

अनन्तकुमार पाषाण

बादलों के पार हवाओं में डूबती
किन्नरों की अधेड़ स्त्रियाँ रो रही हैं,
भगवान ने अवतार लेने से इंकार कर दिया है।

आदमी को अब और भी सहारे हैं,
चप्पू हैं, नाव हैं, हवाएं हैं,
खिदय्या की बात तो वह केवल
नय्या से तुक भर मिलाने को
कविता में कहता है!

वह अपने बाजू उछालेगा,
थक गया तो हँसेगा,
किसी प्रेयसि के नाम
मरने के ज़रा पूर्व कोई सन्देश भेजेगा!

बादलों के पार
वीणा पर मुख लटकाये नारद प्रशान्त हैं,
केवल भगवान कृष्ण
मंद-मंद डूबे रहस्य में मुस्काते लगते हैं।
उन्हें याद है अब भी
गन्धोच्छल पुष्प-विमल
प्यारा भाण्डीर-वन; उन्हें याद है अब भी
वृन्दावन!

दारुक चुपचाप वहाँ खड़े हैं
जहाँ अश्व भी मानों सपनों में खोये से,

खड़े हैं। शान्त-शान्त-शान्त है —
केवल उन किन्नरों की वन स्त्रियों का
गूँज रहा है रोदन !
पश्चिम के पीले—से पथराये सिंधु पर
चौड़ी चट्टान के
सीने पर सिर रख कर
एक बलवान युवक
कह रहा है रो-रो कर

"बल से यदि गर्व हो, बल का सहारा हो !
धन से यदि मद आये, मान बहुत प्यारा हो !
तो मैं इस क्षण निर्बल हो जाऊँ,
धन से चिर-वंचित यह जीवन प्रभु, हो जाये !
रूप नहीं चाहिये, प्रेम नहीं चाहिये,
साँपों-सी मालाएँ ग्रीवा में यश की यदि
इसने मुझको आयें
अपने पद-पद्मों से कुचल उन्हें देना तुम
मेरी सब वासना मिलकर हो जाय एक
मात्र एक तुममें ही !"

प्रेमियों की टोलियाँ उसे देखती निकलीं
प्रेमी फीके पड़े, तरुणियाँ सोच चलीं—
"अहा, संगमर्मर की मूरत सा फरिश्ता
काश प्रणय मेरा ले, मुझको देता प्रणय !"

और भी भीड़भाड़ करती सी छेड़छाड़
आयी औ; चली गयी;
केवल समन्दर की थुबड़-थुड़ड़ शेष रही !

फिर कुछ साधू आये, उसे देख ठिठक गये,
बोले—"यह ज्योतिदूत निर्विकल्प का निश्चय
सुन्दर अधिकारी है !"

युवक रहा अविचल पर, चिन्तन-रत लीन सुघर,

दिन बीता, रात झुकी —नीरव पथ हो गये,
केवल समन्दर की थुड़क-थुड़क शेष रही !
किन्नरों की स्त्रियाँ रोती ही मगर रहीं,
नारद का म्लान मुख वीणा पर टिका रहा,
दारुक भी था उदास,
लेकिन भगवान ने कुछ न कहा,
कुछ न कहा !

साँझ के धुँधलके में
एक क्षुद्र गली में
लालटेन के प्रकाश में लेटी भारी-सी
कोठरी अधेड़ एक
वेश्या बिसूर उठी—
'त्यागने के योग्य नहीं
मेरे कुछ पास है,
भूख की विवशता औ'
मिटता इतिहास है !
हे प्रभु, मन में पर
अभी विश्वास है—
जिसने पुकारा है, उसको उबारा है,
पतितों को तुम्हें छोड़
किसका सहारा है !"

और फिर एक बार सन्ध्या के दृग काँपे
होंठों ही-होंठों में प्रभु बोले—
"त्याग का भी सहारा इसको अप्राप्य है,
दारुक, प्रबन्ध हो पृथ्वी पर चलने का !"
किन्नरों की स्त्रियाँ गा उठीं,
नारद की वीणा झंकार उठी,
वह वृद्ध वेश्या भगवन्मय हो चली,
लोगों ने कहा—"खूब !
सौ चूहे खा कर क्या हज की तयारी है !!"

श्रद्धा : एक चमत्कार

करुणा : एक नकाब

दो कविताएं, एक नाटक

लक्ष्मीकांत वर्मा

ईश्वर की मृत्यु के बाद
बची केवल एक अवकाश ज्योति...आभास छाया।
एक ने उस अवकाश शून्य को श्रद्धा कहकर पूजा।
दूसरे ने करुणा कहकर प्रबुद्ध बनना चाहा। जो
श्रद्धा के पीछे दौड़े उन्होंने ईश्वर की मृत्यु का
कारण नहीं ढूँढा क्योंकि वह ईश्वर से लेकर श्रद्धा
तक को मानवीय स्तर से देखने में असमर्थ थे। उन्होंने श्रद्धा
को निरपेक्ष माना। इसलिये उनकी निरपेक्ष श्रद्धा
केवल चमत्कार बन कर रह गई।

स्टैम्पीड भी उसका लोम हर्षक चमत्कार है।

वे जो निरपेक्षता को मानते थे और आज तक
मानते हैं उनकी श्रद्धा रक्त-पिपासित मुद्रा में
भी, उन्हें प्रिय है। उन्होंने उस श्रद्धा को मानव
से परे रक्खा। उसके विवेक और स्वाभिमान दोनों
ही की बलि ली। स्टैम्पीड के बाद भी वह
जीवित रखी गई है...निरपेक्ष, मूल्यरहित, केवल एक काई सी...

और

वे जो दूसरे थे उन्होंने निरपेक्ष करुणा को
कोढ़ से लदी हुई वेश्या बना कर छोड़ दिया
ताकि मनुष्य उसके गलित अंग को देखे...
झूठे मूल्यों के आधार पर करुणा को
झूठे कलेवर दे। आदमी का जहर ऐसा
बना दे कि फिर वह संक्रामक बन जाय
एक प्रदर्शन से स्थिति बन जाय...निरीह, आडम्बरमय, झूठी
लिप्सामय ताकि गलत अंग छिप सकें...

किन्तु

मिट्टी ने उस श्रद्धा को केवल स्टैम्पीड
ही के रूप में लिया। मिट्टी को तो
न निरपेक्ष श्रद्धा की निहाई चाहिये

न स्टैम्पीड की कुचलाहट, उसे तो न गलित अंग
करुणा चाहिये न उसके विकल आडम्बर...उसे
तो चाहिये
केवल
वह खलरी—निर्जीव खलरी
जो अब भी अपने में कुछ सांसें संजो सके,
कुछ ताप संचित कर सके, कुछ ऐसी आंच
रख सके जो सापेक्ष हो, जो न पूजा
हो, न निर्वाण और इससे भी अधिक
जो उस रिक्तता में फौलाद को
भी दूषित कर सके, फौलाद भी गलता
लोहा बन सके, सक्रिय बन सके,
मिट्टी का सोंधापन स्वीकार कर
ममता को परिष्कृत कर सके...

क्या करेंगे उस श्रद्धा को जो केवल चमत्कार हो प्रभु का
क्या करेंगे वह करुणा जो केवल स्थितप्रज्ञ का एक
अभिनय हो

चाहिये वह साँस जो आँच को सँजो सके,
मूल्यों को पिरो सके।

'स्टैम्पीड' में
कुंभ के अवसर
की उस घटना
का संकेत है
जिसमें सहस्राधिक
व्यक्ति आधे घण्टे
के अन्दर कुचल
कर मर गये थे।

वे चरण नहीं थे । नतमस्तक श्रद्धा के दृग्पाती भाल थे
जो तर्कहीन, अव्यवस्थित संस्कार-रहित होने के नाते
अनभिज्ञ, दुराचारी चरण बन, जाने कितने चरणों के
अंकुरित मस्तक कुचल गये ।
वे मात्र भक्त नहीं थे ।
अहंकार के अन्धकूप थे जो गंगा की पावन ज्योति से
अन्तःकरण रसस्निग्ध करने आये थे ।
किन्तु जो मर गये वे अज्ञानता के शव नहीं थे,
अन्धे कुएँ थे जो तीर्थराज की पुण्य-भूमि पर
गिरे और टूट गये ।
वे जो मर गये

व्यवस्था : मलिन वसना द्रौपदी सी खुले केश दंशयुक्त
व्यंग्य सी खड़ी रही, दुःशासन को बिन सरोवर वस्त्र उठाते देख—
यह पहाड़ कपड़ों के : लाक्षागृह से
गठरियों के पहाड़
धारियों से टूटे चर की बाहें निराधार

आडम्बर : धर्मसंघों के, महामहिम मण्डलेश्वरों के ऊँचे आसन, दिव्यभाल
जैसे गोबर्द्धरे एकत्र हो कर रहे अपनी अपनी बात
बैठे घिनौने, कृत्रिम गोबर की छत पर पहन गैरिक-वसन—
मण्डलाकृत आभूषण, वैभव विषयाक्त ।

सहानुभूति : धर्म की विमाता सी पुत्रवती होने पर वंचित है वात्सल्य से;
आदमी की मौत सहज, सहजतर घटना है । इनके लिये
धर्म जीवित रहे, आदमी यदि मरता है मर जाने दो—

आदमी का ज़हर

एक प्रयोगात्मक ध्वनि-नाट्य

लक्ष्मीकांत वर्मा

(शरन का कमरा जिसमें तीन व्यक्ति बैठे हुये हैं। कमरा भी साधारण। कुछ बाँस की और काठ की कुर्सियाँ ही हैं...कमरे में एक रेडियो है...एक किनारे तिपाई पर फोन रक्खा हुआ है... ऐसा लगता है जैसे तीनों व्यक्ति बैठे बैठे ऊब गये हैं।)

कामेश्वर : न जाने कब आयेंगे हज़रत ? मीटिंग इसीलिये उनके घर पर बुलाई गई थी, लेकिन वाह रे आदमी ! ऐसा गायब हुआ जैसे गधे के सिर से सींग। जैसे हम लोगों को और कुछ काम ही नहीं है। सुनिये नरेन्द्र जी...भई मैं तो बाज़ आया तुम्हारी पशु-रक्षिणी-समिति से। अगर यही रवैया रहा तो मैं इस्तीफा दे दूँगा। पशु-रक्षिणी-समिति के लिये मैं पशु बनने के लिये तैयार नहीं। बुला लिया घर पर और खुद का पता नहीं !

नरेन्द्र : और घर भी क्या है ! यह काठ की बेडौल कुर्सियाँ...ये गन्दे बच्चे...यह फूहड़ कमरा। डीसेन्सी तो है ही नहीं उस आदमी में ! देखा नहीं है ? ढीला ढाला कुर्ता पहने, मुँह में पान दबाये, चपुले चटखाता घूमता है। साहित्यकार बनता है। पशु-रक्षिणी-समिति का संयोजक यदि हम लोगों ने न बनाया होता तो कौन पूछता ? था कोई नाम लेवा ?

(फोन की घंटी बजती है)

डा० पाल : हलो...येस ! पशु-रक्षिणी-समिति का आफ़िस यही है। डा० पाल स्पीकिंग। हलो ! हलो। अच्छा, अच्छा, कोई खास बात नहीं है। कौन शरन जी ? उन हज़रत का क्या ठिकाना ? बड़ा ही गैर ज़िम्मेदार आदमी है। जो आदमी खुद नहीं समझता उसे कौन समझा सकता है। खैर कोई बात नहीं, थैंक यू।

कामेश्वर : कौन था पाल साहेब ?

डा० पाल : मि० खन्ना थे। शरन के बारे में पूछ रहे थे। कहते थे परखों एक किताब के अनुवाद का वादा करके गये थे लेकिन आज तक शक्ल नहीं दिखलाई पड़ी। एडवान्स भी खा गये हैं।

कामेश्वर : कैसे गैरजिम्मेदार आदमी को पशु-रक्षिणी-समिति का संयोजक-चुन लिया है...सारी समिति की कार्यविधि ही घपले में पड़ी है...

नरेन्द्र : आप ही ने तो उसे सिर चढ़ा रखा है कामेश्वर जी। कुल हाईस्कूल पास, शुद्ध हिन्दी भी तो नहीं आती लेकिन हज़रत को मोग़ालता है कि अंग्रेजी भी उन्हें आती है! उस दिन जाँ पाल सार्त्र का नाम उच्चारण कर रहा था जीन पाल सार्त्र... और दावा है...

डा० पाल : दावा है (खीझकर) मैं कहता हूँ मि० नरेन्द्र, दावा है न। फिर परीशानी तुम्हें क्यों होती है? अभी भी सँभल जाओ मि० नरेन्द्र। फायदा क्या, ज़िन्दगी भर स्पेलिंग ही उच्चारण करते रह जाओगे!

कामेश्वर : डा० पाल! यह तुम्हारी कौन सी आदत है जी! जब कोई ठिकाने की बात करता है तो उलझ जाते हो। मैं तो कहता हूँ जिसे शुद्ध उच्चारण नहीं आता वह साहित्यकार बनने का दावा छोड़ क्यों न दे?

डा० पाल : जी! आपको चूँकि फ्रेंच शब्दों का उच्चारण आ गया और नरेन्द्र ने बर्नार्ड शा की सी दाढ़ी रख ली तो बस इसी एक गुण के बल पर आप बुद्धिमान हो गये। पुराने ज़माने में लोग अपने तोतों को गीता पढ़ा देते थे, लेकिन मैंने तो नहीं सुना कि कोई तोता अर्जुन बन गया हो।

नरेन्द्र : लेकिन डा० पाल...

डा० पाल : क्षमा करिये नरेन्द्र जी...मैं रेडियो ही सुनूँगा...आपके व्याख्यान से अच्छा ही होगा वह...

[रेडियो खोलने की आवाज]

रेडियो-ध्वनि— मौसमी खबरें ! पिछले कई दिनों से शहर में आँधी तूफान का समाँ छाया हुआ है यहाँ तक कि आधा शहर ही अन्धकार और पानी में डूब गया है...इस समय तक दस इंच बारिश हो चुकी है...आदमी तो मुसीबत में है ही... पशुओं के भी जान के लाले पड़ गये हैं...पशुओं की रक्षा के लिये स्थानीय पशु-रक्षिणी-समिति की एक विशेष बैठक हो रही है...समिति का कहना है कि वह शीघ्र ही पशुओं की रक्षा की कोई विस्तृत योजना प्रस्तुत करेगी...

खबर है कि एक आदमी ने एक कुत्ते को दाँत काट लिया है। आदमी द्वारा काटे गये कुत्ते ने आध घंटे में तीन आदमियों पर हमला किया और तीनों जख्मी हैं !...ज़िले के अधिकारी उस कुत्ते को पकड़ना चाहते हैं लेकिन उस आदमी की भी तलाश जारी है। आपको आगाह किया जाता है कि उसे पनाह देना अपराध है। शिनाख्त नहीं मिल रही है। शहर में आतंक सा फैला हुआ है !...आदमी और कुत्ते दोनों की तलाश है...दोनों ही गायब हैं। खबरें खत्म हुईं। यह आपके शहर का रेडियो है। अब आप साज़-संगीत का एक रेकार्ड सुनिये !...

नरेन्द्र : क्या ? आदमी ने कुत्ते को काट लिया ? आदमी का ज़हर ?... मैं तो कहता हूँ ऐसे आदमी को शूट कर देना चाहिये...क्यों कामेश्वर जी...

कामेश्वर : लेकिन यह क्या मजाक है कि आदमी और कुत्ते को काटे... क्यों डा० पाल...

डा० पाल : हो सकता है कामेश्वर जी ? यह भी हो सकता है। कुत्तों के काटने से आदमी परीशान हो गया होगा। उसका धीरज टूट गया होगा, उसका सब कुछ खो गया होगा तब, तब मजबूर होकर आदमी ने कुत्ते को काटा होगा।

नरेन्द्र : जो भी हो, चाहे जो तर्क डा० पाल दें या कामेश्वर जी आप कहें, मैं तो कहूँगा अगर आदमी का इतना पतन हो जाय कि वह कुत्तों को काटने लगे, तो जरूरी है कि ऐसे आदमी को खत्म कर दिया जाय।

डा० पाल : खत्म कर दिया जाय ! पर आदमी खत्म नहीं होता कामेश्वर जी इसे आप तो जानते हैं कि नहीं ?

नरेन्द्र : खूब जानता हूँ। लेकिन नैतिकता न रहने पर आदमी कुत्ते से भी बदतर हो जाता है, कामेश्वर जी।

डा० पाल : कौन जाने मि० नरेन्द्र हो सकता है आदमी ने कुत्ते को महज़ अपनी नैतिक रक्षा के लिये ही काटा हो...

नरेन्द्र : ज़रा धीरे बोलिये आप लोग ? यह भीतर से आवाज़ कैसी आ रही है ? कौन है ? अरे यह क्या बक रहा है ? (अन्दर से आती हुई आवाज़)

पुरुष स्वर : छोड़ो... छोड़ दो मुझे... मैं कहता हूँ छोड़ दो... यह समाज ... यह नैतिकता... यह, तुम, वह तुम्हारी आकृतियाँ... (सिसकते हुए) मुझे यह परछाइयाँ क्यों घेरे हैं... यह बौनी नन्ही... पंगु... अपाहिज परछाइयाँ... मुझे इन से दूर जाने दो... दूर... दूर... दूर... बहुत दूर... हट जाओ......

कामेश्वर : यह शरन की आवाज़ तो नहीं है ! लगता है कोई पागल है, लेकिन यह...

डा० पाल : होगा कोई। इसकी चिन्ता कहाँ तक कीजियेगा कामेश्वर जी ?

कामेश्वर : लेकिन यह आवाज़ तो शरन के घर से आ रही है।

नरेन्द्र : क्या शरन, शरन लगा रखा है ? शरन और सब कुछ हो सकता है, पागल नहीं हो सकता......

कामेश्वर : हो सकता है उसे भी कुत्ते ने काट लिया हो ?

नरेन्द्र : नानसेन्स... मैं कहता हूँ यह सब कुछ नहीं महज़ एक वहम है आपका।

(मोटर की आवाज़)

नरेन्द्र : लीजिये अदारकर साहब भी आ गये। आइये ! आइये ! डाक्टर साहब। कहिये खैरियत तो है ? उफ़, आप तो काफी भीग गये हैं।

डा० अदारकर : कहिये। संयोजक जी गायब हैं न ? मैं पहले से जानता था ? पशु-रक्षिणी-समिति का जनाज़ा दफ़नाने गये होंगे हज़रत ? अगर आप लोग भी तैयार हों तो

यह किस्सा ही ख़त्म कर दिया जाय। टेलीफोन काट दीजिये। फ़ाइल्स उठा ले जाईये। काम करना है तो किसी दूसरे के हाथ में दीजिये। शरन जैसों से कुछ नहीं हो सकता...

कामेश्वर : मेरा ख्याल है... डा० अदारकर।

डा० अदार० : आप का खयाल ही ख़याल है कामेश्वर जी... मैं कहता हूँ शरन... शरन निहायत निकम्मा आदमी है... जो आदमी चौबीस घंटे यही कहता रहता है बीबी बीमार है, बच्चे बीमार हैं, पैसे नहीं हैं...तबियत ठीक नहीं है...उसके बूते का यह सब काम नहीं है... वह निकम्मा रहा है और रहेगा।

डा० पाल : ऐसा क्यों कहते हैं डाक्टर साहब। अपनी तकलीफ़ आदमी अपनों ही से तो कहता है... हम सब भी तो एक परिवार के समान हैं...

नरेन्द्र : देखिये साहब यह परिवार-वरिवार वाली बात आप अपने ही तक रखिये... यही तो सारे दोष का कारण है।

डा० अदार० : हां जी नरेन्द्र जी बिल्कुल ठीक कहते हैं। अभी उस दिन शरन मेरे पास आया था बोला २० रु० की सख्त जरूरत है। एक हफ़्ते में दे दूंगा। मुझे भी तरस आ गया। निकाल के दे दिये। एक हफ़्ते बाद जब पैसा नहीं मिला तो फिर मैंने तक़ाज़ा किया।

डा० पाल : आख़िर यह भी तो सोचिये वह आदमी बेकार है। किसी काम का सिलसिला नहीं है। आमदनी का जरिया नहीं है, जमाना इतना बुरा है।

डा० अदार० : अजी यह सब कहने की बातें होती है पाल साहब। मैं कहता हूँ जब आमदनी नहीं है तो खर्च करने की ज़रूरत ही क्या है? जब ज़माने की हालत ख़राब है तो ज़माने के साथ चलो। मत करो डाक्टरी दवा। क्या होमियोपैथी की दवा खराब है? उसी की गोलियाँ खिलाओ! क्या जरूरत ज्यादा की!

डा० पाल : आदमी की मजबूरी ही उसकी सबसे बड़ी जरूरत होती है डाक्टर साहब।

डा० अदार० : मजबूरी कोई ओढ़ी बिछाई नहीं जाती पाल साहब। वह हटाई जाती है! क्यों नरेन्द्र जी।

नरेन्द्र : निकम्मा आदमी मजबूरी क्या हटायेगा... उसे तो सिर्फ शिकायत करना आता है।

डा० पाल : हटाइये, मेरा एक सुझाव है। शरन का एक नाटक अभी अभी रेडियो से आयेगा...उसके पीछे उसकी आलोचना करने से बेहतर है उस नाटक को ही सुना जाय। अभी तो कोरम भी नहीं पूरा हुआ है।

डा० अदार० : हाँ...हाँ क्यों नहीं...चला लो रेडियो...बिचारे को शादी में मिला है...तुम फायदा उठा लो...और भाई मैं तो चला...

कामेश्वर : जाइयेगा कैसे ? बारिश भी ऐसी हो रही है कि लगता है घर जाना मुश्किल होगा...

नरेन्द्र : बोर दोनों ही हालत में होना है, बाहर जाकर या शरन का नाटक सुनकर...चलिये जरा नाटक ही सुनें...

(रेडियो-ध्वनि)

अभी आप साज संगीत के अन्तर्गत रेकार्ड सुन रहे थे। यह स्थानीय रेडियो है। लीजिये अब आप हमारे नाटक आयोजन के अन्तर्गत शरन जी का लिखा हुआ यह नाटक सुनिये 'तंग आदमी'।

(दरवाजा खटखटाने की ध्वनि)

शशि : जाने कहाँ चले गये हैं ? जानते हैं आजकल तक़ाज़े वालों का ताँता लगा रहता है, फिर भी आप हैं कि बस ग़ायब ! आज इस संस्था की मीटिंग है। कल गोष्ठी है। फलां बीमार है। ढिकां के घर शादी है। कितना बर्दाश्त करूँ ? कहाँ तक बर्दाश्त करूँ ?

(दरवाजा खटखटाने की ध्वनि)

शशि : कौन है...बोलते क्यों नहीं...आधी रात को खट खट लगा रक्खा है...कह तो दिया महिम जी का कुछ ठिकाना नहीं कब आवें...(दरवाज़ा खोलते हुये) अरे...यह तो आप ही हैं... आज इतनी जल्दी !...मैंने तो तै कर लिया था आज दरवाजा नहीं खोलूँगी !...

महिम : तुम्हारे तै करने से क्या होता है ?...मेरी क़िस्मत तो तेज़ है,

जानती हो महिम की किस्मत जहाँ और मानों में खराब है वहाँ इस माने में तेज़ है।

शशि : हे भगवान ! कहाँ है इनकी किस्मत, जो तेज़ होगी ?

महिम : भगवान बिचारे को कोस रही हो ! कोसो, ठीक ही है। भई मैं तो किसी को भी कोसने की स्थिति में नहीं हूँ ! भगवान ने तो मेरे साथ न्याय ही किया है ! हाँ, अन्याय तुम्हारे साथ हुआ है ! महिम के साथ इस मानी में कोई अन्याय नहीं हुआ है।

शशि : आपका मतलब ?

महिम : यही शशि, मेरा भाग्य तो बड़ा ही अच्छा था। हर हालत में अच्छा था जो तुम्हारी जैसी पत्नी मिल गई। रही तुम्हारी किस्मत, वह जरूर ही खराब रही होगी, नहीं तो मुझ जैसा पति तुम्हें क्यों मिलता।

शशि : फिर वही बातें शुरू कर दीं। यह सब आप अपनी उसी चंडाल चौकड़ी को सुनाया कीजिये जो आपको मन से न चाहते हुये भी चाहने का अभिनय करते हैं। मुँह पर तारीफ करते हैं पीठ पीछे जाने क्या क्या कहते हैं।

महिम : अच्छा तो यह बात है। जाने दो शशि। वह मुझे बेवकूफ समझते हैं तो समझने दो उन्हें ? हम लोगों को दुनिया को बेवकूफ समझना चाहिये। लाओ तो लुंगी कहाँ है। कपड़े बदल लूँ।

शशि : लुंगी नहीं है।

महिम : क्यों, क्या हो गई ?

शशि : बन्दर उठा ले गया। चिथड़े चिथड़े करके रख गया है।

महिम : अच्छा खैर तौलिया तो ले आओ।

शशि : खूब बात करते हैं आप। तौलिया घर में कहाँ है ? कुछ पता है ? आज छः महीने से तौलिया घर में नहीं है।

महिम : खैर मानता हूँ। अच्छा अपनी कोई साड़ी ही दे दो।

शशि : बस यही है जो पहने हूँ। लेखक की पत्नी हूँ न, इससे ज्यादा जरूरत क्या है।

महिम : ठीक ही तो है शशि। खैर यह पाजामा ही पहन कर सो

जाऊँगा। कल सुबह रामेश्वर ही के यहाँ तो जाना है। हाँ कोई खत तो नहीं आया था ?

शशि : हाँ उन्हीं डाक्टर साहेब का है। लिखा है मैं आपको खान्दानी शरीफ़ समझता हूँ। यही समझ कर उस दिन बीस रुपये दिये थे। तीन खत छोड़ चुका हूँ लेकिन आपने कोई जवाब नहीं दिया है। वायदे करते जाते हैं पर पैसा देने का नाम नहीं लेते। सच कहता हूँ अगर इस खत के बाद भी रुपया नहीं मिला तो कानूनी कार्रवाई करूँगा।

शशि : मैं कहती हूँ क्यों लेते हो रुपये ?

महिम : तुम बीमार थी। बच्चे बीमार थे। क्या करता शशि ?

शशि : तो सुन लो मैं कहे देती हूँ। बच्चे अगर मरते हों तो मर जाने दो। मेरी लाश के लिये अगर कफ़न न मिले तो उधार लेकर कफ़न देने की कोशिश मत करो लेकिन मैं सच कहती हूँ यह बातें न तुम खुद सुनो और न मुझे सुनाओ।

(सिसकने की आवाज़)

महिम : शशि...शशि...कितनी कमज़ोर हो तुम शशि ? किसी के कहने से मैं नीच खान्दान का नहीं हो जाऊंगा।...फिर ये सब तो अपने शुभचिन्तक हैं ! इनकी बात का क्या बुरा मानना।

शशि : शुभचिन्तक हैं। आप दुनिया को दुनिया रूप में क्यों नहीं देखते। क्यों नहीं समझते कि दुनिया दुनिया है। मैं सच कहती हूँ शरन इन शुभचिन्तकों से अगर दुनिया को छुटकारा मिल जाय तो दुनिया सुधर जाय। ये शुभचिन्तक बड़े खतरनाक होते हैं।

महिम : बन्द करो यह बातें शशि। मेरा जी घबरा रहा है। बची खुची आस्था तो शेष रहने दो। इसे तोड़ने की कोशिश मत करो इसके टूटते ही मैं पागल हो जाऊँगा। बिल्कुल पागल।

(सहसा रेडियो बन्द हो जाता... बारिश और तूफान की ध्वनियाँ गूंजने लगती हैं)

डा० पाल : क्या बात है ? ओह आप कैप्टन भरद्वाज जी ऐसे आ गये कि पता ही नहीं चला रेडियो क्यों एकदम से बन्द हो गया ?

डा० भद्र० : ह... ह... ह... बन्द हो गया तो बन्द हो जाने दो।

अशिक्षित लोगों की बकवास है। अपनी ही आत्मकथा लिखी है। फिलासफी बूझना चाहते हैं। शयन को आदर्श बनाना चाहते हैं। ठगी और बेईमानी को भावुकता में छिपाना चाहते हैं। शरन स्वयं जैसा है वैसा ही पात्र भी बनाता है। मैं कहता हूँ क्या अन्तर है शरन में और इस नाटक के महिम में।

नरेन्द्र : कमबख्त नाटक लिखने चले हैं। ...नाटक का टेकनीक तक तो मालूम नहीं। दो पात्र इतनी देर से बक बक बक बक लगाये हैं, बीच में कोई घटना ही नहीं घटती। ऐक्शन तो है ही नहीं सिर्फ डाइलॉग पर नाटक चलाना चाहते हैं। यह महिम नाम का पात्र बिल्कुल शरन का अवतार है अवतार...

कामेश्वर : जाने क्या लिखता है यह शख्स। नाटक जीवन की घटना से लेना चाहिये। यह कोई घटना है ? यह तो मानसिक विक्षिप्तता, पागलपन है !

डा० पाल : यही तो नाटक है...

डा० अदार० : चुप रहो जी। माना कि तुम नाटक लिखते हो पर तुम्हें भी नाटक लिखना नहीं आता। तुम्हारी भाषा में तो इतनी गलतियाँ होती है कि। फिर भी कोई आदर्श... कोई ऊँची बात तो नाटक में कहनी ही चाहिये न... यह कोई नाटक...

नरेन्द्र : मैं तो कहता हूँ अदारकर साहब... नाटक और आत्मकथ्य में अन्तर है। यह जो कुछ आपने सुना यह नाटक नहीं आत्म कथा है

भरद्वाज : आत्मकथ्य... यानी सेल्फ कन्फेशन... उहूँ ...हूँ ...देखिये यह सब नाटक में नहीं होना चाहिये। यह कन्फेशन हमेशा किसी मजिस्ट्रेट के सामने होने चाहिये।

(फोन की घंटी बजती है)

नरेन्द्र : हलो... ओह... कल्पना जी... शरन जी को पूछ रही हैं... बड़ी देर से बैठे हुये हम लोग तो उन्हीं का इन्तजार कर रहे .. जी घर में... अजी कई बार कोशिश की... कोई बोल ही नहीं रहा। कभी कभी कोई पागल की तरह चीखता चिल्लाता है। लगता है मिसेज़ शरन घर में हैं। लेकिन आप

तो जानती हैं... शायद वह पर्दा करती हैं... जी ?... क्या नफ़रत... नफ़रत करती हैं ?...एक ही बात हुई मैंने शरीफ़ाना अन्दाज में कहा था... खैर... हाँ... हाँ... आइये न... आपके बिना तो कोरम ही नहीं पूरा होगा...

(एक बच्चे का प्रवेश)

डा० अदार० : लीजिये साहब घर अखाड़े में नहीं है...यह देखिये शरन जी के जॉनशीन आ गये। यही तो है शरन जी का भविष्य।

नरेन्द्र : बाप से भी बढ़कर बेटा। वही... वही चाल... वही ढाल। पैन्ट में बटन नदारद। कमीज की बाहें खुली। आस्तीनें फटी। क्यों जी कहाँ गये तुम्हारे पापा...

बालक : जी... पापा तो सुबह के बाहर गये हैं अभी आये नहीं। कहा था आफिस खोल देना।

नरेन्द्र : अच्छा तो यह बात है। ज़रा इधर तो आओ। तुम्हारे पास कितनी कमीज़ें हैं ?

बालक : जी मुझे नहीं मालूम... माता जी जानती हैं।

डा० अदार० : और तुम्हारी माता जी कहाँ हैं......

बालक : जी घर में हैं...बीमार के पास।

नरेन्द्र : अच्छा बेटे, तुम बड़े होगे तो क्या करोगे ?

कामे० : यह क्या है जी नरेन्द्र ? तुम लोग इस बच्चे को क्यों परीशान करते हो ? जो कहना हो शरन को कहो !

नरेन्द्र : बड़ी ममता है आपकी बच्चों के प्रति...जानते भी हैं कामेश्वर जी, मिसेज़ कल्पना ने आज के विमेंस कालम में क्या लिखा है ?

कामे० : कुछ भी लिखा हो नरेन्द्र ! तुम्हें अपने विचार से मतलब होना चाहिये। कल्पना जी के विचार लेकर तुम क्या करोगे ?

नरे० : वाह ! हम स्कालर हैं। हमें हर एक का विचार जानना चाहिये। और फिर कल्पना जी !...आह...ह...ह...क्या कहने हैं ! क्या विचार हैं उनके ?...मैं कहता हूँ बच्चे काफ़ी हद तक एक न्यूसेन्स होते हैं...कहिये ? नहीं होते...?

डा० अदा० : न्यूसेंस ? अजी वह तो कल्पना जी की बहस है।...मेरे तो एक दर्जन बच्चे हैं। मैं तो कभी परवाह ही नहीं करता। रही

शरन की बात,...खाली आदमी करेगा क्या ?...उसके बच्चे भी विक्षिप्त न्यूराटिक और न्यूसेंस होंगे ही ?

भारद्वाज : न्यूसेंस ? डा० अदारकर ! न्यूसेंस नसल तो फ़ौरन बन्द कर देनी चाहिये...राष्ट्र को नौजवानों की ज़रूरत है, नौजवानों की ! न्यूसेन्स पैदा होकर क्या होंगे ?

डा० पाल : वाह वाह कप्तान साहब वाह ! कहे जाईये...आप लोग महान हैं। एकेडिमेशियन हैं। माडर्न हैं। लेकिन शायद...आदमी नहीं हैं।

नरेन्द्र० : ओह...फैन्टैस्टिक नानसेन्स !

डा० पाल : मै कहता हूँ आप लोगों के पास कुछ और विषय नहीं है... क्या सारा बहस शरन ही को लेकर होगा या...

नरेन्द्र : इससे ज्यादा दिलचस्प विषय और कहाँ मिलेगा ? फ़्यूडल और इंडस्ट्रियल एज के काम्पलेक्सेज़ का आदमी है शरन।..ज़ू में रखने लायक़ है ज़ू में......

कामे० : तुम कुछ कम बोला करो मि० नरेन्द्र...जितना कुछ पढ़ा है उसे हर जगह उगलना क्यों चाहते हो...नहीं हज़म कर पाते या बदहज़मी होती है तो भाई पढ़ना बन्द कर दो लेकिन यह क्या है...

(भीतर से फिर आवाज़ आती है।)

पुरुष स्वर : खोल दो...खोल दो मेरे ये बन्धन...ये ज़ञ्जीरें...ये हथकड़ियाँ...ये घूरती हुई आँखें यह सब मुझ से नहीं सहा जाता...मेरी दुशमनी आदमी से नहीं है...नहीं है...कोई तो सुनो...मैं प्यासा हूँ...मुझे प्यास लगी है...लेकिन तुम मुझे पानी क्यों नहीं देते...क्यों नहीं मेरी बेचैनी समझते...क्यों नहीं मेरी तकलीफ़ समझते...समझते...स...मझते...

नरेन्द्र : यह क्या हो रहा है घर में कहां से चुन चुन के लोग इकट्ठा किये हैं...घर है या पागलखाना ?

भरद्वाज : ओह ! यह बात है। मैं जानता हूँ क्या है। ज़रा क्षमा कीजियेगा मैं अभी आया ! यह शरन तो बहुत खतरनाक आदमी लगता है।

(बैकग्राउन्ड से)

(बैठे हुये गले से) नायक सिंह...नायक सिंह (ताली बजाता है) ओ नायक सिंह...

नायक सिंह : जी हुजूर !

भरद्वाज : सिपाही तैयार हैं (कान में कनफुस्की के स्वर में)...चुपचाप इस घर को घेर लो। कड़ा पहरा रखो।

कामे० : क्या बात है कप्तान साहेब ?...आप ज़रूरत से ज्यादा परीशान हैं।

भरद्वाज : जी...(कुछ छिपाते हुए)...कोई बात नहीं, कोई बात नहीं। ...मि० पाल रेडियो तो आन कीजिये। ज़रा देखिये तो शहर की क्या हालत है। बारिश तो ऐसी है जैसे प्रलय की।

डा० पाल : रेडियो बन्द नहीं है कप्तान साहब लेकिन...

(रेडियो ध्वनि)

यह आपके शहर का रेडियो है...हमारा ट्रान्समिटर मौसम की खराबी से बंद हो गया था...आँधी तूफान इतने ज़ोर का चल रहा है कि कुछ भी ठिकाना नहीं कब क्या हो जाय। हम आपको शरन जी का नाटक 'टूटा आदमी' सुना रहे थे। आगे का अंश सुनिये...

शशि : मैं कहती हूँ आखिर अपने मित्र प्रकाशक मि० खन्ना से कहते क्यों नहीं आज साल भर हो गये। अनुवाद के साथ दो किताबें और भी पड़ी हैं। आखिर...

महिम : प्रकाशक नहीं वह हमारे मित्र हैं शशि !

शशि : मित्र ! मित्र ! सभी तो आपके मित्र हैं। दो चार से दुश्मनी भी कीजिये। तो शायद कुछ काम चले।

महिम : बकवास से फायदा क्या ? चलो अपना काम करो। हमारा तुम्हारा झगड़ना ठीक नहीं !

शशि : ठीक है ! तो सुनिये...जैसे राजनीति से इस्तीफ़ा देकर अलग हो गये हैं उसी तरह साहित्य से भी इस्तीफ़ा दे दीजिये। अब मैं थक गई हूँ। जब तक बात अपने तक थी ठीक था। अब इसका असर बच्चों पर पड़ रहा है। यदि यह केवल अभाव में पलेंगे तो इनमें विकृतियाँ आयेंगी और...और

महिम : इस्तीफ़ा दे दूँ ! साहित्य का क्षेत्र छोड़ दूँ ! फिर बचेगा क्या ? क्या शेष रहेगा ? क्या आधार होगा ? किसके बूते पर जीऊँगा शशि ? इसे भी सोचा है ? कभी इस पर भी ध्यान दिया है ?

शशि : बहुत कुछ बचेगा...तुम्हारा पिता का रूप जीवन...पति का स्नेह......भरापुरा घर...अभावों से मुक्त संतान...स्वस्थ जीवन...

महिम : और इसके अतिरिक्त...इसके अतिरिक्त भी कुछ बचेगा...

शशि : और क्या ? साहित्यकार से बड़ा है यह सब कुछ। अपनी अहम्मन्यता में डूब कर साहित्यकार साधारण जीवन नहीं जी पाता...वह असाधारण की खोज में अपने को तोड़ डालता है।

महिम : नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता शशि ! साहित्य मेरी आत्मोपलब्धि है वह मेरी अहम्मन्यता नहीं है ! वह मेरा प्रमाद नहीं है। वह मेरा अहंकार नहीं है। नहीं है...नहीं है...

शशि : वह आपका जो कुछ भी हो। जीवन नहीं है। हमारे जीवन में और उसमें विरोध है। कहीं इतनी बड़ी खाई है कि उसमें हमारा सब कुछ बिखर जाता है। जो आपका साहित्यकार का क्षेत्र है वह शायद इतना संकीर्ण है कि उसमें मैं नहीं आ सकती। यह परिवार नहीं आ सकता। यह घर नहीं आ सकता।

महिम : यह सब उसमें ही है शशि। मेरी पीड़ा केवल मुझ तक ही नहीं है वह सब की हो जाती है वे सभी मेरी पीड़ा में भाग लेते हैं जो मेरी रचना पढ़ते हैं। वे सभी मेरे जीवन में भाग लेते हैं जो मेरा साहित्य पढ़ते हैं। मेरा परिवार इतना बड़ा है शशि कि वह इस घर में नहीं आ पाता। यह घर छोटा है। इतना छोटा कि......

शशि : घर का छोटा होना ही तो बुरा है। बहुत बुरा है। छोटे घरों में मस्तक झुका कर चलने वाला परिवार होता है। चौखट के ज़ख्मों से मस्तक पक जाते हैं। कभी कभी दिमाग़ भी खराब हो जाता है।

(**शशि के प्रस्थान की ध्वनि**)

महिम : छोटा घर...छोटा परिवार...मस्तक झुका कर चलने वाली

नसल...चौखट के ज़ख़्मों से पका हुआ मस्तक...नहीं...नहीं ऐसा नहीं होगा (छोटे बच्चे के रोने की आवाज़, बच्चे को गोद में लेता हुआ) नहीं...नहीं तुम्हें चीखने नहीं दूँगा...तुम्हें बौना नहीं बनने दूँगा (बच्चा चीखना बन्द कर देता है) लेकिन करूँगा क्या ?

शशि : क्या हो गया है तुम्हें।

महिम : ऐं...यह तुम पूछती हो...यही तो दुःख है शशि...कुछ हो जो नहीं रहा है...कुछ होना चाहिये न...

शशि : मैं कहती हूँ क्या हो गया है आप को ? कुछ भी तो नहीं कहा मैंने। कह भी क्या सकती हूँ ? जाने क्यों इतनी बात आज मेरे मुँह से निकल गई। लेकिन मैं भी तो मजबूर थी। आशायें जब टूटती हैं तो विश्वास भी बिखर जाता है। धैर्य अपना साहस छोड़ देता है।

महिम : साहस ? तुम्हारा साहस यदि टूट जायगा शशि तो मेरी आधी शक्ति ही टूट जायगी। शशि मुझ से मेरे सपने छीन लो। आग लगा दो उनमें। उनकी ध्वस्त राख पर हमें नये सिरे से ले चलो। समझ लो मैं निष्क्रिय हूँ। अकर्मण्य हूँ।

शशि : लेकिन यह तुम कह क्या रहे हो। मैं तुम्हारे सपने नहीं छीनना चाहती। तुम्हारे शुभचिन्तक मुझसे भी बड़े हैं। वह संसार की बातें सोचते हैं। विश्व-कल्याण की बातें सोचते हैं। वह अधिक बुद्धिमान हैं। मैं छोटी हूँ। मेरे सपने छोटे हैं, बहुत छोटे उतने ही छोटे जितनी मैं स्वयम् हूँ।

महिम : नहीं शशि तुम्हारे छोटे छोटे सपनों का बड़ा महत्व है क्योंकि उनके छोटे चौखटे नहीं हैं। सर में ज़ख़्म पैदा करने वाली संभावनायें नहीं हैं। दिमाग़ को पकाने वाली असमर्थता नहीं है, उसमें अपूर्णता की आग नहीं है।...महत्वाकांक्षा की जलती विभीषिका नहीं है। उसमें वह लघुता है जो पूर्ण है अपने ही में भरी पूरी है। वह बड़प्पन नहीं है जो सदैव अधूरा ही रहता है।

(रेडियो सहसा बन्द हो जाता है—
रेडियो से फिर ध्वनि आती है :)

रेडियो : हम माफ़ी चाहते हैं...जिस कुत्ते को आज सुबह एक पागल और विक्षिप्त आदमी ने काटा था आज दोपहर को उसी कुत्ते ने शहर के बहुत बड़े समाज सेवी 'सेवा समाज' के प्रधान श्री अभिलाषचन्द्र को काट लिया था। अभी अभी हमें उनके देहावसान का समाचार मिला है...हम अपना प्रोग्राम १५ मिनट के लिये स्थगित करते हैं...और इस बीच दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिये आप के सामने गीता पाठ होगा...

(गीता का श्लोक : बैकग्राउन्ड में लगातार गीता ध्वनि)

नरेन्द्र : बन्द भी करो यार...अजीब लोग हैं...गीता से क्या होगा... यह मौत का प्रोग्राम मुझे नहीं रुचता...

कामे० : मौत का प्रोग्राम और गीता...? नरेन्द्र ने ठीक ही कहा...बन्द भी करो...यह गीता वीता बहुत सुन चुका।

नरेन्द्र : और गीता भी उसके लिये जो तमाम ज़िन्दगी समाजसेवी रहने के बाद भी समाज का मतलब नहीं जान सका होगा...समाज की उत्पत्ति, विकास, पतन, परिवर्तन इसके बारे में अभिलाष चन्द्र क्या जानेंगे...

कामे० : यह तो तुम्हारा ऐकेडिमिक विवाद है नरेन्द्र...लेकिन मैं समझता हूँ एकेडिमेशियन न होते हुये भी आदमी आदमी के काम आ सकता है...

डा० पाल : जी...क्या खूब कहा आपने कामेश्वर जी...आदमी आदमी के काम आये इसके लिये ज़रूरी है कि आदमी आदमी को जाने... आदमी बिना आदमी की संवेदना जाने उसका सेवक बने यह मेरी समझ में नहीं आता...

नरेन्द्र : मैं तो कहता हूँ बिना ऐकेडिमिक ज्ञान के कोई साइन्टिफिक ज्ञान नहीं आ सकता और बिना साइन्टिफिक ज्ञान के आदमी आदमी की संवेदना जान ही नहीं सकता...

डा० अदार० : आ गये न आप लोग दिमागी फ़ितूर पर...देखिये मैं कुछ काम की बातें करना चाहता हूँ। मेरी बात मान लीजिये... शरन जी अब इस समय आपसे नहीं मिलेंगे...मैं उनको जानता हूँ उनकी प्रकृति पहचानता हूँ...जब कुल बीस रुपये के लिये वह मुझे इतना नाच नचा सकते हैं तब यह तो कच्चा

चिट्ठा उधेड़ कर बात करने की मीटिंग है...इससे वह हमेशा दामन बचायेंगे इसलिये...

(बाहर मोटर की आवाज़ सुनाई पड़ती है)

नरेन्द्र : वह लीजिये मिसेज़ कल्पना भी आ गई। लीजिये डाक्टर साहब अब तो मीटिंग का कोरम भी पूरा हो गया जल्दी निर्णय कीजिये। मुझे आज अनन्त के यहाँ डिनर पर जाना है। बारिश की यह हालत है। पर भाई मैं तो अंग्रेज आदमी हूँ। जहाँ वक्त हुआ चला जाऊँगा...

(मिसेज़ कल्पना का प्रवेश)

नरेन्द्र : ओह नमस्कार कल्पना जी, आईये, इधर आइये। (मुग्ध भाव से)

कामे० : नमस्कार (आदर सूचक)

डा० पाल : नमस्कार कल्पना जी (उपेक्षा भाव)

डा० अक्षर० : नमस्कार...(अकड़ के साथ)

मि० कल्पना : ओह...नमस्कार...नमस्कार...नमस्कार...माफ़ कीजियेगा मुझे बड़ी देरी हो गई। मेरे हसबैंड मि० राम का बड़ा लड़का आया था। जानते हैं सौतेला लड़का ठहरा। कर्टसी में कुछ न कुछ करना पड़ता है। एक तूफ़ान खड़ा कर दिया उसने। मि० राम को ब्लड प्रेशर की बीमारी है। उत्तेजना से उनकी तकलीफ़ बढ़ गई। उसी में देर हो गई।

नरेन्द्र : अब तो ठीक है तबियत ! क्या बताऊँ मुझे यहाँ से सीधे डिनर में जाना है नहीं तो अभी देख आता। किसी वक्त आऊँगा...

मि० कल्पना : मैंने सिविल अस्पताल से नर्स बुलवा दी है। वह देख-भाल कर रही है। क्या करें ? पब्लिक लाईफ़ में तो इतने इंगेजमेंट्स रहते हैं कि...

भारद्वाज : इंगेजमेंट्स ! पब्लिक इन्गेजमेंट्स ! मैडम, ...पब्लिक मीन्स कामन मैन। और पब्लिक इंगेजमेंट...

(सब लोग हँस पड़ते हैं)

डा० पाल : खूब ! मानता हूँ कप्तान साहेब, क्या सेन्स आव ह्यूमर पाया है आपने ! वाह ! वैसे मिसेज़ कल्पना करतीं भी क्या ? नर्स से

ज़्यादा आराम आप मिस्टर राम को नहीं पहुँचा पातीं। वह तो सिर्फ़ गँवार बीवियाँ ही कर पाती हैं।

मि० कल्पना : ओह यस ! आप ठीक कहते हैं डा० पाल ! वह नौकरों की तरह अटेंड करती हैं। मैं क्या बताऊँ मैं तो बैलेंस रखती हूँ। क्या करूँ, रखना पड़ता है। कोई बीमार है ठीक है, दवा कर दो। इससे ज़्यादा कर भी क्या सकते हैं ?

नरे० : ठीक तो है आपका कहना मिसेज़ कल्पना। आप हमेशा बैलेंस मेन्टेन करती हैं। अभी आज ही आपका वह लेख पढ़ा है "चाइल्ड, ए न्यूसेंस"...बड़ा ही अच्छा है...बहुत ही साईन्टिफिक और माडर्न है...

कामे० : मैं थोड़ा असहमत हूँ...

मि० कल्पना : अच्छा...इट इज़ ए न्यूज़।...बच्चे तो कभी कभी न्यूसेन्स ही नहीं एन्टीसोशल भी साबित होते हैं जैसे मि० राम का बड़ा लड़का ! और देखिये वैसे तो हम पशु के प्रति भी उदार हैं।

नरेन्द्र : जी हाँ ! आप बिलकुल ठीक कहती हैं। ऐकैडेमेक व्यू यही है।

डा० अदार० : खैर साहब अब तो मीटिंग की कार्रवाई शुरू करनी चाहिये...

(फोन की घन्टी बजती है)

नरेन्द्र : कौन मि० भान...जी...जी मैं हूँ नरेन्द्र। कौन शरन जी ?... अरे साहब वह मिल जाय तो मुसीबत ही न हल हो जाय। लेकिन घबराइये नहीं सब ठीक हो जायगा। क्यों पानी में कष्ट करेंगे ? कल तक वालन्टियर्स जानवरों की रक्षा के लिये तैनात हो जायेंगे। अजी आदमी तो अपनी जान बचा ही लेता है। आप उनकी फ़िक्र छोड़िए। जानवर बिचारे तो बेज़बान होते हैं। उनकी रक्षा कीजिये। छोड़िये आदमी की चिन्ता।

डा० पाल : जरा खामोश हो जाइये। रेडियो से खबरें आ रही हैं।

(रेडियो-ध्वनि)

जैसा कि अभी आपको बताया गया...मौसम बहुत खराब है... सैकड़ों पेड़ शहर में गिरे पड़े हैं...सड़क और रास्ते की सारी स्थितियाँ खराब हैं, Traffic बन्द है...आदमी का आना जाना

बन्द है। रोशनियाँ बुझ गई हैं...पुराने मकान गिर रहे हैं...नदी की बाढ़ का गन्दा पानी घरों में घुसा जा रहा है...डाक्टरों का कहना है इस बाढ़, इस पानी और गन्दगी में बड़े जहरीले बैक्टेरिया होते हैं...डिपथीरिया का रोग फैलता है...सब से पहला अटैक गले पर होता है, आदमी की ज़बान बन्द हो जाती है...आदमी घुट घुट कर मर जाता है...आप से प्रार्थना है...आप अपनी नालियों से होशियार रहिये...ताकि पानी घर में न फैलने पाये...बाहर का पानी आँगन में न आने पाये... आँगन ही घर की जान है...वह गंदा हुआ तो रोग फैलेगा फैल कर रहेगा...यह आप के शहर का रेडियो है...हमारा ट्रांसमिटर इस आँधी तूफान की वजह से खराब हो गया था... बड़ी मुसीबत से ठीक हुआ है.. शरन जी का ड्रामा जहाँ तक आप सुन चुके हैं उसके आगे से शुरू हो रहा है...

महिम : छोटा घर छोटा परिवार ..मस्तक झुका कर चलने वाली नसल चौखट के जख्मों से पका हुआ मस्तक और उस मस्तक में छोटी छोटी बातें...पड़ोसी के घर की नकल...बाबुओं की रिश्वत साहब को सलाम...बेहरे की टिप...इन सब का जितना गहरा सम्बन्ध है।

शशि : जाने भी दो उन बातों को, उस घड़ी मेरी कुछ तबियत ही खीझ गई थी मुँह से यह बातें निकल ही गईं ; गुजरी बात को ढोने से फायदा !

महिम : बात ढोने की बात नहीं है शशि, बात समझने की है। तुम सब को मेरी वजह से तकलीफ है न। काश मैं भी साधारण आदमी होता। कितने आराम से रहते। (रुककर) नहीं... नहीं शशि। मैं इस सबको छोड़ूँगा, एक रास्ता निकालूँगा।

शशि : रास्ता कोई नहीं है। रास्ता वही है जिससे तुम चल रहे हो वही ठीक है।

महिम : लेकिन मैं शायद अब साहित्य नहीं लिख सकता क्योंकि मैं अभावों में जी रहा हूँ...मैं इन झूठी सामाजिक सेवाओं का जो

अभिनय करता हूँ वह भी व्यर्थ है क्योंकि उसमें मेरी पूर्णता नहीं है...मैं तिलांजलि दूँगा अपनी समस्त कल्पनाओं को... साहित्य को...रचना को...

(बाहर से आती हुई कुन्डी खटखटाने की आवाज़)

पहली आवाज : क्या कर रहे हैं हज़रत...आखिर आज इतनी देर क्यों हो रही है ?

दूसरी आवाज : कौन जाने शीर्षासन कर रहे हों...

तीसरी आवाज : कोई कविता लिख रहे होंगे...

चौथी आवाज : अरे ऐसे लिखाड़ होते तो...

पाँचवी आवाज : तो शेक्सपियर हो जाते...

संवेत : अभी किसमें कम है...

(संवेत हँसी। घृणा तिरस्कार से भरी हुई। भीतर की आवाज़)

महिम : फिर वही आवाज। फिर वही, व्यंग्य! फिर भी वही ताने!

शशि : तो क्या हुआ ? अभी तक यह ताने सहते आये हैं...और भी सहेंगे। इन सब तानों को सार्थक बनाना होगा। सार्थक होके रहेंगे—

महिम : शशि क्या इन व्यङ्गों से घृणा नहीं टपकती...इन में अपमान नहीं झलकता। लेकिन फिर भी मैं इसका विरोध नहीं करना चाहता क्योंकि ये मेरे अन्तिम विश्वास रहे हैं—इन्हें मैं छोड़ देना चाहता हूँ—इनमें उलझना नहीं चाहता—इन्हें काटकर निकल जाना चाहता हूँ।

शशि : तो फिर इनसे मुँह क्यों छिपाते हो—क्यों नहीं इनका सामना करते—इनका जवाब देते—

महिम : क्योंकि ये मेरी कमजोरियाँ हैं शशि, बहुत बड़ी कमजोरी—

शशि : तब इन्हें रोकना पड़ेगा। इनको इनकी सीमायें बतानी होंगी।

महिम : मत सुनो शशि ...इनकी बातें मत सुनो ...यह महज़ बकना जानते हैं ...इनका कुसूर नहीं है ...

शशि : लेकिन मुझे सुनना ही पड़ेगा ...आवाज़ जब घर की बाहर दीवारें पार करके आँगन तक गूँजने लगे ...घृणा जब बरसने लगे तब उसे रोकने में कर्त्तव्य है! इस घर की मैं मालकिन हूँ! इसे मैं रोकूँगी!

महिम : नहीं ! नहीं शशि, इन्हें मत रोको ! मैं फिर कहता हूँ ...ये मेरे अन्तिम विश्वास हैं ! ये मेरी असमर्थता है ! मैं इनसे उलझना नहीं चाहता ! ये मेरे शुभचिन्तक हैं !

(बाहर से)

पहली आवाज : श ...श ...श ... सुनो सुनो भीतर नाटक का रिहर्सल हो रहा है

दूसरी आवाज : रिहर्सल ? यह क्या कहते हो ! बीबी कर्कशा होगी यह नाटक नहीं है !

तीसरी आवाज : अरे मियां सही सलामत चलो...यह बला यहाँ भी आने वाली है

चौथी आवाज : ह ...ह ...ह ...क्या खूब फ़र्माया जनाब ने ...यहाँ क्यों आयेगी ...

पाँचवी आवाज : आपकी अक़ल नापने ...

संवेत हँसी : ह ...ह ...ह ...ह ...

(भीतर से)

महिम : वापस आ जाओ शशि ...शशि वापस आ जाओ

(बाहर से)

पहली आवाज : शशि जी ...ओह शशि भाभी...

दूसरी आवाज : जी, नमस्ते !

तीसरी आवाज : नमस्ते जी !

चौथी आवाज : ओह भाभी जी ...नमस्ते !

पाँचवी आवाज : आप बोलती क्यों नहीं ...कुछ तो कहिये ...

शशि : और भी कुछ कहिये ! घावों पर इतना नमक छिड़किये कि हम पागल हो जायँ ... जख्मों को कुरेदिये कि खून हो जायँ ! आप मित्र हैं न ? यह तो आपका फर्ज है!

(भीतर से)

शरन : मेरे साहस की परीक्षा मत लो शशि ! वापस आ जाओ ! वापस ।

(लम्बा मौन)

शशि : आप लोग भी चुप हो गये...कहिये...कहिये न...इतना कहिये कि मेरे अन्धे कूएँ से कान आपकी सारी बातें सुन लें । मेरा

धीरज तिलमिला उठे। आप सब शुभ चिन्तक हैं न आशीर्वाद दीजिये। बोलिये लेकिन आप नहीं बोलेंगे...मैं जानती हूँ आप नहीं बोल सकते क्योंकि आप में कहीं कायरता भी है... शायद इसी लिये आप खामोश हैं...लेकिन यह अधूरापन बड़ा ही कटु है...दिल में गुबार रखना ठीक नहीं...कह डालिये आज जैसा अवसर आपको फिर कभी नहीं मिलेगा... सच मानिये आप लोगों की खामोशी मुझे खलती है...

पहली आवाज : शशि...भाभी...भा...भा...भाभी

शशि : हाँ हाँ आप काँप क्यों रहे हैं। मैं मात्र स्त्री हूँ केवल स्त्री, मुझसे क्या डरना। मैं तो वही हूँ जो किसी उपन्यास कहानी नाटक में चित्रित होती हूँ। जिसके अंग अंग के रस के लिये कवि नाटककार उपन्यासकार बनना पड़ता है। फिर आप मुझसे डरते क्यों हैं?...कह डालिये!

(भीतर से)

महिम : आगे कुछ मत कहना शशि। बिल्कुल नहीं। आगे कुछ मत कहना। ये सब मेरे शुभ चिन्तक हैं। शुभ चिन्तक...

(बाहर से)

शशि : लेकिन मैं एक अन्तिम वाक्य कहे बिना नहीं रह सकती। मैं कहूँगी क्योंकि वह मेरा अधिकार। क्योंकि यह आवाजें अपनी सीमा लाँघ कर मेरे आँगन में गूँज रही हैं।

(भीतर से)

महिम : सारा ज़हर निचोड़ने की क्या यही अवधि है शशि और...और

(बाहर से)

शशि : और वह यह कि आप सब लोग मेरे घर से चले जाइये। कृपा करके चले जाइये। आप लोगों का घर बहुत बड़ा है लेकिन आप बौने लोग है। मेरा घर बहुत छोटा है...लेकिन...

(शरद भीतर से बाहर आ जाता है)

(सब लोग उठ कर चले जाते हैं।)

पहली आवाज : चलिये खन्ना जी...

दूसरी आवाज : चलिये...

तीसरी आवाज : चलिये साहब

चौथी आवाज़ : और क्या...

महिम : उफ्। कितना अकेला हूँ मैं। शशि तुमने मुझे कितना अकेला कर दिया। तुमने अपने घर के चौखटे और छोटे कर दिये। आँगन में तुमने धुँयें के बादल बिखेर दिये। मेरा आधार ही नष्ट कर दिया।

शशि : आधार मनुष्य ढूंढ़ निकालता है। आधार मैं ढूंढूँगी...विश्वास इनमें नहीं, आदमी में मिलेगा...मिलेगा...मिलेगा...

(समाप्ति सूचक संगीत और उद्घोषणा)

ड्रामा खत्म हुआ...शरन जी का यह नाटक स्थानीय रेडियो स्टेशन से प्रसारित हो रहा था...रात के आठ बज चुके हैं...लीजिए अब मौज संगीत का एक रेकार्ड और सुनिये।

नरेन्द्र : चलो बकवास बंद हुई। क्या था इस नाटक में ? बकवास।

डा० पाल : बकवास भी एक बहुत बड़ा यथार्थ है नरेन्द्र जी...आदमी जब टूटता है...अपना आधार खो चुकता है तब

नरेन्द्र : तब वह काम का नहीं रह जाता...बकवासी हो जाता है...शरन जैसा हो जाता है या यूँ कहें महिम जैसा हो जाता है।

डा० अदार० : अपनी कमज़ोरियों को छिपाने का यह एक बहाना है...अपनी कमजोरियों पर मुलम्मा चढ़ाया करता है...हीरो बनना चाहता है।

नरेन्द्र : जब आदमी कहीं से भी सहानभूति नहीं पाता तब वह अपने शरीर पर बनावटी ज़ख्म पैदा करके दूसरों की त्रस्त कल्पना से सद्भावना निचोड़ना चाहता है। वही महिम ने किया है, वही शरन करता है !

कामेश्वर : लेकिन नरेन्द्र जी ड्रामा तो कम्प्लीट है। इसमें कमी क्या है ?

नरेन्द्र : कमी ! क्या कहते हैं कामेश्वर जी ? इसमें लैक आफ़ विज़न है।

डा० अदार० : और सामाजिक चोरी है ! मैं कहता हूँ साहित्यकार को कौन सा सुर्खाब का पर लगा है ? वह कोई भी अन्य काम क्यों नहीं करता ? सिनेमा के पोस्टर लिखे। दवा बेचने वालों के लटके क्यों नहीं लिखता ? खासी आमदनी होती है साहेब।

सौ-सौ पेज के जासूसी उपन्यासों के दो-दो सौ रुपये मिलते हैं। साहित्यकार क्यों नहीं लिखता इसे ?

मिसेज कल्पना : देखिये बात आफ़ दि ट्रैक जा रही है...आप लोग इतने पर्सनल क्यों हो जाते हैं—मुझे डिस्ट्रिक्ट फ्लड रिलीफ़ कमीटी की एक मीटिंग में जाना है। १५ मिनिट का समय और है। मीटिंग की कार्रवाई जल्द शुरू कीजिये।

डा० अदार० : मैं तो कभी से कह रहा हूँ। मेरे ख्याल में एक प्रस्ताव पास करके हम नये आदमी का चुनाव कर लें।

मिसेज कल्पना : देखिये प्रोसिडियोर की ग़ल्ती मत कीजिये ! पहले शरन जी के खिलाफ़ अविश्वास का प्रस्ताव पास कर लीजिये, फिर पशु रक्षिणी समिति के नये संयोजक का प्रश्न उठता है।

कामेश्वर : मेरा ख्याल है श्रीमती कल्पना को ही चुन लीजिये ...

मिसेजकल्पना : देखिये बात यह है कि मेरे पास वैसे ही पांच कुत्ते हैं। बुल डाग है, एक हाउन्ड है, एक एलसेशियन है एकपहाड़ी कुतिया है। और फिर मि० राम का भी स्वास्थ ठीक नहीं रहता। आप क्या समझते हैं इतना करने के बाद भी मेरे पास पशुरक्षिणी समिति के कार्य के लिये समय बच रहेगा ?

नरेन्द्र : वैसे तो मैं ही इस काम को ले लेता लेकिन इसके लिये तो ऐसा आदमी चाहिये जिसमें थोड़ी मिशनरी स्पिरिट हो।

कामेश्वर : यह आप कह रहे हैं मिस्टर नरेन्द्र मैंने तो वैसे तय किया है कि इस साल में केवल लिखने का काम करूँगा। सिर्फ़ क्रीएशन।

डा० पाल : अच्छा ...तो ...

नरेन्द्र : मि० पाल को क्यों न चुन लिया जाय।

डा० पाल : जी मैं इस संस्था से इस्तीफ़ा देना चाहता हूँ। वैसे मैं समझता हूँ डा० अदारकर को यह काम दीजिये। बड़ी संजीदगी से करेंगे।

डा० अदार० : आप तो कमाल करते हैं पाल साहब। मवेशी डाक्टर होने के नाते मैं तो यह नित्य प्रति करता हूँ। रह गये आप लोग, सो अब यह काम आपका है।

मिसेज कल्पना : देखिये वैसे मैं यह काम स्वीकार लेती। लेकिन हमारे

सेवा समाज के मंत्री महोदय नहीं रहे। मुझे उनका काम संभालना ही पड़ेगा।

नरेन्द्र : नहीं अदारकर साहब। आप आइये भी, क्या रखा है इसमें !

डा० अदार० : यदि मैं यह न ग्रहण करूँ तो शायद ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकूँगा।

कामेश्वर : नहीं नहीं अदारकर साहब। इस साल हमारे शहर में अखिल भारतीय पशु सम्मेलन होगा। आप रहेंगे तो बड़ा काम बन जायगा।

डा० अदार० : नहीं नहीं साहब !

कामेश्वर : ठीक है, मैं थोड़ी देर के लिये आपकी बात माने लेता हूँ। लेकिन डाक्टर साहब आप यह बताइये सिवा आपके पशु और आदमी में संबंध समानता कौन स्थापित करेगा ?

नरेन्द्र : हटाइये भी साहब ! चलिये किसी को भी मन्त्री बनाइये ! लेकिन फिर इसके बाद क्या होगा ?

मिसेज कल्पना : यह कैसे हो सकता है। पहले शरन जी के खिलाफ प्रस्ताव रखिये।

डा० अदार०: जी...प्रस्ताव यों है...

पशु रक्षिणी समिति की यह बैठक शरन जी की कार्य विधि के प्रति असंतोष प्रकट करती है और उनके विरुद्ध यह प्रस्ताव।

नरेंद्र : यह लीजिये थिंक आफ़ द डेविल...ही इज़ देयर...

मिसेज कल्पना : कौन मि० शरन ?

कामेश्वर : लगता है सुबह का भूला शाम को घर लौटा है।

मिसेज कल्पना : फेमली के लिये तो कुछ फीलिंग ही नहीं है...ही इज़ ए

डा० पाल : चलिये...आये भी तो वैद्यराज को लेकर...

(शरन प्रवेश करता है...पीछे पीछे वैद्य जी और उसके पीछे एक पान वाला)

शरन : चले आओ, महादेव पनवाड़ी...चले भी आओ...

(भीतर जाकर)

वैद्य जी...आज दो दिन हो गये होश ही नहीं आया इसे... जब कभी होश आता है तो बस...

(सहसा मरीज़ को होश आ जाता है)

कौन कहता है मैंने कुत्ते को काटा है...यह सब ग़लत है...
मुझे छोड़ो...मुझे छोड़ दो...यह पानी...यह बाढ़...यह तूफ़ान यह नाली से घुसता हुआ गन्दा पानी यह सब मेरी जान लेकर रहेंगे...मेरी...मेरी...जान...जान लेकर

वैद्य जी: आप बाहर जायँ...मैं देखता हूँ...

(शरन बाहर आ जाता है)

शरन: तो महादेव ! तुमने मुझे पान खिलाया है। लेकिन आज जरूरत ही ऐसी आ पड़ी है। यह रहा रेडियो। उठा ले जाओ। मैं रुपया भी नहीं लेता लेकिन घर में एक मरीज़ है।

महादेव: जैसी मर्जी सरकार। मैंने तो कहा था हुजूर पैसा ले जायं।

शरन: ठीक है। ठीक ही तो है। लाओ रुपये ! लो यह रेडियो ले जाओ।

कामेश्वर: अजीब आदमी है। हम लोगों से बात ही नहीं करता। नवाब कहीं का।

नरेन्द्र: चलिये डाक्टर साहब...

कल्पना: आल हम्बग...ह्वाट इज़ दिस...

डा० पाल: नाटक का एक पहलू है कल्पना जी, नाटक का।

महादेव: यह लीजिये सरकार। पूरे डेढ़ सौ हैं। गिन लें हुजूर।

(इधर मुड़ कर)

शरन: कामेश्वर जी, मिसेज़ कल्पना...डा० पाल...

डा० अदार०: जी हाँ ! हम सभी हैं। शायद आप को याद न हो। आज आप ने मीटिंग बुलाई थी। सारी बातों पर विचार करने के बाद हम सब एक साथ इस राय पर पहुँचे हैं कि आप पशु रक्षिणी समिति का काम नहीं कर सकते। इस लिये हम आपसे महज़ इतना ही चाहते हैं कि आप अपना चार्ज दे दीजिये।

शरन: किसका चार्ज आप लेना चाहते हैं कोठारी साहब ! जानवर का ! पशु का ! तो वह तो अस्पताल में हैं ! और अगर आदमी का चार्ज लेना चाहते हों तो वह मर चुका है ! पागल खाने जाने की नौबत ही नहीं आई !

(महादेव का प्रवेश)

महादेव : सरकार...सरकार...

शरन : तुम महादेव...तुम लौट आये...

महादेव: नदी का पानी मेरे घर में घुस आया है हुजूर। रेडियो यहीं रख लें। घर की दीवारें गिर रही हैं।

शरन : तुम्हारी मर्जी...रख दो।...और सुनो प्लग भी लगा दो।... 'बाबू' लोग रेडियो सुन रहे थे न।...लगा दो इसे...

(वैद्यजी घबरा कर जाते हुये)

वैद्य : कुछ नहीं हो सकता...कोई नहीं बचा सकता...बात...पित्त... कफ...किसी का विकार नहीं है फिर भी आदमी पागल हो जाय...कुछ समझ में नहीं आता...

शरन : वैद्य जी...वैद्य जी...

वैद्य : ब्रेन 'हामोराज' है...दिमाग की नस फट गई है...कुछ नहीं हो सकता शरन जी...रोगी मर गया है...

रेडियो : रात के साढ़े दस बज चुके हैं...स्पेशल न्यूज बूलेटिन के समाचार सुनिये...

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि जिस आदमी ने कुत्ते को काट लिया था वह इस समय इसी शहर के एक साहित्यकार के घर में है...सी० आई० डी० सुपरिन्टेन्डेन्ट मि० भरद्वाज ने उस साहित्यकार का घर घेर लिया है...साहित्यकार ऐसे खतरनाक जुर्म करने के एवज में पकड़ा जायगा।

कुत्ता अस्पताल में है...कुत्ते की हेल्थ बुलेटिन में डाक्टरों ने कहा है कि अभी आदमी के ज़हर का प्रवेश बहुत बढ़ेगा... दरअसल आदमी का ज़हरीला खून और कुत्ते का खून जब मिल जाता है तो यह ज़हर बड़ा खतरनाक साबित होता है...कुत्ते की जिन्दगी खतरे में है...आदमी के बारे में पता नहीं... नदी में बाढ़ बड़े ज़ोर की है...शहर का गन्दा पानी शहर से बाहर नहीं निकल पा रहा है...हेल्थ आफिसर का कहना है कि हर नागरिक को घर की नालियों के प्रति सावधान रहना चाहिये। इस ठहराव की गन्दगी अगर आंगन में जमा हुई तो बच्चे मर जायँगे डिपथेरिया का रोग फैलेगा...आदमी घुट घुट कर मर जायगा—

डा० भ्रद्वाज० : मि० शरन !...आप को चाहिये कि लाश को जल्द से जल्द बाहर कर दें !...ज़हर घर में भी फैल सकता है।

शरन : ज़हर तो फैल चुका डाक्टर...आदमी मर गया है...

(अन्दर से डरी हुई सिसकियाँ सुनाई देती हैं : क्षण भर सन्नाटा : फिर अकस्मात् पुलिस लारी के आने की ध्वनि)

भरद्वाज : मि० शरन, आप हिरासत में हैं। नायकसिंह आपको लारी में बिठाओ।

डा० पाल : मगर क्यों ? क्या किया है शरन जी ने ?

भरद्वाज : इन्होंने ख़तरनाक जुर्म किया है। इन्होंने उस पागल आदमी को पनाह दे रक्खी थी जिससे सारे शहर के पागल हो जाने का ख़तरा था ! उसको देखते ही शूट कर देने का हुक्म था......

कल्पना : (चीखकर) और इन्होंने उसको अपने घर में छिपा रक्खा था। हाउ इर्रेस्पान्सिबिल ! अपनी फैमिली तक की सीक्योरिटी का ख्याल नहीं इस आदमी को।

नरेन्द्र : (तुरन्त) हाँ, वह आदमी किसी बच्चे को ही काट खाता तो ?

शरन : (दबी हुई कड़ुवाहट से) हाँ, मिसेज़ कल्पना ! जुर्म तो मुझसे हो गया। बात यह थी कि मैं भूल गया था कि मैं पशु रक्षिणी समिति का संयोजक हूँ, पशुओं को पनाह देने का अधिकारी था, पागल आदमी की रक्षा करने का नहीं !

कल्पना : मि० शरन, चूंकि अब वह संस्था मेरे हाथ में सौंपी गयी है अतः अब आप उस पर व्यंग्य करने पर उतारू हो गये हैं।

नरेन्द्र : नान्सेन्स। शरन जी, अपनी कटुता संस्था के गले में क्यों मढ़ते हैं ? संस्था का विधान पशुओं की रक्षा करने का आदेश देता है, पर आदमी की रक्षा करने की मनाही तो नहीं करता !

डा० पाल : नहीं नरेन्द्र जी ! समिति का विधान आदमी की रक्षा करने की मनाही कहाँ करता है, वह तो सिर्फ़ यही आग्रह करता है कि पहले आदमी को पशु बनाओ तब उसकी रक्षा करो, बिना पशु बनाये उसकी रक्षा करना ख़तरनाक है।

मि० कल्पना : लेकिन डा० पाल......

डा० पाल : नहीं मिसेज़ कल्पना, आप इसे केवल अपनी संस्था पर ही न लें। सभी का आग्रह इसी बात पर है। सभी आदमी की रक्षा का दायित्व लेते हैं—पर रक्षा के पहले आदमी को पशु बनाना चाहते हैं।

[बाहर से आती हुई लाउड स्पीकर की आवाज़]

भरद्वाज : बहस का कैसा अजीब मौका चुना है आप लोगों ने। आप लोग शायद भूल रहे हैं कि मि० शरन हिरासत में हैं, और उन्हें अभी लारी पर बिठाकर ले जाने के लिए मैं बाध्य हूँ। मि० शरन, आप लारी में बैठने की......

डा० अद्वार० : पर ठहरिये। पहले इस काग़ज पर दस्तखत कर दीजिये। मि० शरन। आपके इस्तीफ़ा देने के पहले ही हमने प्रस्ताव पास कर दिया था कि......कि......

नरेन्द्र : कि आप पशु रक्षिणी समिति के संयोजन के योग्य नहीं है और......

डा० पाल : केवल मिसेज़ कल्पना ही उस महान दायित्व को सम्हाल सकती हैं।

शरन : लाइये दस्तखत कर दूँ। (दस्तख़त करता है) बधाई, मिसेज़ कल्पना! नहीं नहीं इसे व्यंग्य में न लें। मैं सचमुच अपनी असमर्थता पहचानता हूँ। बात यह है मिसेज कल्पना कि आप और आपके पति मि० राम करुणा को नक़ाब की तरह ओढ़ सकते हैं। जब चाहे तब उतार कर आराम कर सकते हैं। मुझसे यह नहीं हो पाता। इसीलिये, शायद मैं इस संस्था के अयोग्य हूँ, इसी के लिये नहीं, इस सारी व्यवस्था में "मिसफ़िट" हूँ।

डा० अद्वार० : आप 'मिसफिट' हैं इसलिये आप तमाम दुनिया पर ऐसी व्यवस्था लादना चाहते हैं कि आदमी कुत्तों को काटे और अपना ज़हर फैलाये!

शरन : अपना नहीं, आप लोगों का। इस श्रद्धा और करुणा के नक़ाब के नीचे आपके ज़हरीले दाँत हैं। और जो आदमी से ज्यादा उन पशुओं को मात देते हैं जो पूँछ हिलाकर आपके इर्द-गिर्द चक्कर लगायें। और आज से नहीं सदियों से जिसने आदमी की तरह तन कर आपका नक़ाब चीर फेंकने की कोशिश की

है उसे ज़मीन में गड़वा कर आपने उस पर कुत्ते छोड़े हैं। (बहुत तेज़ पढ़कर रुँधे हुए गले से) और...और मैं निडर कहना चाहता हूँ कि अगर सदियों तक आदमी आतंक को चुपचाप पीता रहा है तो यह शर्म की बात है और आज अगर उसकी प्रतिक्रिया में पागल होकर उलट कर वह कुत्ते को काट बैठा तो यह बेहतर है, उस चुपचाप घुटते जाने से उस निस्सहाय घुटने से......

नरेन्द्र : (बिल्कुल घबराकर) शरन पागल तो नहीं हो गया।

मि० कल्पना : ओह ! मैं इसकी बातें नहीं सुनना चाहती। मैं फेन्ट हो जाऊँगी।

रेडियो : हर आम व खास को इत्तला दी जाती है कि शहर में बाढ़ की वजह से सभी नाले रुक गये हैं। गन्दा पानी बढ़ता जा रहा है। शहर की नालियों के अलावा इधर उधर से गन्दा पानी इकट्ठा हो रहा है अपने बाहर के दरवाजे बन्दकर लीजिये वरना कमरे डूब जायँगे। अपने जानो माल की हिफ़ाज़त की फिक्र खुद कीजिये।

भरद्वाज : (अधीरता से) मि० शरन।

शरन : मैं तैयार हूँ मि० भरद्वाज ! पर पहले उस आदमी की लाश तो बाहर निकालिये। घर में लाश सड़ रही है।

भरद्वाज : उसकी फिक्र छोड़िये। वह हमारा काम है। उसकी चिंता नहीं। आप पहले लारी में बैठें।

शरन : उसकी चिंता नहीं ! ठीक है, खतरा तो आपको ज़िंदा आदमियों से है। खतरा तो आपको मुझसे है। ज़हर तो मुझसे फैल रहा है ? क्यों (हँसता है) चलिये, अब आप लोग जाँय मैं आप सबका आभारी हूँ।

[क्षण भर सन्नाटा छाया रहता है। फिर काना फूसी के स्वर और पुलिस लारी के स्टार्ट होने और चलने का दूर जाता हुआ स्वर]

गलता लोहा

इस तप्त जलती, गहन गुरुतर मौन भट्टी में सतत मैं गल चुका हूँ
अरुण तापस तप्त श्री के, मुक्त बन्धन, अग्नि के चिर मुक्त क्रन्दन में अडिग
आजानु बाहों में कसा, अभिव्यक्ति सीमा में बन्धा—मैं जल चुका हूँ।
यह निहाई—
चोट खाती, थकी, बोझिल चिर अपरिचित सी पड़ी निस्तेज
मुझ को कवच सा यों ओढ़ कर क्या रूप देगी
स्वयम् अपनी नियति की उलझी पहेली पर किसी अव्यक्त हाथों की सधी
चोटें सहेगी,
और वह आवाज़—
जो इस वक्ष पर गिर चूर चकना चूर होगी
लौट जायेगी सघन घन नाद के स्वीकार के संघर्ष बल पर
ये दिशायें काँच की, बिल्लौर की खुद टूट जायेंगी—बतायेंगी
कि जो मैं—
एक लोहा था गला अनुताप पाकर मौन इस मुर्दार खलरी की
कि जो निष्प्राण थी, पर किसी मिट्टी के धरोहर के हृदय में
प्रज्वलित ज्वाला निकट
निज रिक्तता के बीच सांसों को संजोकर जी सकी थी
और उस मुर्दार ख़ाली रिक्तता के बीच मैं था...
फ़ौलाद था
पर आँच थी उस सघन गुरुतर आस्था की
जो संजो कर आकृति इस धातु की—
निज ज्योति को ही आत्मा की साध देकर—
दे रही है आस्था, विश्वास, नूतन भास भावी व्यंजना के,
साक्षी यह आभा देगी
साक्षी आवाज़ देगी
साक्षी यह साध देगी
तप्त जलती गहन गुरुतर मौन भट्टी में सतत मैं गल चुका हूँ।

मन्वन्तर

श्लथ मनु और विवेकहीन श्रद्धा का निर्वासन
तथा
मनु पुत्रों की स्थापना

राजेन्द्र किशोर

मन्वन्तर

मन्वन्तर एक प्रबन्ध-काव्य है। इसे स्वीकृति किस रूप में मिलेगा नहीं कह सकता। पर इसकी आत्मा अवश्य महाकाव्य की है।

कथा बहुत बड़ी है और सम्भावित तृतीय महायुद्ध के बाद आरंभ होती है। समस्या वही है—और युद्धोत्तर, ध्वस्त जगत में मनुपुत्रों की नयी स्थापना। मनु की पुरानी कथा में यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्तन करके, उसके माध्यम से समस्याओं के उद्घाटन तथा हल का प्रयास किया गया है।

कथा कही नहीं गई है। छोटे-छोटे संदर्भ चित्रों में ग्रहण (Conceive) करके संकेतित (Suggest) की गई है। स्थितिगत अंतरालों के द्वारा वस्तु की प्रेषणीयता में तनाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

सूचना

शोर उठा।
स्वर टकराए।
बिजली कौंधी।
बीच आकाश में चमकता हुआ सूरज
एक भयानक विस्फोट के साथ गिरा।
रोशनी!

अँ—धे—रा !!!
शरीर के भीतर ध्वनि की आँधी प्रवेश कर गई।
त्वचा तनती चली गई। गर्भस्थ शिशु
बैलून की तरह फूलता चला गया।
पीड़ा।
विचित्र पीड़ा—
अपूर्व अनैतिहासिक।
एक ही झटके में मैं अपने शरीर से अलग हो गई।
देखो, देखो, कपास के फूटे हुए सोके-से
इस शिशु को देखो, जिसके फल बनने की आशा में
मैं लोकगीतों के तोते की तरह प्रतीक्षा करती रही।

मेरे सिवा और कोई जीवित है ?
······यह भ्रम है।
मैं तो सेवार के रेशों से उलझ कर रुका हुआ
आकस्मिक, अप्रत्याशित फूल हूँ।
कल।
मेरे रोओं में लहर थी।
मेरे प्राणों में उन्माद था।
मेरे व्यक्तित्व में ऐश्वर्य।।।
उफ़, केवल कल; वह आवेग—;
और यह स्थिरता। ध्वनि, इतनी ध्वनि;
शब्द, शब्द चाहिए। मैं कहाँ हूँ ?

एक स्पर्श। एक और स्पर्श।
शांत, स्थिर, जड़ स्पर्श—
जिसके बाद कुछ होने को न हो।

जिसे मैंने आँखों की पुतलियों में सपनों की तरह ढाला,
जिसे मैंने अपनी साँसों के आरोह-अवरोह में पाला,
जिसे मैंने अपनी बाँहों के आश्लेष में कल्पित किया,
उस सुख को, उसी सुख को, जिसे मैंने जल के कोलाहल में
डूबने नहीं दिया, उछाल दूँ
जल की लपलपाती जिह्वा पर उछाल दूँ ?
भेद । विभेद । खण्ड । मैं । तुम । वह काण्ड ।
—मैंने संजोए ।
अलग-अलग बटुवे में अलग-अलग दाने—
जाने-पहचाने । अपरिचित हुए—वे, सब ।
डूब गए । विस्मय । हाँ, विराट् विस्मय;
अखण्ड, अकाण्ड मैं और शून्य । शेष-अशेष
जो अहम् बचा है, वह निरर्थक है ।
······किन्तु । अर्थ कहाँ है ?······ओला ?

मैं कौन हूँ ?
आहत । विकृत । निरावृत । वृद्ध । जीर्ण । मृत ।
किन्तु स्वर है ।
मैं हूँ । जल है । स्वर है । मैं कौन हूँ ?

मनु

विश्राम !
टूटा हुआ,
लुटा हुआ
राम !
विश्राम !

थका हुआ,
रुका हुआ
काम!
विश्राम!
अनुभव की,
भुव-भव की
शाम!
विश्राम!

खो गया आवेग, मैं ठहरा हुआ हूँ।
व्योम-पंथिन सत्-विसत् कल्पना है।
रुद्ध है तम के पटल में ज्योति का मुख।
पल-विपल; संदर्भ पर कोई नहीं है।
रत-विरत होता अहम्, लेकिन निरंतर
विमुख मुझसे हो रहा स्फोट मेरा
ताप ?...शीतलता ?...नहीं, उफ़. यहीं, जड़ हूँ।
सामने विस्तार का पत्थर पड़ा है।
खो गया आवेग, मैं ठहरा हुआ हूँ।

आज विकल मन के अम्बर पर घिरती जाती उजली चादर,
आज विकल तन की धरती पर घिरती जाती उजली चादर,
सुनो, कहीं मन के इन टूटे तारों को झनकार न देना,
किसी अपरिचित गहन गुहा से मेरा नाम पुकार न देना।

ओ अनदेखे पारिजात के स्रष्टा, कैसे तुम्हें बताऊँ ?
वीतराग की बंधी गाँठों को मैं किस अंगुली से सुलझाऊँ ?
एक विराम-चिह्न-सा मेरे मन में कठिन दर्द बैठा है,
शब्द उतर कर जिसे चीन्हने सागर के भीतर पैठा है !

महाशून्य है भीतर छाया, बाहर है सब का सूनापन,
मैं बौराया खोज रहा हूँ फिर भी अनजाने अपनापन,
क्या जाने होनेवाला है इस विकराल समस्या का हल ?
भीतर शब्द थका-घबराया, बाहर है जल का कोलाहल ?

सुख नहीं, दुख नहीं, प्रभु !—वह
दो,
कोई भी हो,
और व्यथा, और व्यथा जाऊँगा सह !
बाँहें,
जो मुझे चाहें,
तुष्टि नहीं, सृष्टि नहीं, प्रभु !—वह !

श्रद्धा

मैं जहाँ खड़ी हूँ, वहाँ न कोई थल है,
मेरे पाँवों के नीचे जल-ही-जल है।
क्या होने का था, और हुआ क्या पल में,
सब डूब गए जल के इस कोलाहल में।
मैं हूँ, जल है, जल का यह भीषण रव है,
मेरे आँचल में बँधा सृजन का शव है।
स्वर डूब चुके हैं जल के कोलाहल में,
विस्मय तिरता फिरता है सूने पल में।
नीचे जल है, ऊपर जल है, जल चल है,
केवल आँचल का शव मेरा निश्चल है।
छा रहे भीम घन रंगभरे अंबर में,
लहरें सागर की उबल रहीं अंतर में।
लगता है, बाकी है अब भी कुछ होना,
चल रहा अँधेरे में कुछ जादू-टोना।

मालूम मुझे है, शब्द लौट आएँगे,
कुछ दूर निकल कर मुझको छल जाएँगे।
लेकिन यह भ्रम अच्छा होगा दो क्षण का,
कुछ तो संकोच घटेगा सूनेपन का।
मालूम मुझे है—मैं हूँ, मेरे स्वर हैं,
ये सब मेरे ही प्रश्न बने उत्तर हैं।
फिर भी पुकारती हूँ, कोई हो, सुनले,
आकर मेरी पलकों से आँसू चुन ले!

संयोग

"बिंदु-बिंदु, कण-कण जो रिक्तता व्याप रही है,
उसकी पूर्ति इससे नहीं होगी।
लाओ, इसे मुझे दे दो।
मैं इसे सृजन के समाहार का एक संदर्भ बना दूँगा—
—एक कथा—एक काव्य—
जिसके अंतिम चरण में स्फोट के बाद
शांति का विराम होगा।"

"यह,
यह जो मैं खड़ी हूँ—
मुझमें स्फोट भी है, विराम भी।
मैं इसे नहीं दूँगी। लो, मुझे ही उपसंहृत करो।"

"ऐसा न करो ।
यह उपसंहार निरर्थक नहीं है ।
अब तक यह है,
न हम जीवित हैं, न मृत ।
और इसे रख कर ही क्या होगा ?
यह क्या है ?"

"यह ?
यह मेरी कोख का आख़िरी सुहाना दर्द है ।
सब कुछ तो डूब गया जल के कोलाहल में,
एक यही बाक़ी है—बचपन के उस भुलाए हुए दृश्य की तरह,
जो मरने के वक़्त अचानक याद आ जाता है ।"

"सोच लो ।
और सोच लो ।
शायद, अब इस संयोग के बाद,
उस दृश्य की सार्थकता में परिवर्तन आ गया हो !"

[शब्द के अर्थ रुद्ध ही रहे । संवेदना छलकी ।
प्याली भरी, रीती, भरी. रीती पल की ।
विस्फोट तो है, वही है, वही—पीड़क;
शरीर के एक-एक धागे में तनाव भी वही है ।
धरती कहीं नही है । जहां है, उसे धरती कहेंगे ?—
जड़, पाषाण, स्पंदनहीन. अप्राकृतिक । गगन है ।
वही है, और कुछ नहीं । बेला है छल की ।
सँभलने का वक़्त नहीं है, न वैसी है प्रतिक्रिया, किंतु—
सखि ! पिया ! सखि ! पिया ! सखि ! पिया !]

"अच्छा, तुम्हें दूँगी, तुम्हें ही—
तुम, जो कभी इसमें सार्थक थे;
तुम—निरीह, याचक: लो !
……किंतु, नहीं, नहीं;
दो, मुझे दो !"

[बिजलियाँ कौंधीं अँगुलियों में बाँहों में, तन में,
रोओं में, आत्मा की गहराइयों में, मन में।
प्रश्न आते हैं रह-रह कर जाने क्या-क्या;
सँभलने का वक्त नहीं है, न वैसी है प्रतिक्रिया किन्तु,—
सखि ! पिया ! सखि ! पिया ! सखि ! पिया !]

आकर्षण

निकल रही है धरती जल के महागर्भ से,
चमक रहा है रेतीली साड़ी का सोना,
पुलक रही हैं श्लथ कबरी की नन्हीं कलियाँ
लिए लुटाने को सुरभित पराग का दोना।

श्वेत घटाओं की चादर ओढ़े लजवंती
उतर रही है नील गगन से धीरे-धीरे,
सब कुछ लगता है नवीन-सा, अनहोना-सा
धीरे-धीरे सिमट रहे सागर के तीरे।

मैं दर्द के भुजपाश में आबद्ध हूँ, रात गुनगुनाती है।
मेरी चेतना को नशा है दर्द का
झूम-झूम जाती है,
मेरी दुखती साँसों की अँगड़ाइयाँ
चूम-चूम जाती है।
वाणी मेरी हो गई है—
अनचीन्ही पीड़ा के अधरों का मौन सुख
मैं दर्द के भुजपाश में आबद्ध हूँ, रात मुस्कराती है।

रंग रँगे पाटल, मधु से सब फूल भरे,
अम्बर से नीले गान चले, मन में उतरे,
निकला रे निकला चाँद वियोगी, झूम रहा,
लहरों के विह्वल अधर व्यथित कर चूम रहा

नहीं, नहीं, नहीं सहा जाता!
मधुलुब्ध प्रहर में,
अनचीन्हीं इस लहर में
दूर... दूर... नहीं सहा जाता?
नहीं, नहीं, नहीं सहा जाता!

पाँव ठहरे हुए हैं मेरे और तुम्हारे,
छाँव ठहरी हुई है मेरी और तुम्हारी,
चलने को चलती है साँस, बस।
और जो कुछ है, रुका हुआ है।
विवशता ऐसी कि आँखों का गीत भी
पलकों के साथ-साथ झुका हुआ है।
कहने को इ—त—ना है
और कहेंगे हम।

ठहरें, ठहरे ही रहें।
यह दर्द अच्छा है, सहेंगे हम।

रात अलसाई-सी पड़ी है।
चाँदनी-वसनहीन खड़ी है।
चाँद कुछ घबराया हुआ है।
आँखों में नशा छाया हुआ है।

यह मन में जो होता है—
सिहरन बोता है,
नस-नस का लहू लगता है काँपने।
उफ़ ! ऐसा अंधा आवेग कभी पहले तो नहीं जगा ?
लगता है...
कुछ लगता है...
लगता है क्या ?...
देख, देख, उफ ! री हवा !
आँचल सँभाल।

इच्छा

रूप ने प्रश्न किया,
अरूप ने उत्तर दिया।
समस्या उलझ गई,

आस्था-अनास्था के एक ही मूल केन्द्र से
दो रेखाएँ चलीं।
वृत्त बन गया।
संकल्प में द्वन्द्व पैदा हुआ।
द्वन्द्व से अग्नि निकली।
अग्नि से ताप निकला।
ताप ने आवेग को जन्म दिया।
आवेग से विस्फोट हुआ।
वृत्त टूट गया।
अलग-अलग हुए सब—
कण, अणु, परमाणु,।
फिर संचयन आरंभ हुआ।
नए-नए लघु-लघु वृत्तों में
एकत्रीकरण हुआ।
स्वौजस से आंदोलित वृत्तों में गति उत्पन्न हुई।
टकराए।
पहले परिधि टूटी थी; केन्द्र टूटा ! सब टूटे।

कहाँ हैं —लोग ? —
वे, सब—श्रद्धा, मनु, संतति ?
मैं तो पुत्रवती होकर भी वन्ध्या रही।
मैंने जो भूमि बनाई थी, वह पिच्छल नहीं थी।
मैंने जो बीज बोए थे, वे संक्रामक नहीं थे।
मैंने जो सपने ढाले, वे अपनी ही आवश्यकता से उत्पन्न हुए थे।
मैंने जिन सत्यों को उद्भावित किया था, उनमें स्थिति-स्थापकता भी थी।

कहीं श्रद्धा के अश्रु टपके,
कहीं करुणा झरी;
कहीं मनु का पुरुष, कहीं अहम् खड़ा
और—

मैंने मनु से कहा था—
जो है, उसे देखो,
जो है, उसे सुनो,
जो है उसे छुओ,
जो है, उसे समझो,
किंतु मनु—पुरुष !
और श्रद्धा—कुमारी, नारी—
अत्याधिक भोग और भोग से उत्पन्न करुणा से नपुसंक—अकामा !

क्षण से परे क्या है ?
दिशा कहाँ से चली ?
स्रष्टा कौन है ?
प्रश्न अच्छे हैं।
ध्वंस नपुंसक, आध्यात्मिक, दार्शनिक मनु ने किया,
श्रद्धा का हिया पिए करुणा।

मुझे हँसी आ रही है।
लगता है, कोई मेरे रोम-रोम को गुदगुदा रहा है।
मेरी धमनियों में रक्त की जगह गुदगुदी बह रही है।
मेरा सम्पूर्ण चेता-मण्डल इस गुदगुदी से विस्तीर्ण होता जा रहा है।
अरे, यह, यह हँसी—
मनु, श्रद्धा, करुणा, अध्यात्म, दर्शन—
उफ् ! उफ् ! यह हँसी—
इड़ा ! री इड़ा !!

मैं सिहर रही हूँ प्रियतम, मुझको मत छूना ।
मेरे भीतर उद्वेलित है रस का सागर ।
मैं फैल रही हूँ, धरती सिमटी जाती है ।"

"मैं नए रक्त का वेग नहीं सह पाऊँगा ।
सङ्गीत नहीं आवेश श्वास में चलता है ।
मेरे शोणित के सागर का मंथन करने
मैं देख रहा हूँ, गगन उतरता आता है ।"

मैं अभी भी मनु द्वारा संयोजित समाज के आश्रितों का बेतरतीब कर्कश गीत सुन रही हूँ : श्रद्धा के पहले बेटों का गीत :

'एक स्वर, अनेक स्वर,
जाने पहचाने, अनजाने स्वर,
यानी स्वर के बेगारों की पूरी एक टोली—

इन्हें आधा पेट दो
और पूरा काम लो !

आदमी एक चीज़ है ।
चीज़ यानी बिकाऊ—जैसे प्याज़ ।
आदमियत प्याज़ का छिलका है ।
सेर के भाव बिकता है—खुदरा नहीं, खुदरा नहीं !

आग जलती है इनके पेट में,
आँखों से निकलता है धुआँ,
ये लोग ख़तरनाक—
लंकादहन करनेवाले हनुमान के वंशज हैं।
इनकी पूंछ में घी-चुपड़ा कपड़ा मत बाँधो,
पानी लपेट दो।
'अधिक उपजाओ अन्न' का देकर इन्हें नारा
सागर जुतवा दो। भगवान् का नाम लो।
स्वर्ग सुरक्षित रहेगा।'

उनका भगवान् साक्षी है :
केवल वे ही नहीं रहे,
उनका स्वर्ग सुरक्षित है!

"देखो इड़ा, मुझे आंदोलित न करो।
इस नए कल्प में मुझे जीने की स्वतन्त्रता चाहिये।"

"मैं प्रसन्न हुई।
विधायक ने स्वतन्त्रता की कल्पना की है।"

"मुझे शांति चाहिये, इड़ा!
तुम्हारे सम्पर्क से द्वन्द्व पैदा होता है।"

"शांति चाहिए? क्यों?
स्वस्त्ययन करोगे?

"नहीं! मैं सृजन करूँगा।"

"सुन्दर! नपुंसक मनु सृजन करेगा।
उसे द्वन्द्व नहीं, शांति चाहिए।"

"तुम? इड़ा, तुम? जीवित?…मनु कहाँ हैं?"

"चिंता न करो। वृद्ध, स्वस्थ मनु इस नई स्पंदिनी श्रद्धा का है।"

"किंतु तुम ?"

"मैं तुम्हारी करुणा का प्रसार देखती फिर रही हूँ।
विध्वंस और विनाश की कल्पना से भयभीत श्रद्धा की
इस पुण्यभूमि में जीवित हूँ, उपकृत हूँ।"

"मेरा यहाँ आने का एक निजी उद्देश्य है।"
"वह मैं जानती हूँ, इड़ा ! मनु।"
"नहीं। मनु नहीं, मुझे मनु का पुंसत्व चाहिए—
मेरी अपनी रचना के लिए।"
"किंतु मैं..."
"नहीं, मनु, न मुझे तुम्हारी चाह है, न श्रद्धा की।
मुझे एक नूतन स्वरूप के निर्माण के लिए
द्वन्द्व चाहिये—एक क्षोभ—और वह मुझे
तुमसे मिलेगा।"

"किंतु मैं तो नपुंसक हूँ, इड़ा ! तुमने कहा था।
मुझमें विष भी है।"
"मैं वह विष पी जाऊँगी।"
"वमन करोगी ?"
"नहीं श्रद्धे ! सृजन करूँगी—नए स्वस्थ,
हृष्ट-पुष्ट रूपों का सृजन—नए आहार-व्यवहार का सृजन—
नए आचार-विचार का सृजन—नई व्यवस्था का सृजन—
जो मैं चाहती थी, किंतु तुमने करने न दिया..."

"नहीं, मनु, नहीं, इड़ा को नहीं, मेरी संतति—"

त्रिविध

रूप नहीं है, रङ्ग नहीं है, राग नहीं है,
मेरे मन में अब कोई अनुराग नहीं है;
आई थी जो लहर वेग से, चली गई है,
मेरी हर वासना मुझी से छली गई है,

मैं विशृङ्खल पड़ी हुई हूँ, क्षोभ नहीं है,
सुख या दुख का, मुझे किसी का लोभ नहीं है
मैं तटस्थ हूँ, साँसों की गणना करती हूँ
मन-ही-मन में सृष्टि और रचना करती हूँ।

है बड़ा कठिन दायित्व, निभाना सरल नहीं है,
फिर भी यह दायित्व सुधा है, गरल नहीं है;
इसीलिए सुख के छन्दों को आमन्त्रण है,
धरती पुलक भरी है, हर्षित नील गगन है!

तुम्हें याद होगा मेरे लाडलो,
मैंने एक दिन तुम्हें तुम्हारे पिता मनु की कहानी सुनाई थी,
जिसने मुझसे पलायन किया;
जिसने एक ऐसे समाज का विधान बनाया,
जिसमें सर्वत्र विभाजन ही विभाजन था;
और आनन्द सम्मोहिता श्रद्धा ने उस विधान पर अपने हस्ताक्षर किए;
उसी दिन से अंशावतरण की कथा शुरू हुई !

परिणाम वही हुआ, जो होना था।
खण्डों ने अखण्डता की कल्पना की, कांक्षा की,
युद्ध हुआ।
मनु भी गए, श्रद्धा भी गई।

और यह अनिवार्य भी था।
मनु ने जो अंशपत्र प्रस्तुत किया था।
उसका यही अंत होना था।

इसीलिए, आओ मेरे असंख्य लाडलो,
आज मैं तुम्हें—तुम सब को
इस उद्घाटित भूमिका में
मनु के स्थान पर स्थापित करती हूँ !

द्वितीय खण्ड



संचयन

गीत

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

किसने यह हाँक दी
जागते रहो -

टूट रहे जीवन की धुंधलाई छाँहों पर
उढ़के दरवाजों की टूटती कराहों पर

शीशे की किरचों सा दर्द चमकने लगा

किसने यह हाँक दी
जागते रहो......

फूल-पात, रंगे बन, पेड़ों की शाखों पर
जले हुए जंगल की भीगी सी राखों पर

हल्के पदचापों का मौन उभरने लगा

किसने यह हाँक दी
जागते रहो......

धारा के अधजल में पड़ी हुई नावों पर
बीते के साये और आगत के पाँवों पर

पूजा का जुड़ा हुआ हाथ सिसकने लगा

किसने यह हाँक दी
जागते रहो......

निर्माल्य और नया बिरवा

निबन्ध : कविता

१९५९

निर्माल्य

विद्यानिवास मिश्र

मेरे एक मित्र हैं जो शङ्कर जी के नित्य भक्त हैं, प्रतिदिन अपने मानस, वाचिक और कायिक अपराधों की अञ्जलि मृत्युंजय की देहली पर चढ़ाने आते हैं और वहाँ से लौट कर जब मैं रीवा रहता हूँ तो मेरे पास निर्माल्य देने कभी नौ बजे कभी दस बजे तो कभी ग्यारह बजे रात तक चले आते हैं। इस निर्माल्य में कभी तो बेला के फूल होते हैं तो कभी कमल के, कभी धतूरे के भी और इनके साथ बिल्वपत्र भी रहता है। प्रायः ये फूल बासी होते हैं, पर मैं स्वयं मन्दिर वर्ष में एकाधबार से अधिक नहीं जाता, इसलिए बिना गये ही जो निर्माल्य रूप में अयाचित प्रसाद मिलता है, उसको शिर से लगाता ही हूँ और लगाकर इन्हें सिरहाने रख देता हूँ। यदि कभी माला हुई तो दीवाल पर टंगी हुई मेरी छवि पर यह विराजी जाती है, पर अधिकतर अलग-अलग फूल ही होते हैं। फूलों में मुझे बेला बहुत प्रिय है क्योंकि उसकी सुरभि रातभर में मेरी समूची सेंज में भिन जाती है और प्रातःकाल में जब जगता हूँ तो वह सुरभि आधीरात में अपनी पंखुड़ियों को खोलने वाली लोकरागिनी की क्यारी तक खींच ले जाती है और मैं उच्छ्वसित हो उठता हूँ; तब मेरे प्रथम यौवन की उन उत्कंठाभरी रातों की स्मृतियों की पर्त उभरने लगती है, तब गर्मी की छुट्टियों में भाई बहनों और माताओं से भरे-पुरे परिवार में सबके स्नेहसत्कार से छुट्टी पाकर शय्याधिकारिनी निःशब्द भाव से अपने हृदय-मुकुल छितराती, तब अपनी दुलारी बहन की सेज पर सजाकर रखे गये बेला के फूल दूने गमक उठते। तब बेले की तरह दिन भर उत्तपित रहने वाला रात में उत्कीलित मन अपनी उत्फुल्लता में विभोर हो जाता। नवपरिणय के वे दिन चले गये, पर बेला के प्रति मेरी आसक्ति नहीं गयी। इसलिए मेरे मित्र जब कभी बेले का निर्माल्य लाकर देते हैं, मैं प्रमुदित हो जाता हूँ। यह नहीं कि कमल के फूल के प्रति मेरी कम श्रद्धा है, पर कमल के फूल को पाते ही मैं उसके किंजल्क की शोभा में ही उलझ जाता हूँ और मन पर इतना गहरा विस्मय

छा जाता है कि उच्छल प्रीति को कहीं अवकाश ही नहीं मिलता। धतूर और मदार के फूलों को मैं विधिवत् ऊँचे ताक पर रख देता हूँ, क्योंकि उनकी अवधूत मादकता मेरे वश की बात नहीं।

दूसरे दिन मुझे चिन्ता जरूर हो जाती है कि इन फूलों का क्या किया जाय, एकाध दिन तुलसी के गमले में डालने चला तो धर्मभीरु पत्नी ने टोका—भला एक देवता को चढ़ा हुआ फूल दूसरे देवता को चढ़ सकता है। मैंने समझाने की कोशिश की—यह तो चढ़ाने जैसी बात नहीं, यहाँ तो केवल इन फूलों को सद्गति देने का प्रश्न है, पर उन्होंने एक न सुनी और ये फूल एक ताख पर रखे जाने लगे। कहीं उड़कर ये जमीन पर आ रहें और पैरों तले रौंदे जाँय इस आशंका से, इन्हें गिल्लोरियों से और पुस्तकों से दबा कर रखा जाने लगा और प्रतिमास जब मैं प्रदोष व्रत रहता तो उस दिन शिव पर चढ़ाये फूलों के साथ ये सूखे हुए निर्माल्य फूल भी नदी में जुड़वाने भेज दिये जाने लगे।

बहुत दिनों से मैं निर्माल्य की सार्थकता पर सोच रहा हूँ। देवता का निर्माल्य और प्रसाद दोनों की एक विशेष गौरवपूर्ण स्थिति है, दोनों समादरणीय हैं और दोनों की उपेक्षा घोर अपराध है पर दोनों में एक मौलिक अन्तर है, वह यह कि निर्माल्य देवता के श्रीचरणों में चढ़ने की मुहर है और प्रसाद देवता के श्रीनयनों की कृपा कोर है। निर्माल्य वह बैरंग डाक है जो टिकट न लगने के कारण लौट आयी हो, जब कि प्रसाद पत्र का अनुकूल उत्तर है। इसी से प्रसाद न केवल शिरोधार्य होता है बल्कि वह कंठधार्य भी हो जाता है, और सीधे हृदय में जाकर उतरता है।

एक दिन यही मीमांसा करते करते सोया तो मैंने सपने में एक विचित्र बात देखी। न जाने कितने निर्माल्य मानवीय आकार धारण किये मेरे सामने चले आ रहे हैं, कोई गेंदे की तरह गोलगप्पा, कोई शतदल की तरह विहसित, कोई कुमुद की तरह शर्मीला, कोई धतूर की तरह बौराया, कोई मदार की तरह घुंडीदार, कोई कठबेले की तरह बेहया, कोई जूही की तरह नाज़नीन और कोई बेले की तरह मदमस्त। इतने ही में देखा—खादी के फूलों के तथा सूत के निर्माल्य तो एक विराट भीड़ का रूप ग्रहण करते चले

आ रहे हैं और मैं घबरा गया। सोचने लगा कि आखिर ये कौन से नये देवता जनमे, जिन्होंने रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारों के अनुभव से विरहित इन शब्दमात्र मालाओं को अङ्गीकार करना शुरू किया। तब मुझे एकाएक ध्यान आया कि भगवान् तथागत की जय हो, नारायण तो लुप्त हो गये, अब नर नारायण बन गए, जिनके लिये मनु ने युगों पहले लिख दिया था 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'। यह नर रूप देवता बड़ी ऊँची सतह पर चलते हैं, इन्होंने भारत की सामासिक संस्कृति को पा लिया है और उनकी उपलब्धि से मृगदावमात्र संस्कृति निष्ठ हो चुका है। इन देवता को सहज-शून्य लाभ हो चुका है, इसी से ये शून्य के गुण शब्दमात्र से रीझते हैं और रीझकर इसी 'सबद' की अमृत वर्षा भी करते हैं। इनकी पूजा के उपकरण सभी वर्णाढ्य हैं। इसी से इनको फूल भी वह चढ़ता है, जिसको मनुष्य ने अपने कर्तृत्व की पुष्टि में फूल नाम दे रखा है और इसी से जो प्रकृति के फूलों की तरह नाशधर्मी भी नहीं है।

मैं इस ज्ञान के आलोक में आगे बढ़ने लगा तो देखा कि वे पुराने किस्म के बूर्जुवा निर्माल्य इस नयी भीड़ से कुचले जाने लगे और ये कागज़ी व सूती निर्माल्य मेरे सिर चढ़ने के लिए आतुर दिखने लगे। मैं सिर पर पैर रख कर भगा और मुझे लगा कि जितनी बड़ी भीड़ पीछे से आ रही है, उससे लाखगुना बड़ी भीड़ आगे मेरी ही तरह त्राण पाने के लिए पलायन कर रही है। मैंने दो एक सयाने दिखने वाले इन सहकायरों से पूछा कि 'भाई निर्माल्य से इतना उद्वेग क्यों'? उन्होंने बताया निर्माल्य तो सिर आँखों पर, चाहे वह वनदेवता का हो, चाहे गृहदेवता का हो, चाहे ग्रामदेवता का हो, चाहे नगरदेवता का हो या चाहे जनदेवता का हो, पर तुम जानते नहीं इस निर्माल्य को सिर से छुआ कर ही विसर्जित नहीं किया जा सकता। इसको कभी भी, कहीं भी विसर्जित करने का निषेध है, क्योंकि ये निर्माल्य राष्ट्रीय सम्पदा हैं। इन थातियों को सँजो कर रखना पड़ता है, नहीं तो देवता का कोप पड़ता है। मैंने कहा कि तब तो मैं इस समाज से विग्रह करूँगा और व्यास की शरण गहूँगा कि—हे 'फुल्लार विन्दायत पत्र नेत्र !' हम नरनारायण को अंगीकार करते हैं, पर हमें उनके निर्माल्य से मुक्ति दो, क्योंकि गर्दन इतनी चौड़ी नहीं है कि इनका भार वहन कर सके। इतने में मेरी नींद उचट गयी और मैं हड़बड़ा कर देखने

लगा कि कहीं कोई निर्माल्य मेरे सिरहाने तो नहीं अधिष्ठित है। मुझे यह देख कर सुख हुआ कि सिरहाने सात सौ पृष्ठ की एक मोटी सी सुछपित पुस्तक है, जिसके नीचे दो चार बेला के फूल दबे पड़े हैं।

यह पुस्तक वैसे चढ़ी हुई है और चढ़ कर फिर पाठकों को चढ़ायी हुई है, मैं भी उन असंख्य भाग्यशालियों में से एक हूँ, इस बोध से मैं बहुत आत्मतृप्त हुआ। थोड़ी देर में विगत रात्रि का स्वप्न एक बार अपनी धूम-रेखा पुनः छोड़ते-छोड़ते दूर सरकने लगा। मेरा मस्तिष्क फिर घूम गया। क्या अब देवताओं के अर्चन की वे पुरानी मान्यतायें बिल्कुल ही उलट गयीं कि अब एक ही माला हज़ार बार चढ़ती है और हज़ार बार प्रसाद बन कर बँटती है, क्या मनुष्य की क्रियाशक्ति इतनी बढ़ गयी कि प्रकृति के दान की उसे रञ्चमात्र भी अपेक्षा नहीं रही ? क्या आमोद से प्रमुदित होने वाली वह चेतना देवताओं में लुप्त हो गयी कि अब वे सुरभि से घबराने लगे जिसके कारण सुरभि के ही लिए खिलने वाले फूल भी वृन्तों में उकताने लगे ? वहाँ जाकर इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करूँ, यह सोच ही रहा था कि अपने सिरहाने की पुस्तक का वह पृष्ठ सामने आया जिसमें पुस्तक का अर्थवाद प्रतिपादित था, उसे पढ़ कर मुझे यह आशा बँधी कि मेरे इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में ही तो यह पुस्तक लिखी ही गयी है। मैंने जैसे-जैसे पन्ने उलटे, वैसे-वैसे मुझे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता गया कि यह पुस्तक ही मेरी जिज्ञासा का समाधान है। युग बदलते हैं, देवता बदलते हैं, देवता की अर्चन पद्धति बदलती है और देवता का मान बदलता है।

यह सुगत का युग है, इसमें सुगत अर्थात् अच्छी पहुँच वाले की अर्चना का विधान है, क्योंकि सब नाशवान् है, सब क्षणिक है, सब दुक्ख है, पातियोक्ख केवल सुगत के पास है। इसी से सुगत से कुछ कम मान उपगत का है और जिस पर उपगति की मुहर लग चुकी हो, उसी का जन्म सार्थक है, उसी के पुण्य जाग्रत हैं और उसी की चर्चा सुमङ्गल है। निर्माल्य को शाश्वत प्रतिष्ठा मिलने का भी शायद यही कारण हो, क्योंकि निर्माल्य भी उपगत है।

तब तो निर्माल्य बनना चाहिए, और अब तो वह निर्माल्य रहा नहीं, वह अब सरामाल्य हो गया, कितनी बार चढ़ा और कितनी बार उतरा,

कितनी जगह चढ़ा और कितनी जगह उतरा, इसका कोई हिसाब नहीं। और निर्माल्य अब खुदा की नहीं आदमी की सब से बड़ी न्यामत है। पर प्रश्न यह है कि अब तक जो अपने मन में बेला की महक बसी हुई है, उससे छुटकारा कैसे पाऊँ और इसके अलावा सोने-चाँदी की वह पन्नी कहाँ से पाऊँ, जिसके बिना खादी की माला बन भी जाऊँ तो चमक नहीं सकता। यही बहुत दुरन्त समस्या है। शायद मैं अपने को माला के आकार में रच नहीं पाऊँगा, कम से कम इस जनम में तो आशा नहीं दिखती, क्योंकि मैं देखता हूँ कि मेरे घर की मुँडेरी पर जो एक अकेला बेले का गमला है, ठीक उसी की तरह मेरा जीवन है। उसमें कभी भी एक या दो से अधिक फूल नहीं लगते, और ये फूल अपने में ही इतने बेसुध रहते हैं, कि कभी इन्हें परार्पित होने की चिन्ता नहीं होती।

हाँ, इतना ज़रूर सोचता हूँ कि निर्माल्य चाहे बनूँ न बनूँ, एक दिन अपनी उत्फुल्लता से अपने पार्थिव देवाधिदेव को यदि प्रसन्न कर सका तो उनका वह क्षणिक प्रसाद ही मेरे जीवन की चरम उपलब्धि होगा, जिसके बाद मुझे अपने जीवन से, बेले से और बेले की महक से भी मोह न रहेगा। हाँ, अगर चढ़ना ही हुआ तो जीवन के साथ संघृष्ट होकर चन्दन बन कर जब तब चढ़ता रहूँगा, पर वह भी सरे-बाज़ार नहीं, अपने आँगन में अपनी थाली में प्राणप्रतिष्ठित देव के मस्तक पर—और जीवन के सहारे चढ़ूँगा, जीवन के सहारे पार्थिव रूप में पुनः घुलमिल जाऊँगा, नदी या ताल की शरण न ताकूँगा। निर्माल्य बनने वालों के सौभाग्य से मुझे ईर्ष्या नहीं, उनके लिए यही विधान था, पर प्रसाद की ललक ज़रूर बनी रहेगी और जब तक यह ललक है तभी तक मेरी जीवन यात्रा सफल है।

वैसे युग-निर्माल्यों के लिए यह निर्माल्य भयवश अर्पित करता हूँ।

बट का बिरवा

श्री अनिल कुमार

आज तुम्हारी छाती की
पसलियाँ तोड़ कर बट का बिरवा।
लौह-दुर्गों के कृष्ण कँगूरे पर
क्या लहलहा रहा है !

मुट्ठी में कसकर खींचो
इसको उखाड़ लो,
बल-बूता रह गया कहाँ
इतना भी तुम में !
तुमने आजमाया है वैसे
आँख बचा कर अपने बल को !
जमा नहीं वह काम तुम्हें
अब मिल कर खींच रहे हो
इसको !

जोर लगा कर,
और हाँफते दम तक खींचो;
शायद कर कोंचा पड़े,
पकड़ ढीली पड़ जाये !
कोई मोह अगर अपनी
कमजोर हथेली पर उभरी उस
लाल खराश के दर्शन की
लालसा जगाये
देखो, देखो,
रँगी पराजय की मेंहदी से
लाल लाल अपनी हथेलियाँ।
सुनो चचेरे भाई मेरे !
गांधारी के पुत्र कौरवो !!
माता ने तो सतत आँख पर
पट्टी बाँधे
उमर गुज़ारी है सतीत्व के
विज्ञापन में !
तुमको भी यह चिह्न वंश का
मिला भाग्य से;
रहने दो अपनी आँखों पर
इसे उतारो नहीं महाशय !
वरना हे गांधारी पुत्रो !
जाति तुम्हारी सदा परखने में
गफलत होने का भय है,
रहने दो यह जाति और
कुल-सूचक संज्ञा
यही विनय है।

सुनो चचेरे भाई मेरे,
गांधारी के पुत्र कौरवो !!
हम वे कुन्ती-पुत्र बंधु हैं
जिन्हें लाख के चमकीले महलों में
तुमने

धाक जमाने का सपना देखा था
भरसक !
हमें न तुम यह धरती दोगे
जितनी भी रह जाय हमारी
कलम नोक पर !

भले हमें तुम भटकाओ बरसों तक
वन वन,
भले हमारा बंधु धनंजय
बृहन्नला बन एक वर्ष का
अभिशापित कष्ट निभा रहा,
भले हमारा पार्थ-सारथी
लौट चुका हो हार मान कर,
तुमको कल तो अपनी विधवा
पुत्रहीन मान्यता-पत्नियों का
क्रन्दन सुनने को जाना
होगा ऊपर !

ऊपर-ऊपर...स्वर्ग समझ लो
अथवा समझो कुर्सी ऊँची—
पच्चीसाली ।

हम तो लथपथ हैं
जीवन के महा-समर में.........
रक्तकीच में !
कल जीतेंगे तुमको आओ कुरुक्षेत्र में !

यह जो बिरवा आज उगा है
बोधिवृक्ष-सा,
यह विराटता का प्रतीक है !
इसके हेतु जगे हैं हम सब
एक साथ ही
स्वस्थ मान्यता की अपनी जड़
गहरी डाले
उस धरती में
जिसको तुमने दासी कह कर
दबा रखा है ।
आज वहीं पर
उगा है पसलियाँ तोड़कर
बट का बिरवा
छाती पर फैली दरार पर !

आस-पास के लोग

कविता : एकालाप : रेखाचित्र : कहानी : व्यंगचित्र

संभवों का दुनियाँ

श्री गिरजाकुमार माथुर

: १ :

कोयला अभागा बन सकता था हीरा
स्रोत महानद धार
फैलकर पौधा बन सकता था कांतार
वह जो असफल रहा
राम, कृष्ण; गौतम
सिकंदर या शेक्सपियर
वैगनर, विंची या
व्यास, भरत, कालिदास
सब में है हीरो एक
देवता, युगावतार
शर्त : संभाव्य की ज़मीन, बीज का विकास
परिस्थिति की खाद
और आसपास—

: २ :

शहरों से
सड़कों से
क़स्बों से
गलियों से
कूचों से
टोलों से
नालियों रँगे हुए
स्याह फुटपाथों से

आवाजें आती हैं—

— हम भी हो सकते थे
नेता, विश्व-निर्माता
देशों के विधाता
महापुरुष
कलाकार
भद्रलोक—धन, यश, श्री-मान
अधिकारों के दाता
वैभव, विभूति के अधिष्ठाता
मगर नहीं, नहीं
नहीं
नहीं, नहीं
क्यों नहीं ?
क्यों नहीं ?
क्यों नहीं ?
आवाज़ें आती हैं
पत्थर, पत्थर से टकराती हैं
गलियों, मकानों पर
सिर धुन मँडराती हैं
जैसे हो ढूँढ़ रही
प्यासी, आँच में तपती आत्मा
एक शरीर नया
लाओ शरीर वह
मिट्टी का पुतला बनाकर खड़ा करो
प्यासी आत्मा के उतरने को
आतुर है
आत्मा के मूल्य हैं
सिर्फ है शरीर नहीं
क्यों नहीं
क्यों नहीं

क्यों नहीं !

: ६ :

जब तक वह सब कुछ
जीवन में नहीं है
तब तक यह आग है
जब तक है रंग, रस, आनंद
एक कल्पना
तब तक अतृप्ति है, विराग है......

एकालाप

डाकमुंशी की एक शाम

अमृतराय

कमर टूट जाती है......मेज़ पर झुके झुके...सुबह से शाम तक... जैसे तेली का बैल...तब भी तो किसी का मुँह सीधा नहीं होता...त्योरियाँ चढ़ी ही रहती हैं हमेशा...कोई कलेजा ही निकालकर क्यों न रख दे... आज वह किस सड़ी सी बात पर बड़े साहब ने सबके सामने मुझको... चपरासी को भी इस बुरी तरह से कोई क्या झिड़केगा ..ग़लती तो हुई... मैं कब कहता हूँ कि गलती मुझसे नहीं हुई...तो फिर शिकायत किस बात की··ग़लती करोगे तो डाँट खाओगे...जो ग़लती करेगा वह डाँट खायेगा...यह तो उसूल की बात है...समझता हूं...अब भी नहीं समझूंगा...२२ साल हो गये इसी चक्की से जुते-जुते...खूब समझता हूँ इसके अदब कायदे...मगर तो भी किसी किसी दिन...किसी दिन भी क्यों क्यों ?...नहीं, नहीं, नहीं,...उदास होने का हक भी सब को नहीं है... कभी एक शेर पढ़ा था...दिल ही तो है...दिल ही तो है...हां...

दिल ही तो है न संग-ओ-ख़िश्त, दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हज़ार बार कोई हमें सताए क्यों...

झूठ है...बिलकुल झूठ है...हमारा दिल ईंट-पत्थर है...हां—ईंट-पत्थर...उसको क्या हक़ कि वह दर्द से भर आये...क्यों भर आये ? ...सही बात है...क्योंकि अगर उसको यह हक़ होता तो इस दर्द की एक धुंधली सी लकीर उन्होंने भी मेरी आँखों में पढ़ी होती...और कम से कम एक बार सोचा होता कि आज क्यों इस आदमी से ग़लती हुई जो कभी ग़लती नहीं करता...मगर किसे पड़ी है ? किसके पास इतना फालतू वक्त है...इसी तरह दुनिया का कारोबार चलता है...मुझे कोई गिला नहीं है...मुझे कोई गिला नहीं है...किशन की अम्मा ...अरे ओ किशन की अम्मा...मैं आ गया भाई...तुम सब हो कहां...सामने का दरवाज़ा खुला हुआ है और कहीं किसी का पता नहीं...भगवान जाने सब कहां अपने अपने बिल में छिपे रहते हैं...इसी कटोरी बराबर घर में...किशन की अम्मा...चलो तुम आईं तो...मैं तो समझा सबको एक साथ सांप सूंघ गया...मगर यह क्या... तुमने मुंह क्यों लटका रखा है... ग़लत बात है... बिलकुल ग़लत बात है... बिलकुल ग़लत बात है... यह मैं तो यों ही दिन भर का थका-माँदा घर लौटता हूँ... और फिर तुम्हारा यह तोबड़ा-जैसा मुँह... एक आँख नहीं भाता मुझे... समझी...एक आँख नहीं भाता... मगर सुनूँ भी तो हुआ क्या ? बहू ने आज फ़िर कोई नया फसाद खड़ा किया ? मुन्नी का मुँह नोच लिया ? कब ?... हे भगवान मार डालेगी यह बहू हमको... पागल कर देगी... पागल कर देगी किशन की अम्मा...पता नहीं ये कब के पाप निकल रहे हैं...और यह कृष्णमुरारी ? लुच्चा कहीं का ! हमसे क्या ऐसी अदावत थी उसको...क्या नहीं कहा उसने...लड़की ऐसी है, वैसी है...बड़ी गुणवती है...सुशीला है...और लाकर एक पागल को हमारे गले बाँध दिया...बड़े सगे बनते थे ! अब शक्ल नहीं दिखाई देती।......पूछिए, हमको क्या मालूम था वरना हम क्यों जाते अपनी सांसत करवाने...हमने तो समझा कृष्णमुरारी बाबू इतनी तारीफ कर रहे हैं तो लड़की ठीक ही होगी...वर्ना दुनिया में क्या लड़कियों की कमी थी। बला से चार-छैः सौ कम देते मगर वह लड़की तो अच्छी थी...रामसुन्दर की...सांवली थी तो क्या हुआ...अब चाहे कुछ गोरी कं

लेकर...हर दम जी धुकर-पुकुर किया करता है...कब कौन सी नयी आफत खड़ी हो जाय...मुन्नी को जरा बुलाओ तो...पूछूं बात क्या थी...सो गयी है?...बेचारी...नन्हीं सी जान और वह पहाड़ सी औरत...ओफ।...तुम क्या...किस बुरी तरह बकोटा है...पाँचों नाखूनों की लकीर खिंच गयी है...डाइन कहीं की...नहीं...नहीं...अब बात...अब और नहीं सह सकता मैं...मैं आज ही बाबू गुरसहाय को लिखूँगा...आकर लिवा ले जायँ अपनी लाड़ली को...बाज़ आये हम ऐसी बहू से...राक्षसी है...राक्षसी...किस बुरी तरह बकोटा है...तमाम खून उछल आया है...मैं तो कहता हूँ किशन की अम्मा, किसी दिन वह घर में आग न लगा दे...खुद ही न जल मरे कहीं...अरे क्या ठिकाना पागल आदमी का...किसी रोज छत ही से कूद पड़े...तो फिर बँधे बँधे घूमें और दुनिया भर में डुग्गी पिटे...कालिन्दी बाबू की बहू जल मरी...कालिन्दी बाबू की बहू छत से कूद पड़ी उफ़, यह कहाँ की बला गले लगी...मैं तो पागल हो जाऊंगा...रमुआ...रमुआ झूठ कहता है...रमुआ बदतमीज़ है...मैंने कभी रुपये के लालच से शादी नहीं की...हरगिज़ नहीं की...मुझे कुछ भी नहीं मालूम था...कृष्णमुरारी ने मुझे धोखा दिया...शर्म भी नहीं आई रमुआ को मुझसे ऐसी बात कहते...कहता है मुझसे इस शादी से कोई मतलब नहीं...रुपये आपने लिए आप जानें...रामू रामू! पागल हो गये हो! रामू इस वक्त यहाँ होगा? यह तो सैर सपाटे का वक्त है...कहीं मटरगश्ती कर रहा होगा...पाप तो मैंने किया है...दिन भर खच्चर की तरह जुता रहा हूँ और अब यह...तुम तो जानती हो किशन की अम्मा, मैंने कितना चाहा, हर तरफ काट-कपट की, ताकि यह मरदूद पढ़ जाये...मगर बदजात बी० ए० न हो सका...न हो सका...न हो सका...आवारागर्दी से किसी को छुट्टी मिले तब तो...बी० ए० हो गया होता तो जैसे-तैसे, कह सुनकर मैंने उसे डाकखाने में कहीं लगवा दिया होता...चार पैसे का सहारा होता...सहारा भाड़ में जाय, लोग अपना बोझ उठा लें यही बहुत है, कि झूठ कहता हूँ किशन की अम्मा?... ऐसी नालायक औलाद...मगर नहीं...नहीं...किशन बहुत अच्छा लड़का था...सबका बहुत ख्याल रखता था...और मैंने उसे घर से निकाल दिया...नहीं नहीं, मैंने नहीं निकाला...मुझे उस रोज गुस्सा आ गया था सही लेकिन मैंने किशन से कुछ खास कहा नहीं...वही चला गया...और हाँ, तुम्हें बताना भूल ही गया...आज उसका खत आया है...खुश है।

कलकत्ते में है। एक होटल में रकाबियाँ धोने का काम पा गया है...बुरा हुआ क्यों?...सात पीढ़ी से जिस घर में डाकमुंशी होते आ रहे हैं उस घर का लड़का होटल में रकाबियाँ धोये।...कितनी बुरी बात है। है न?... बोलो न? बोलती क्यों नहीं?...ऐ तुम रो रही हो? इसमें रोने की क्या बात है?...माँ का दिल...हिश्ट...कोई किसी को जन्म भर आँचल में छुपा कर नहीं रख सकता। मैंने खूब सोचा है...किशन की अम्मा खूब सोचा है... अच्छा हुआ किशन यहाँ से चला गया...बहुत अच्छा हुआ किशन यहाँ से चला गया...बहुत अच्छा हुआ...बहुत अच्छा हुआ...यह पागलखाना उसको भी पीस डालता...

रेखाचित्र

मनीषी जी

हरिशंकर परसाई

शहर के मध्यभाग में स्थित एक चाय का होटल है जो होटल से अधिक क्लब है। बाहर से बहुत भद्दा दिखने वाले इस होटल में ३०-४० सदस्य रोज नियमित रूप से चाय पीते हैं। यहाँ असामान्य व्यक्ति ही मैंने देखे हैं। सीमान्तों पर स्थित मनुष्यों का जमघट यहाँ होता है—याने वे जिनके मुख से निरन्तर ज्ञान झरता है, और वे जिनके मुख से गालियों की अजस्र वर्षा होती है; वे जो बीड़ी तक नहीं छूते और वे जो गाँजे की चिलम फूँके बिना घर से बाहर नहीं निकलते; वे जो अखंड संयमी हैं, और वे जो वेश्या के यहाँ पड़े रहते हैं; वे जो गऊ से सीधे हैं, और वे जो सियार से धूर्त हैं। पंडित, ज्ञानी, नेता, लेखक, कवि, शराबी, जुआड़ी, वेश्यागामी, गुंडे—सब यहाँ आते हैं और अंधेरे कमरे की भारी-भरकम, टेबिल के आसपास टूटी कुर्सियों पर बैठ कर उपनिषद् की व्याख्या से लेकर 'बर्थ-कन्ट्रोल' तक के विषयों पर चर्चा हो त

मेरी असामान्यता की साधना जब पूरी हुई, तब मैं भी एक मित्र के द्वारा यहाँ लाया गया और मेरा प्रथम परिचय 'मनीषी' जी' से कराया गया। प्रथम दृष्टि में ही जिस व्यक्तित्व को मैं ग्रहण कर सका, वह कुछ ऐसा था, अब भी ऐसा ही है—और शायद हमेशा ही ऐसा रहेगा।

घुटनों तक खादी की धोती, खादी की मिरजई, पाँव में फटी चप्पलें—ऐसी कि पाँवों की रक्षा कम करें, इज़्ज़त की ज़्यादा—आँखों पर चश्मा, काले धागे से जेब में लटकी घड़ी, बाँये हाथ में छड़ी, कंधों पर खद्दर-वसना कांग्रेसी भक्तिन की साड़ी की तरह बेलबूटेदार किनार का चद्दर।

स्वस्थ तगड़ा शरीर, रंग खूब गोरा, बड़ा सिर जिस पर लम्बे लम्बे घुँघराले चिकने केश, उन्नत मस्तक, प्रशस्त ललाट, नुकीली नाक, बड़ी बड़ी पानीदार आँखें जिनमें एक क्षण में दार्शनिक सी चिन्ता, और दूसरे क्षण मूढ़ सी शून्यता, चौड़ा चेहरा जिस पर पहाड़ी झरने सी निर्मल हँसी तथा बड़प्पन और सद्‌भावना की झलक।

उम्र अभिनेत्री की उम्र जैसी धोखेबाज़ और स्थिर।

वेश और शरीर को मिलाकर यह रूप 'मनीषी' के व्यक्तित्व की किताब की रंगीन 'जैकिट' है, जिसके भीतर जासूसी उपन्यास की तरह एक के बाद एक रहस्यमय अध्याय भरे हैं जिन्हें पढ़ते हुए मुझे १० साल हो गये, फिर भी जब अंतिम अध्याय पर पहुँचता हूँ, तो देखता हूँ कि आगे कोई परिशिष्ट जुड़ गया है।

पदवियों सहित पूरा नाम "पंडित महादेव प्रसाद शास्त्री, साहित्य-मनीषी भूतपूर्व सम्पादक—हिमाचल, आयुर्वेदाचार्य, ज्योतिषरत्न" है। 'शास्त्री', 'साहित्य-मनीषी' 'आयुर्वेदाचार्य' और 'ज्योतिषरत्न' पदवियाँ उन्होंने बिना किसी परीक्षा पास किये अपने आपको प्रदान कर ली हैं। ये 'ऑनरेरी-डिगरियाँ' हैं, जैसी अरब के शाह को भारतीय-विश्वविद्यालयों द्वारा दी गई 'डाक्टरेट'। 'हिमाचल' साप्ताहिक के कभी मनीषी स्वयं सम्पादक व्यवस्थापक, कम्पोज़ीटर, मशीनमैन, हॉकर—सब एक साथ ही थे। यह साप्ताहिक जब उसका मन होता था, तब निकलता था—किसी का ग़ुलाम नहीं था। एक बार नगर के दूसरे पत्र ने 'महादेव प्रसाद मनीषी' की जगह 'महादेव प्रसाद

उर्वशी' छाप दिया। मनीषी जी को सब्र कहाँ ? दूसरे ही अंक में उस सम्पादक के लिये माता और भगिनी से सम्बन्धित सब अश्लील गालियाँ छाप दीं। मुकदमा चला और वे शीघ्र ही 'भूतपूर्व-सम्पादक' हो गये।

'ऐलोपेथी' और आयुर्वेद के वे समान रूप से पंडित हैं—कुनैन और कड़ुआ-चिरायता की सीमाओं को लाँघने की बदतमीज़ी उनके ज्ञान ने कभी नहीं की। वे अपने को गरीबों का वैद्य कहते हैं। रोगी की जाँच का दो पैसा और एक खुराक दवा का एक पैसा, उनका रेट है, जो अक्सर उधार ही रहता है।

उनके चिकित्सा ज्ञान पर जब किसी ने आक्षेप किया तो उन्होंने समझाया—"देखो भाई, गरीब आदमी न तो ऐलोपेथी से अच्छा होता है, न तो होमियोपेथी से उसे तो 'सिम्पेथी' (सहानुभूति) चाहिए। मैं 'सिम्पेथी' की सहस्रपुटी मात्रा देता जाता हूँ, रोगी अच्छा होता जाता है।" अपनी चिकित्सा की सफलता के सम्बन्ध में उन्होंने एक-बार कहा "सौ में पचास रोगी अपने आप अच्छे हो जाते हैं—दस डाक्टर की दवा से अच्छे होते हैं। जो चालीस मरते हैं, उनमें पन्द्रह तो जीवन-शक्ति की समाप्ति के कारण मरते हैं और पच्चीस को डाक्टर की दवा मार डालती है। मैं इन पच्चीस लोगों को साफ बचा लेता हूँ, क्योंकि मेरी पुड़िया न अच्छा असर करती है न बुरा। पन्द्रह तो धन्वंतरि के इलाज में भी मरेंगे ही। शेष को मैं अपनी 'सिम्पैथी' की डोज़ से बचा लेता हूँ। इस तरह मेरे इलाज में ८५ फीसदी रोगी अच्छे हो जाते हैं।"

'मनीषी' इसी होटल के ऊपरी हिस्से में न जाने कब से रह रहे हैं, और इस इमारत के गिरने तक शायद वहाँ रहेंगे। उनका धंधा कुछ भी नहीं है। भोजन के आने का क्या ज़रिया है, किसी को नहीं मालूम। कपड़े कहाँ से मिल जाते हैं, और हमेशा इतने उजले कैसे रहते हैं, यह भी एक रहस्य है। परन्तु इस व्यक्ति के मुख पर मैंने कभी चिन्तारेखा नहीं देखी, कभी परेशानी की छाया नहीं देखी, कभी दुःख की मलिनता नहीं देखी, जिसके खाने का ठिकाना नहीं है, जो दो- दिन भूखा पड़ा रहता है; एक फटा टाट जिसकी शय्या है, वर्षों पहले जिसके ईंट के चूल्हे पर अभी तक मिट्टी नहीं चढ़ पाई एक मिट्टी का घड़ा, एक टीन का गिलास, एक तवा और एक डेगची जिसकी समस्त सम्पत्ति है; शरीर पर पहने हुए कपड़ों

के सिवा जिसके पास एक अँगोछा और एक फटा कम्बल-मात्र है —बस चिर-यौवन से कैसे लदा है? वार्धक्य इससे क्यों डरता है? केश किस भय से श्वेत नहीं होते? झुर्रियाँ चेहरे को क्यों नहीं छूती? चिन्ताओं के दैत्य इससे क्यों दूर रहते हैं? दुःख इसके पास क्यों नहीं फटकता? यह किस स्रोत से जीवन-रस खींचता है कि सदा हरा-भरा रहता है? किस अमृत-घट से इसने घूँट पी लिया है कि संसार का ज़हर उस पर चढ़ता ही नहीं।

एक दिन मैं होटल में बैठा था। ऊपर से बाँसुरी की आवाज़ आई। मैंने होटल-मालिक से पूछा कि ऊपर बाँसुरी कौन बजा रहा है। उन्होंने कहा "यही होगा मनीषी। खाना नहीं मिला होगा, तो बाँसुरी बजा रहा है।" उन्होंने उसे पुकारा और पूछा, "अरे खाना खाया कि नहीं?" भूखे मनीषी के मुख पर ऐसी मुस्कान आई जैसी, भरे पेट वाले के मुख पर भी दुर्लभ है। वह बोला, "खाया तो था, लेकिन परसों।" होटल-मालिक ने उसे कुछ पैसे देकर कहा, "जा, कुछ खा ले। और, यह गाना-बजाना बंद कर दे।" बाद में मुझे मालूम हुआ कि अगर-मनीषी बाँसुरी बजाता हो तो इसका यह अर्थ है कि वह भूखा है। भरे पेट वह कभी बाँसुरी नहीं बजाता। एक-दो रोज का भूखा होता है, तब टाट पर पड़ा-पड़ा बाँसुरी बजाया करता है। आगामी कल की जिसे चिन्ता न हो ऐसा आदमी दुर्लभ है पर मनीषी को आज की भी चिन्ता नहीं है। कल कहीं से रोटी मिल गई थी, तो आज भी कहीं से मिल जायेगी। आज न आई झख मारकर आयेगी-ऐसा उनका विश्वास है।

उसके कमरे में एक मिट्टी का घड़ा है जिसमें ज्वार, बाजरा, गेहूँ किसी का भी या सबका मिला हुआ आटा कभी कभी रखा रहता है। एक छोटे से बर्तन में नमक और मिर्च है। जब कहीं से खाना नहीं मिलता और घड़े में आटा हुआ तो मनीषी एक-दो रोटी सेंक कर नमक मिर्च से खा लेता है। यदि आटा नहीं हुआ तो पड़ा पड़ा बाँसुरी बजाता है। भूख इस प्रकार संगीत बनाकर आसपास बिखेरता है। तब कोई सुन लेता है, और भोजन करा देता है।

अपने खाने का ठिकाना नहीं है, उदारता में कर्ण है। बड़े शरणागत-वत्सल हैं। कोई भी आफत का मारा आ जाये, मनीषी के एक गजभर

टाट पर और मक्के की दो रोटी पर उसका अधिकार है। जब तक घड़े में आटा है तब तक दो रोटी खिलायेगा और आप खायेगा। जब आटा चुक जायेगा तब मनीषी बाँसुरी बजायेगा और अतिथि कुढ़ता हुआ सुनेगा। जिसे कहीं जगह नहीं मिलती, उसे मनीषी के यहाँ जरूर आश्रय मिल जायेगा। जिसे सब तिरस्कृत करें, वह अगर मनीषी के यहाँ पहुँच गया तो मनीषी अपना भाई मान लेंगे। कितने ही लोग उसका आश्रय पाते हैं। घर से निकले हुए लड़के, बेकार आदमी, तिरस्कृत नारियाँ, लेकिन मनुष्य-सब उसके औदार्य की छाया में आ बैठते हैं। कोई-कोई कृतघ्न जिस वृक्ष की छाया में बैठते हैं उसे एक दो कुल्हाड़ी मार जाते हैं या कुछ शाखायें ही नोच जाते हैं। सुनते है ये आश्रयहीन लोग जाते वक्त उसका फटा कम्बल या लोटा ही ले भागे हैं।

एक बार अनाथालय से भागी हुई ३-४ तिरस्कृत और लांछित लड़कियाँ मनीषी के आश्रय में आईं। मनीषी ने उन्हें 'धर्मपुत्री' मान लिया। दो-चार दिनों में उनके यहाँ 'धर्मपुत्र' भी आने लगे और-जब इन 'धर्मपुत्रों' ने उनकी 'धर्मपुत्रियों को 'धर्म-पत्नियाँ' बनाने का उपक्रम किया तो मुहल्ले वालों ने बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाया। वे लड़कियाँ 'धर्मपिता' को छोड़कर भागीं। अभी भी मनीषी बड़े दर्द से धर्मपुत्रियों को याद करते हैं। कहते हैं '—न जाने बेटियाँ कहाँ हैं? किस हालत में हैं?'

ऐसा नहीं है कि उसने श्रम करने का प्रयास नहीं किया हो। 'हिमाचल' की सम्पादकी के सिवा वे अनेक कार्य करके छोड़ चुके हैं। अपने इन अनुभवों को 'मनीषी' खाली समय में बड़े रोचक ढंग से सुनाते हैं। एक प्याले चाय में एक ही अनुभव सुनाते हैं। कहने लगे "स्टंट पिक्चर में मुझे काम मिला। पूना में शूटिंग हो रहा था। मेरा काम था कि मैं पुल पर नाले के किनारे खड़ा रहूँ और जब 'हीरो' घोड़े पर वहाँ से निकले, तो तलवार का ऐसा वार करूँ कि तलवार उसे लगती हुई दिखे, पर लगे नहीं। मैं तैयार हो गया। 'हीरो' आया तो कमबख्त ने मुझे ही कोड़ा घुमाकर कनपटी में मार दिया! मुझे गुस्सा आ गया। बस मैंने भोथरी तलवार का ऐसा वार किया कि बेटा नाले में गिर पड़े। हाथ की हड्डी टूट गई पर मेरी नौकरी भी उसी वक्त खत्म हो गई।"

फिल्म-कम्पनी के अनुभव आगे बढ़ाते हुए वे बोले "एक और फिल्म में काम मिला। मैं बनाया गया हीरो का नौकर। ४-६ दिन बाद

'हीरोइन' एक दिन एकांत में बोली 'मिस्टर मनीषी, आई लव यू' मैंने कहा 'लेडी देन आइ शैल लीव दिस प्लेस एट वन्स' बस मैं भाग आया।"

हमने पूछा "वह तो तुम पर मोहित थी। तुम भाग क्यों आये ?"

मनीषी बड़ी समझदारी से बोले "अरे अरे, प्यार करने वाली स्त्री बड़ी खतरनाक होती है। न जाने कब किससे प्यार करने लगे और तुम्हें पिटवा दे। उस अभिनेत्री से डायरेक्टर खुद प्यार करता था। अगर उसे मालूम हो जाता तो मुझे कहीं मरवा कर फिकवा देता। मनीषी की जान अभिनेत्रियों पर न्योछावर होने के लिये नहीं है।"

फिर मनीषी ने राजनीति का व्यवसाय अपनाया। नेता हो जाना बड़ा अच्छा धन्धा है! पर वे किसी भी दल के प्रति पक्षपात नहीं करते थे। वे एक साथ ही कांग्रेस, समाजवादी दल, साम्यवादी दल, जनसंघ राम-राज्य परिषद आदि सब में थे। हर मंच से भाषण देते—घंटों बोलते और लोग ऊबते नहीं क्योंकि वे कुछ बोलते ही नहीं हैं। एक बार वे एक सभा में बोलने खड़े हो गये। बड़े जोश में बोले—"कांग्रेसी चोर हैं। समाजवादी उचक्के हैं। साम्यवादी लुच्चे हैं। आदि आदि।" आधा घंटे तक सब दलों को गाली देते रहे। श्रोताओं ने हल्ला मचाया—"अपने शब्द वापिस लो।" मनीषी जी ने हँसते हुए कहा, "तुम शब्द वापिस लेने को कहते हो, मैं अपना पूरा भाषण वापिस लेता हूँ, और फिर नया भाषण आरंभ करता हूँ। सुनो। भाइयो और बहिनो!" फिर आधा घंटे तक भाषण देते रहे।

एक दिन उनके निवास-स्थान के सामने के सभास्थल में राम-राज्य परिषद की सभा हो रही थी। 'मनीषी' बे-बुलाये पहुँच गये और सिंह की तरह मंच पर चढ़ गये। मंच पर बैठे नेता बोले, "आप कौन हैं? क्या चाहते हैं?" मनीषी ने कहा, "मैं नेता हूँ, भाषण देने आया हूँ।"

"आप किस दल के नेता हैं?"

"मैं सब दलों का नेता हूँ।"

मंच पर के नेताओं ने उन्हें भाषण नहीं देने दिया। पर जनता मनीषी को देखकर हर्षध्वनि करने लगी। लोग चिल्लाये—'मनीषी' जी को बोलने दो।

मनीषी जी लाउडस्पीकर लेकर खड़े हुए और धुआँधार भाषण आरम्भ कर दिया। आसपास के लोग निकट आ गये और सभास्थल खचाखच भर गया। भाषण क्या था—अनर्गल प्रलाप और गालीगलौज।

पर मनीषी से यही सुनकर मजा लेने की उम्मीद से लोग इकट्ठे हुए थे। बीच बीच में ताली और हर्षध्वनि होने लगी। पूरे १ घंटे तक मनीषी बोलते रहे और वे नेता लोग भाग खड़े हुए। मनीषी मंच से उतरे और विजयी योद्धा की तरह झूमते हुए, आसपास देखते हुए जाकर अपने जीने पर चढ़ गये। नीचे जनसमूह इकट्ठा हुआ। चिल्लाया—"मनीषी जी की जय! मनीषी जी दर्शन दो।" भक्तों की पुकार पर मनीषी जी खिड़की पर आये हाथ जोड़कर, मुस्कराते हुए दर्शन दिये।

दो चार भक्त ऊपर चढ़ गये और उन्हें नीचे उतार लाये। एक जुलूस बनाकर होटल में उन्हें ले गये, चाय पिलाई और ६ पैसों की थैली भेंट की।

फिर मनीषी ने राजनीति का धंधा भी छोड़ दिया।

सब काम कर देखें और जब कोई नहीं बना तब मनीषी ने सोचा कि कोई काम नहीं करना ही अच्छा है।

पर हौसले उनके बहुत ऊँचे हैं। मुझसे कभी कभी बड़ी गंभीरता से कहते हैं कि मैं शीघ्र ही "अन्तरराष्ट्रीय पत्रकार-संघ" खोलने वाला हूँ। एक फिल्म कम्पनी खोलने की भी उनकी योजना चल रही है जिसमें मुझे खल-नायक का काम देने का वादा वे कर चुके हैं।

नीचे वह मुझसे फिल्म कम्पनी की योजना पर चर्चा करते रहे। थोड़ी देर बाद ऊपर उठकर गये तो बाँसुरी बजाने लगे—भूखे थे।

थोड़ी देर बाद नीचे उतरे तो चेहरे पर वही मस्ती, वही हँसी थी। मैं सोचता हूँ, क्या यह हँसी विक्षिप्त की हँसी है? क्या यह निरपेक्ष जीवन का हास्य है? क्या यह उस चरम विफलता की हँसी है, जब आदमी सोच लेता है कि हमसे अब कुछ नहीं बनेगा! क्या यह उस उदासीन वृत्ति का हास्य है कि हमारे बनने या बिगड़ने में कोई मतलब नहीं? अथवा दर्द को कलेजे की भट्टी में गलाकर इसने हँसी के रूप में प्रवाहित कर दिया है?

कुछ समझ में नहीं आता। सतपुड़ा के पर्वत शिखरों पर खड़े हुए उन हरे भरे विशाल वृक्षों को देखता हूँ तो मुझे अचरज होता है कि कठोर चट्टानों पर स्थित भूमि से इतनी दूर खड़े वे वृक्ष आखिर प्राण-रस कहाँ से खींच रहे हैं?

उस समय मुझे 'मनीषी' की याद आ जाती है।

मेरी भाभी

श्रीलाल शुक्ल

वह डाक्टर था और उसका पत्र मिला था कि वह इस नगर के बड़े सरकारी अस्पताल में अधीक्षक के पद पर आ गया है। पत्र पाकर कुछ दिन पहले उसके परिवार से मिले हुये अगाध स्नेह की स्मृति ताज़ी हो गई।

वह गृहस्थ था। मैं अविवाहित था। वह स्वास्थ्य विभाग में था। मैं शिक्षा-विभाग में था। वह मुझसे उम्र में बड़ा था। मुझे फिर भी उसका स्नेह-पात्र बनने में कोई बाधा नहीं पड़ी, हम लोग साथ ही खेलते साथ ही सिनेमा देखते। मुझ अकेले के लिये पका हुआ खाना वह मेरे घर से मँगा लेता और हम लोग कहने के लिये अपना खाना सम्मिलित करके उसी के घर पर खाते। अर्थात् मैं उसका खाना खाता; उसके नौकर मेरा खाना खाते।

और उसकी धर्मपत्नी। जब कभी-कभी मेरे मन में विवाह करने की इच्छा होती भी तो वह केवल उन्हें देखकर, उन्हीं के हाथों बनाये गये शील और सुरुचि के वातावरण में रहकर होती। और तब तक बनी रहती जब तक मेरी निगाह अपने वेतन पर न जाती। और जब मैं बीमार पड़ा था तब उनकी परिचर्या! और जब मेरी बदली इस नगर में प्रधानाध्यापक के पद पर हुई थी तो उनका उदास हो जाना, मुझे देखकर उनको अपने दस साल पहले छूटे हुये, विगत भाई की याद करने लगना! और उनके वे तीन प्यारे बच्चे ..अब तो वे बड़े हो चुके होंगे। क्योंकि तब से अब तक सात साल बीत चुके हैं।

मुझे डाक्टर पर क्रोध आया। यह जानते हुये भी कि मैं यहीं हूँ उसने अपने यहाँ आने की सूचना मुझे पहले से क्यों नहीं दी? वह तो भाभी रही होंगी कि आने के बाद ही उससे पत्र लिखवाकर मुझे बुलवाया होगा। नहीं तो उसे क्या, वह तो अपनी चीरफाड़ के अलावा और कुछ चाहता ही नहीं। समय की बात थी; तब की तब रही; अब उसे सब कुछ भूल गया होगा...।

अस्पताल ही के अहाते में बने हुये डाक्टर के बँगले पहुँचा। छोटा सा बाग़ था। वहीं लान पर तीन चार सुन्दर सी, हल्के कत्थई पेंट की, बेंत की कुर्सियाँ पड़ीं थीं। उन पर हल्के नारंगी रंग के पतले कुशन पड़े थे। शाम हो रही थी। डाक्टर चुपचाप एक कुर्सी पर बैठा अखबार देख रहा था।

मैंने उसे दूर से देखा। उसके घने काले बालों के स्थान पर कानों के ऊपर सफ़ेद होते हुये बाल मेरी आँखों में बिंधकर रह गये। जान पड़ा वह पहले से अधिक दुबला हो गया है। पर वह पहले से अधिक आकर्षक भी लगने लगा था।

गले से मिला और सात साल के बिछुड़े मित्रों में जो अटक-अटककर एक दूसरे के प्रति मिथ्या संशय और अधूरे ज्ञान से भरी हुई बातें होनी चाहिये, वे होने लगीं।

मैं भाभी से मिलने को उत्कंठित था। मैं ने दो-एक बार बरामदे की ओर निगाह दौड़ाई कि वे शायद आ रही हों। तभी उसने कहा, "चलो, अपनी भाभी से मिल लो।"

हम लोग ड्राइंग रूम में आये। मुझे बैठालकर वह अन्दर गया। सात साल की सम्पर्कहीनता से मैं पहले की भाँति आँगन में "भाभी-भाभी" चिल्लाते हुये पहुँचने का अधिकार खो चुका था। मैं अपने लुटे हुये अधिकार की बात सोच ही रहा था कि डाक्टर की आवाज़ सुन पड़ी, "ये हैं तुम्हारी भाभी।"

मैं उठ खड़ा हुआ। कहने वाला था, "तुमने तो मुझे भुला ही दिया भाभी।" पर शब्द मन के मन में बैठ गये। मैं धीरे से चौंक पड़ा।

यह वह पहले वाली भाभी न थीं। वे तो गेहुँये रंग की, आकर्षक आँखों वाली भाभी थीं जो आजकल गर्मियों में सफ़ेद ब्लाउज़ और सफ़ेद वायल की साड़ियाँ पहनती थीं। ढीले-ढाले, स्वतंत्र रूप से पहने हुये कपड़े उनके मातृत्व भाव को उभार से देते थे। पर यह तो दूसरी ही भाभी थीं। इनकी उमर उनसे बहुत ही कम थी; ये लगभग २३-२४ बरस की होंगी। ये बहुत ही गौर वर्ण, माथे पर बड़ी सी बिंदी लगाये एक क़ीमती नीली साड़ी को निर्दोष रूप से पहने, मेरे सामने आकर खड़ी हुई थीं।

मेरे मुँह से निकला, "आप?"

पर उन्होंने मेरी हिचक दूर कर दी स्वयं बोली, "आप शायद नहीं जानते। आज से तीन साल पहले आप की भाभी एक मोटर-दुर्घटना का शिकार हो गई। डॉक्टर साहब मारे शोक के पागल हुये जा रहे थे। तीनों बच्चे अनाथों की सी स्थिति में थे। पर किसी प्रकार समय बीतने पर डॉक्टर साहब के दुःख का उफान कुछ कम हुआ। तब मुझे इनके जीवन में आना पड़ा। सोचा किसी भी तरह मैं इनके दुख के बोझ को हलका कर सकूँ। आप को क्या, इन्होंने किसी को भी अपने शोक की खबर नहीं दी।"

मैं बैठकर चुपचाप इस समाचार के विषाद को भीतर ही भीतर पचाने लगा। तब डॉक्टर ने टूटे हुये स्वरों में कहा, "क्या कहूँ भाई मेरा तो सब कुछ लुट गया था पर तुम्हारी इन भाभी ने आकर मुझे दुनिया में रहने लायक बनाया। नहीं तो, मैंने न जाने कब यह नौकरी छोड़ दी होती और बच्चों को आप के सहारे छोड़कर कहीं चला गया होता।"

वे विषय को समाप्त करते हुये, एक करुण मुस्कराहट के साथ बोलीं, "अब तो मैं ही आप की भाभी हूँ। मैं जानती हूँ इस परिवार से आप को कितना प्रेम है। अब भी उसी भावना से आप यहाँ आते रहें। इतने बड़े शहर में हम लोगों का कोई और आत्मीय नहीं है।" कहते कहते उनकी आवाज में करुणा का ज्वार सा उठने लगा।

अब तक मेरी निगाह अपने चारों ओर के वातावरण पर पड़ चुकी थी। पहले वाले ड्राइंग रूम की आत्मीयता और सादगी मिट चुकी थी। दीवारों के कलापूर्ण चित्र, दरवाजों पर पड़े हुये कीमती झीने परदे, चमचमाता रेडियोग्राम, झलकती हुई वार्निश वाला फर्निचर, बहुमूल्य सोफ़ा सेट—ये सब रह रहकर एक ऐसे सुखद, सम्पन्न और अपरिचित वातावरण को उभार रहे थे जो नवविवाहितों के ही घर में मिलता है।

डॉक्टर मुझसे बता रहा था कि किन परिस्थितियों में मेरी नई भाभी ने उनके बिखरे हुये जीवन-सूत्रों को एकाकार करने का निर्णय किया था, कैसे उन्होंने स्वयं उसकी पत्नी होने का प्रस्ताव किया और एक कालिज में फ़िज़िक्स के लेक्चरर का पद छोड़कर उसके जीवन में सार्थकता भर दी थी ...।

कि मेरी निगाह ड्राइंग-रूम में सामने की दीवाल के बीचो बीच लगे हुये एक बड़े चित्र पर पड़ी। यह मेरी पहली भाभी का चित्र था। मैं अपनी जगह से उठकर उसके पास जाकर खड़ा हो गया। डाक्टर, मेरे पीछे खड़ा हुआ, कहता रहा, "देखलो, भाई, तुम्हारी भाभी का यही एक मात्र फ़ोटो है। न जाने अपना फ़ोटो खिचाने में उन्हें क्यों इतनी अरुचि थी। एकाधबार मैंने उनकी फ़ोटो खींची भी पर वह अच्छी नहीं आई। मैंने बेडरूम में लगाया था पर तुम्हारी इन भाभी ने कहा कि इस रूप को बेडरूम में चुराकर रखने से क्या लाभ? इसे ड्राइंग रूम में होना चाहिये ताकि इसे हम सब देख सकें।" कहते कहते उसका गला भर सा आया।

मेरी नई भाभी चुपचाप उसके हाथ पर अपनी उँगलियाँ फेरती रहीं। चाय लान में ही लगा दी गई थी। हम तीनों वहाँ फिर पहुँच गये। वहीं चाय पीते रहे। अब तक यह भाभी भी अपने अतीत की बातें आत्मीयता के साथ मुझे बताने लगी थीं। वे धीरे-धीरे अपने विवाहित जीवन के पहले दो वर्षों के अनुभव बताती रहीं, डॉक्टर साहब ने मेरे आते ही आप की पहली भाभी के सब गहने और कपड़े दे दिये। वे हजारों के गहने थे। पर मैं जानती थी कि उन्हें पहिनकर डाक्टर साहब के मनमें पुरानी यादों को जगाते रहना कितनी बड़ी क्रूरता होगी। इसी कारण मैं उन्हें पहन न सकी। अपनी दिवंगता बहन के गहने-कपड़े सब के सब मैंने बैंक में जमा करा दिये हैं।

कहकर वे मेरी चाय की ओर फिर उन्मुख हुईं और ज़िद करके मेरे केक के टुकड़े में थोड़ा सा और जैम लगा दिया।

डाक्टर कहता रहा, "हाँ भाई, मुझे तो घर का एक एक सामान पागल सा बना रहा था। इन्होंने मेरे मन को पहचाना और वे सब चीजें धीरे-धीरे हटवा दी जो मुझे उनकी याद दिला दिलाकर दुखी बनाती थीं। कढ़े हुये पिलो कवर, कुर्सियों की गद्दियाँ, बेड-लिनेन, न जाने क्या-क्या! अब तो मैं अपने दुर्भाग्य की चर्चा इस प्रकार कर भी रहा हूँ पर तब मेरी जैसी दशा थी, वह मैं जानता हूँ या ये खुद जानती हैं। सुनता था कि स्त्रियों के मन में सौत और उसके बच्चों के लिये डाह होता है। पर मेरे

दुर्भाग्य में यही एक उजाला था—बच्चों ही के कारण मुख्यतया ये मेरे जीवन में आईं। उन्हीं के लिये ममता से पिघलकर...।"

मुझे बच्चों का ख्याल आया। तब तो बड़ी लड़की, श्यामा बारह साल की थी। सुरेश आठ साल का था, और बेबी पांच साल की थी। अब तो वे बड़े हो गये होंगे। मैंने पूछा, "अरे, मैं तो भूल ही गया था ! ये बच्चे हैं कहाँ स्कूल से अब भी नहीं आये ? श्यामा तो अब बहुत बड़ी हो गई होगी !"

डाक्टर बोला, "वे तो यहाँ हैं नहीं। तुम्हारी यह भाभी बच्चों की सिस्टमैटिक ट्रेनिंग में विश्वास रखती हैं...।"

तभी एक नर्स उसे बुलाने आई। कोई रोगी खतरे की स्थिति में था। क्षमा-याचना करके वह चला गया।

भाभी मुझसे कहती रहीं, यहाँ के स्कूलों में बच्चे खराब जाते हैं। उनकी ठीक से शिक्षा तो हो नहीं पाती, भद्दे तौरतरीके भर वे सीखते हैं। बेचारी श्यामा तब बी० ए० फाइनल में थी पर उसे ठीक से साड़ी तक पहनना न आता था। सुरेश बारह साल का था पर दूसरों के ही हाथों कपड़े पहनता था। इतने सुन्दर और प्यारे लड़के कहीं देखने को नहीं मिलते पर इस छोटी सी जगह के स्कूल उनकी सारी सुन्दरता मिटाये दे रहे थे। इसीलिये मैंने श्यामा को अपनी शादी ही के साल कलकत्ते में एक वीमन्स-एकेडमी में भेज दिया। वह पार साल एम० ए० कर चुकी है। इन गर्मियों में यहाँ आने वाली थी पर वहाँ की कुछ महिला संस्थाओं ने कुछ रचनात्मक काम ले रक्खा है। उसी में वह नागपुर जायगी। सुरेश देहरादून है। वह सीनियर कैम्ब्रिज करेगा। डाक्टर साहब उसे यहाँ बुला रहे थे पर वह अपने नाना के घर चला गया। मैं भी यही ठीक समझती हूँ। देखिये न, भाई साहब, उसके संस्कार योरोपियन लोगों से होते जा रहे हैं। उसके नाना गाँव में रहते हैं। गर्मियों में यदि वह गाँव में रहा तो शुद्ध भारतीय वातावरण का भी अनुभव कर लेगा। उसके मन पर दोनों ओर के संस्कार पड़ेंगे। यहाँ हम लोगों की कल्चर ही क्या है ? न देसी, न विलायती !

मैंने पूछा, "बेबी कहाँ है ?"

"उसे लखनऊ में एक कान्वेंट में भर्ती करा दिया है। वह बच्ची ही

प्यारी बातें करती है, वेरी स्वीट। पर देखिये न, यहाँ आते ही कम्पाउंडरों और जमादारों के बच्चों से बातें करते करते उसकी ज़बान बदल जाती है। मैं तो सोचती हूँ, श्यामा ही के पास इस बार उसे भेज दूँ।"

अंधेरा हो जाने के कारण हम लोग ड्राइंग रूम में आकर फिर बैठ गये थे। कमरे में फ़्लोरोसेंट लाइट फैल रही थी। पंखा पूरी स्पीड पर चला दिया गया था। उस वातावरण में बातचीत का विषय कुछ और मधुर होना चाहिये था। मैंने पूछा, "आप तो मसूरी रही हैं भाभी; मसूरी आपको बहुत पसन्द है न?"

डॉक्टर कमरे में आया। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। आते ही वह सोफे पर निश्शक्त सा बैठ गया। मैंने पूछा, "क्या हुआ?"

पर जवाब उसने भाभी को दिया, "यह तार पढ़ लो। श्यामा ने हमें धोखा दिया।"

भाभी तार पढ़ने लगीं। मैंने आकुल होकर अपना प्रश्न दोहराया।

वह मेरी ओर अधमुँदी आँखों से थोड़ी देर देखता रहा। फिर बोला, "तुमसे क्या छिपाना भाई? श्यामा का तार है। उसने नरेश से शादी कर ली है। आज ही सवेरे सिविल मैरिज हुई है।"

वह कहता रहा, "तुम नरेश को नहीं जानते। पिछली बार जब हम हाथरस थे, वह हमारे पड़ोस में बस-स्टेशन पर बुकिंग क्लर्क था। मरीज़ की हैसियत से वह हमारे यहाँ आता था। छुट्टियाँ थीं। श्यामा ने उसी साल बी० ए० किया था। वह भी घर पर थी। मुझे तभी कुछ संदेह था। मैंने तुम्हारी भाभी को भी बताया था। वह श्यामा के योग्य होता तो मुझे दुख न होता। पर रूप में, शिक्षा में—किसी भी बात में वह श्यामा के लायक नहीं—मुझे यही दुख है।"

वह धीरे धीरे अपने मन की व्यथा निकालता रहा। उसके सिर के पास भाभी खड़ी थी। वे उसके मत्थे और बालों पर हाथ फेरने लगीं। बोलीं, "इसमें परेशान होने की क्या बात है। श्यामा उन्नीस वर्ष की है। इतना पढ़ी है। उसने जान बूझकर नरेश को स्वीकार किया है। दोनों सुख से रहें इससे ज्यादा हमें और क्या चाहिये?"

डाक्टर ने क्षीण स्वर में कहा, "तुमने तब मेरी बात पर ध्यान न दिया। श्यामा पर तुम्हें रोक लगानी थी...।"

भाभी मिठास भरे स्वरों में कहने लगीं, "तुम्हारा मन बहुत दुखी हो गया है क्या ? अब मुझे दोष देने से क्या होगा ? क्या नरेश को मैंने प्रोत्साहित किया था ?"

वह शीघ्रता से "बोला, नहीं नहीं, डियर यह न कहो, ऐसी बातें न सोचो।"

मैंने कुछ कहना। आवश्यक समझा। बोला "इस घटना को इतना महत्त्व देने से अब क्या मिलेगा। शादी तो हो ही चुकी है। अब उनके सुख में क्या योग दे सकते हैं, इसकी बात सोची जाय।"

डाक्टर आँख मूँदे सोफ़े पर तिरछा लेटा था। भाभी ने शायद मुझसे प्रेरणा पाकर उसी मिठास भरी आवाज़ में कहना शुरू किया, "उसे आशीर्वाद का तार भिजवा दिया जाय। शायद उसे कुछ रुपयों की भी ज़रूरत पड़े। कुछ तार द्वारा भेज दें। लेट अस टेक इट इन गुड ग्रेस। हमलोगों के तनिक भी क्षोभ दिखाने से श्यामा की प्रसन्नता पर एक छाया सी पड़ जायगी। तुम अपने विचार ज़ाहिर न होने दो, इसी में बड़प्पन है। क्यों न भाई साहब ?"

कहकर उन्होंने मेरी ओर देखा। उनका गोरा सुंदर चेहरा मेरी आँखों के सामने था।

पर अकस्मात् मुझे उनकी आँखों में एक विचित्र अस्वाभाविक चमक सी मिली, वह चमक जो किसी आकस्मिक संयोग में किसी अप्रत्याशित उल्लास के सम्पर्क से आँख पर उतरती है। शायद मेरी भौंहें संकुचित हो गई हों, शायद मैंने उनकी ओर कुछ ऐसी गहराई से देखा हो जो शिष्टता के दायरे में न आती हो। जो भी हो, उनकी आँखों की चमक नष्ट सी होने लगी और मुझे लगा कि उनके गोरे चेहरे पर एक छाया सी पड़ गई है।

भाभी ने आँखें नीची कर लीं, पर उन्होंने विषय नहीं बदला, दूसरी ओर कहती हुई डाक्टर से कहती रहीं। "श्यामा समझदार लड़की है; नरेश को कुशिक्षित कुरूप बताकर तुम उसकी समझ का अपमान न करो। और फिर, वह इतना बुरा भी नहीं है।"

मैंने भाभी की ओर इस बार जानबूझ कर देखा। मुझसे उनकी निगाह मिली और मुझे लगा कि उनके चेहरे पर उतरती हुई छाया गहरी होती जा रही है। भाभी ने मुँह दूसरी ओर फेर लिया पर मुझे लगा कि सहसा मेरा मन विकृत सा होता जा रहा है। मेरी इच्छा होने लगी कि मैं इन भाभी को बड़े ज़ोर से झकझोरूँ, उनसे इस घर से दूर पड़े हुये पुरानी भाभी के गहनों, कपड़ों, बर्तनों का एक एक करके हिसाब माँगूँ और पूछूं कि मेरी उन भाभी की स्मृति को……।

पर मैंने अपने को स्वस्थ किया और समझाया कि शायद अपनी पुरानी भाभी के शोक में मेरा मन बहक सा-रहा है।

तभी डाक्टर ने आँखें खोलीं और पुरानी भाभी की तस्वीर को देखते हुये बोला, "तुम भी अपनी श्यामा को आशीर्वाद दो। शायद वह इसी से सुखी हो सके।"

मैंने उसे उठाकर सोफ़े पर सीधा बैठाया और बोला, "क्या कहते हो डाक्टर। गृहस्थों के यहाँ यह सब चला ही करता है। इस तरह निरुत्साह न बनो।"

उसने बुझे-बुझे स्वर से कहा, "ठीक ही है। अब निरुत्साह बनने से मिलेगा ही क्या ?"

सहसा मुझे न जाने क्या सूझा कि मैंने कहा, "तुम आराम करो डाक्टर, अब मैं चलूंगा। पर मैं भाभी की वह तस्वीर साथ ले जाना चाहता हूँ, वे तुम्हारी थीं। उनके वस्त्राभूषण, उनके बच्चे, उनके साथ बिताये गये हज़ारों सुख दुख के क्षण—उनकी न जाने कितनी निशानियाँ तुम्हारे पास हैं। पर मेरे पास कुछ नहीं है। वे……मुझे अपना भाई मानती थीं। इसी नाते भाभी की वह तस्वीर मुझे दे दो।"

वह क्षीण स्वर में बोला, "तस्वीर ? उनकी यही एक तस्वीर है।"

पर मैंने कहा, "जो भी हो, मुझे दे दो। मैं, तुम चाहोगे, तो इसकी कॉपियाँ बनवा दूँगा।"

नई भाभी ने मेरी ओर नहीं देखा। वे डाक्टर के मुँह पर निगाह जमाकर कहने लगीं "इस तस्वीर को देखकर तुम्हारी व्यथा घटती नहीं बढ़ती ही है। बहन जी की तस्वीर पर भाई साहब का ही अधिकार होना चाहिये।"

मेरी ओर लक्ष्य करके बोलीं, "आप इसे ले जाइये। इसे देखकर

इनके बीते दिनों के घाव फिर हरे होने लगते हैं। मैं जितना ही इनके मन को भटकाती हूँ उतना ही यह तस्वीर इन्हें अतीत की ओर खींचती है। आप इसे ले जाँय। हो सके तो इसकी एक कापी बनवाकर मेरे पास भिजवा दें।"

इस बार मेरी उनसे निगाह नहीं मिली पर मुझे लगा कि उनका स्वर विकृत हो गया है और उनके मुँह पर वह छाया और भी गहरी हो गई है।

शायद मेरा भ्रम ही हो, पर.........।

व्यंगचित्र

बिक्कूजी, मेरे पड़ोसी

विजयदेव नारायण साही

यह ज्ञान कि मेरे पड़ोसी बिक्कू जी चित्रकार हैं जब मुझे पहली बार हुआ तो लगा कि मैं बड़ा भाग्यवान हूँ। तब से तीन बरस बीते। पिछले दो महीनों से यह ज्ञान दिमाग़ के दरवाजे की साँकल जोरों से खटखटा रहा है कि बिक्कू जी चित्रकार ही नहीं भारी मेल के चित्रकार हैं और उसी अनुपात में यह भी लग रहा है कि मुझसे अभागा कोई नहीं है।

इसमें बिक्कू जी का कोई दोष नहीं है। असल में मेरी तकदीर ही ऐसी पैनी है कि सीधी देखती हुई भी तिरछी चलती है। वर्ना होने को लाखों किस्म के लोग दुनिया में पड़े हैं। लेकिन खुदा ऐसों को ही चुन-चुन

कर मेरे पास ला खड़ा करता है जिनसे निभाना तो दूर की बात, एक मीठी बात कहना भी सुमेर पर्वत उखाड़ लाना है।

चुनांचे इस वक्त मेरी हालत यह है कि अपने कमरे में बन्द बैठा हूँ। एक मेज है, एक कुर्सी, एक लैम्प, एक दस्ता काग़ज, एक फाउन्टेनपेन और एक मैं। यानी जानदार और बेजान मिलाकर छः सत्ताएँ इस कमरे में कैद हैं। काग़ज के ऊपर मोटे अक्षरों में लिखा है 'चित्रकार अथवा विचित्रकार' फिर नीचे महीन अक्षरों में 'प्रसिद्ध चित्रकार बिक्कु जी की जीवनी।' बाकी सारा काग़ज सादा है। काग़ज पर शीर्षक की ही तरह मेरे माथे पर पसीने की बूँदों की एक मोटी लकीर है और एक महीन लकीर। बाकी सारा माथा खाली है। ऊपर से देखने में भ्रम होगा कि माथे के भीतर कुछ होगा, वास्तविकता यह है कि माथे के भीतर सांय सांय के अनाहत नाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कमरे के बन्द दरवाजे के बाहर बिक्कु जी लाठी लिए टहल रहे हैं। जी नहीं, दरवाजा अन्दर से नहीं, बाहर से बन्द है। रह रह कर लाठी की मूठ दरवाजे से दो बार टकराती है और मेरे देवता कूच करने को तैयार हो जाते हैं। बाहर से गरजती हुई आवाज आती है, 'लिखना शुरू कर दिया?' और मैं जल्दी से मोटे शीर्षक की लकीरें दोहरी करता हुआ कहता हूँ, 'हाँ भाई, जान बख्शो!'

मेरी जान, जिसके बख्शने की कातर प्रार्थना मेरे मुँह से बार बार निकल रही है, इस समय दो भयंकर शत्रुओं से घिरी हुई दमयन्ती की तरह घबराई हुई है। एक शत्रु हैं बिक्कु जी जो लाठी लिए हुये बाहर खड़े हैं। अगर मैं उनसे कहूँ कि दरवाजा खोल दीजिये, तो वे निश्चय ही खोल देंगे। लेकिन मेरे बाहर निकलते ही मेरे सर पर उनकी लाठियाँ गिरेंगी जैसे कैन्वस पर उनका पेंटिंग का ब्रश चलता है। ऐसा उन्होंने बड़ी ही मुलायमियत से मुझसे कहा है। मुलायमियत से इसलिए कि वे मेरा दिल दुखाना नहीं चाहते। अपनी जान का दूसरा शत्रु मैं इस समय खुद हो रहा हूँ। क्योंकि यह जाहिर है कि अगर मुझे इस बन्द कमरे में चित्रकार अथवा विचित्रकार शीर्षक के साथ कुछ और देर तक कैद रहना पड़ा तो उसमें आत्महत्या की मुक्तिदायिनी अभिलाषा जाग्रत होगी।

मगर इस बन्द कमरे में कोई आत्महत्या करे भी तो कैसे? कुछ

समझ में नहीं आ रहा है। मेज पर सर पटक दूँ? हुँह। वह तो बिल्कुल ही अव्यावहारिक कल्पना है। मान लीजिये इस तरह मैं मर भी गया तो भी इससे सर में बहुत चोट लगेगी जिसे मैं बरदाश्त नहीं कर सकता। क्यों साहब, कोई आदमी फाउन्टेनपेन की रोशनाई पी जाय तो क्या हो? मौत न सही, प्यास तो बुझेगी? हाँ, बैठे बैठे प्यास भी लग रही है। और प्यासा मर जाने में कोई तुक नहीं है। तो क्या करूँ? बिक्कू जी को पुकार कर कहूँ कि प्यास लगी है, ऐसे मरने के पहले पानी तो दे दें। नहीं, नहीं, यह हरगिज नहीं करूँगा। वह सुनेंगे तो और भी मुलायमियत से कहेंगे, 'आई एम वेरी सारी साही साहब, लेकिन काम पूरा होने के पहले आपको पानी देना ठीक नहीं है। आखिरकार, काम पूरा तो आपको करना ही है। मान लीजिये यह हमारा लक्ष्य हुआ। तब यदि एक गिलास पानी की आशा आपके मन में बनी रही तो आप शीघ्र से शीघ्र उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। अतः आपको पानी देना अनैतिक है, क्योंकि वह लक्ष्य आपके प्रति उत्तरदायित्व को कम करेगा।'

मैं पागल नहीं हो गया हूँ। सिर्फ मेरा दिमाग भाग दौड़ कर रहा है। और जो आप सुन रहे हैं यह वही भाग दौड़ है।

अहा हा! एक बहुत बढ़िया बात सूझी है। यह जो एक दस्ता कागज़ मेरी मेज़ पर रखा है इसे मैं खा जाऊँ तो कैसा रहे? लेकिन यह हो नहीं सकता। आदमी कागज़ नहीं खा सकता। कागज तो गाय खाती है। काश मैं गाय होता। लेकिन मेरे फूफा जी को तो लोग कहते हैं कि वह आदमी नहीं गऊ है। तो क्या वह कागज खाते होंगे? क्या आपने कभी कागज खाया है? कैसा स्वाद होगा इसका? बस अब मैं ज़रूर यह सारा कागज खा जाऊँगा। कागज ही क्यों इस फाउन्टेनपेन को भी खा जाऊँगा, इस मेज को भी, इस लैम्प को भी और इस कुर्सी को भी। और बड़ी तृप्ति के साथ जमीन पर चींटियों को घूरता हुआ बैठा रहूँगा। तीन घंटे बाद बिक्कू जी जब दरवाज़ा खोलेंगे, और निहायत मुलायमियत से पूछेंगे, 'साही साहब, आप ने मेज़, कुर्सी, लैम्प, फाउन्टेनपेन और कागज का क्या किया?' तब मैं कुछ नहीं बोलूँगा, बिल्कुल नहीं बोलूँगा, जवाब ही नहीं दूँगा। चाहे वह मेरा सर ही क्यों न तोड़ डालें। मैं तब तक ज़मीन पर बैठा हुआ घूरता रहूँगा जब तक बिक्कू जी चित्रकार का सारा ठंडापन हवा न हो जाय, और उनके गोल मटोल चेहरे की पेशियाँ भकभक करती हुई लालटेन की लौ

की तरह उछलने न लगें, उनकी आँखों की पुतलियाँ वेदर काक की तरह उत्तर-दक्षिण का चक्कर काटने न लगें और उनके लगभग चौकोर कान अलार्म की तरह बजने न लगें; तब उनको गुस्सा आयेगा जिसके न आने पर उनको नाज़ है और मैं उन्हीं की नकल करता हुआ निहायत अदब के साथ कहूँगा, 'महाशय, क्रोध करना जीवन से भागना है। जीवन एक समस्या है, आइये हम वैज्ञानिक ढंग से इसका हल निकालें। इस समय हमारे सामने जो स्थिति है उसमें मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?"

लीजिये फिर लाठी की मूठ दरवाजे से टकराती है। ठक ठक। और बिक्कू जी की गड़गड़ाती हुई आवाज़ आती है, 'कितने पृष्ठ लिख लिया ?' और मैं फिर मोटे अक्षरों को और मोटा करता हुआ घबराकर उत्तर देता हूँ, 'हाँ भाई, लिख तो रहा हूँ, जान बख्शो।' इसके बाद एक वाक्य काग़ज पर लिखता हूँ।

'काश मैं गाय होता और इस एक दस्ता काग़ज को खा जाता।'

ग़लती मेरी ही है। मुझे पहले ही समझना चाहिये था कि चित्रकार, और वह भी बिक्कू जी जैसे चित्रकार की दोस्ती ठीक नहीं है। बिक्कू जी ने तो पहले ही दिन चेतावनी दी थी कि कभी न कभी मेरी यह हालत होकर रहेगी। लेकिन मैं ही मूढ़ था। मैंने न समझा। अब भोग रहा हूँ।

रहने को तो बिक्कू जी मेरे पड़ोस में कब से रहते थे। लेकिन परिचय कराया हमारा डाक्टर विद्यार्थी ने। उसी दिन मैंने सिविल-लाइन्स में जर्मन डिक्शनरी खरीदी थी। अब भी उसकी याद आने पर जी दुखता है। बिक्कू जी ने डिक्शनरी मेरे हाथ में देखी और बड़ी नरमी से पूछा : 'यह क्या है ?'

मैंने कहा, 'जर्मन डिक्शनरी'

उन्होंने किताब को उलट पलट कर देखा और बोले, 'अच्छी है।'

मैंने पूछा, 'आप जर्मन जानते हैं क्या ?'

उत्तर मिला, 'जी नहीं, बारीक अक्षरों में छपे हुये पृष्ठों को मैं पसन्द करता हूँ, विशेषतः ऐसी भाषा में हो जिसे पढ़ा न जा सके।'

मैंने कहा, 'मैं तो जर्मन जानता हूँ।'

बोले, 'इसी लिये तो कलात्मक दृष्टि से इस किताब का आपके लिए कोई उपयोग नहीं है। आप आँखों से इसका सौंदर्य देख ही नहीं सकते।

बात आई गई हो गई। मैंने सोचा चित्रकार हैं ऐसी बातें करते हैं। कुछ खुशी भी हुई कि चलो एक चित्रकार से भेंट हुई। वे चित्रकार मैं लेखक। दोनों पड़ोसी हैं, अच्छी निभेगी। दूसरे दिन बिक्कु जी का आदमी मेरे पास आया, मालूम हुआ बाबू जी ने वह किताब मांगी है जो कल आपके हाथ में थी।

मैंने सोचा जान पड़ता है मेरे लेखक होने का रोब कुछ पड़ा है। अब बिक्कु जी जर्मन सीखेंगे। प्रसन्न भी हुआ। अतः किताब दे दी। शाम को बिक्कु जी के कमरे में पहुँचा। देखा बिक्कु जी अपने गोल शरीर पर केवल बनियान, पाजामा धारण किये हुये धरती पर विराजमान हैं। बगल में कूँचियाँ, रंग, खड़िया, कोयला, गेरू, तसवीरें, कागज, गोंद और न जाने क्या क्या फैला रखा है। ईजल पर एक कैनवस है। कैनवस पर एक अधरँगी तसवीर है। और उस तसवीर में कपड़ों की जगह बिक्कु जी कैंची से बारीक अक्षरों में छपे हुये कागज़ के टुकड़े कैंची से काट काट कर चपकाते जा रहे हैं। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रंगों के बीच वह छपे हुये कागज़ी टुकड़ों ने मिलजुल कर तसवीर को ऐसी सूरत दे रखी थी कि दो मिनट तो मेरी आँखें ठहरीं तो ठहरीं ही रह गई। मैंने कहा, "कमाल है, क्या श्रेष्ठ चित्र बनाया है आपने।"

बिक्कु जी बोले, "जी हाँ, यह आधुनिक मनुष्य का चित्र है।"

मैंने कहा, बहुत अच्छा है। यह रंगों के बीच आपने अखबार के टुकड़े खूब चमकाये हैं। बहुत ही आकर्षक और विचित्र मालूम पड़ते हैं।

गोल चेहरे की पेशियों में हल्का सा तनाव होकर ढीला पड़ गया। और बिक्कु जी बोले, 'क्षमा कीजियेगा, आपसे भूल हुई। यों आपसे भी भूल हुई यह मेरी कला की सफलता ही है। अखबार के टुकड़े नहीं हैं, आप-की जर्मन डिक्शनरी के पृष्ठ हैं।'

मैं तो आसमान से गिरा। अब आप ही बताइये अगर मुझे गुस्सा आया तो क्या बुरा हुआ, मैंने पूछा, 'क्या मतलब है आपका ?'

बिक्कु जी बोले, 'ठीक कहता हूँ। विश्वास न पड़े नज़दीक से देख लीजिये। यों नज़दीक से देखने पर चित्र का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।'

नज़दीक से देखने की ज़रूरत नहीं थी। पास ही में मेरी जर्मन डिक्शनरी टुकड़े टुकड़े पड़ी हुई थी।

मैंने चिल्ला कर कहा, बिक्कू जी आप चित्रकार होंगे, अपने घर के। मेरी डिक्शनरी तहस नहस करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।

बिना विचलित हुए, निहायत मुलायमियत के साथ बिक्कु जी ने कहा, 'महाशय, क्रोध करना जीवन से भागना है। जीवन एक समस्या है। आइये हम वैज्ञानिक ढंग से इसका हल निकालें। इस समय हमारे सामने जो स्थिति है उसमें मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'

बिक्कू जी को ठंडा देख मैंने पैंतरा बदल कर कहा, 'अच्छी बात है, आप मुझे दूसरी डिक्शनरी ख़रीद कर दें।'

उन्होंने कहा, 'क्षमा कीजिये, यह मैं नहीं करूँगा।'

मैं चकराया। सोचने लगा हो न हो इसमें कुछ पेंच है। अतः मैंने पूछा, 'क्यों?'

बिक्कु जी ने यों उत्तर दिया जैसे किसी और के बारे में कह रहे हों, 'यही मुझे करना होता तो खुद ही डिक्शनरी खरीद कर न काटता।'

मैंने कहा 'चाहिये तो आप को यही था'

बिक्कु जी बोले, 'जी नहीं हरगिज़ नहीं चाहिये था। ऐसा करने से मेरा जीवन चरित चौपट हो जाता।'

मैंने पूछा, 'यह जीवन चरित क्या बला है?'

बिक्कु जी ने फिर अत्यन्त विनम्र स्वर में उत्तर दिया, 'साही साहब, आप लेखक हैं? आपसे मिल कर मेरी धारणा फिर पक्की हो रही है कि लेखक लोग मूढ़ होते हैं और साहित्य-रचना निकम्मे प्रकार का कला सृजन है। असली कलाकार जीवन-चरित के दृष्टिकोण से सब काम करता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन-चरित में लिखा जाय कि मैंने यह चित्र एक ऐसे आदमी की डिक्शनरी जबरदस्ती हथिया कर बनाया जिससे मेरा कुछ चौबीस घंटे का परिचय था। क्योंकि इस डिक्शनरी को देखकर मेरी कलात्मक प्रतिभा रुक नहीं सकी। आप चाहें तो इस एक घटना पर जिन्दगी भर के लिए मेरे दुश्मन हो जाँय या दोस्त, हो जाँय। दोनों ही हालतों में इससे मेरी जीवनी प्रथम श्रेणी की जीवनियों में होगी और मेरा नाम वान गाग, गोगें आदि के साथ लिया जायगा। साथ ही इस चित्र का महत्त्व बढ़ेगा, सो ऊपर से। जीवन में हर काम इस विचार से करने को

जीवन-चरित-वादी दृष्टिकोण अर्थात् बायग्राफ़ी प्वान्ट आफ़ व्यू कहते हैं। अगर आपने इस ज़रा सी बात पर दुश्मनी ठानी तो आपका जीवन-चरित ज़रूर चौपट हो जायगा, यह स्पष्ट है।'

यह अपूर्व व्याख्या सुनकर सिवा इसके कि मैं बिक्कु जी का दोस्त हो जाता और कर क्या सकता था? अतः मैंने कहा, 'ठीक है, तो मैं दोस्त, होना ही कबूल करता हूँ। लेकिन बिक्कु जी, कलाकार का महत्त्व तो कलाकृति से बनता है। आपके चित्र उत्कृष्ट होंगे तो लोग यों ही आपके जीवन-चरित की व्याख्याएँ करेंगे।'

बिक्कु जी बोले, 'अब चूंकि आपने दोस्त होना स्वीकार कर लिया है अतः मैं कुछ कहता नहीं। लेकिन लेखकों की निकृष्टता के बारे में मेरी जो धारणा है उसे नहीं बदल सकता। महाशय जी, लेखकगण ऐसी मूर्खता की बातें कर सकते हैं क्योंकि अपनी कविताओं और उपन्यासों में वह यों ही बढ़ा चढ़ा कर अपना जीवन-चरित लिखा करते हैं। जो कला की दृष्टि से अनुचित है। एक चित्र और दूसरे चित्र में कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर होता है एक चित्रकार और दूसरे चित्रकार में। इसलिये सफल चित्रकार होने के लिए चित्र से अधिक बायग्राफ़ी बनाना ज़रूरी है।'

वह दिन है। और आज का दिन है। इन तीन बरसों में बिक्कु जी के साथ निभाने के लिए क्या क्या नहीं भुगता। वह सब कहाँ तक गिनाऊँ। कल आख़िरकार बिक्कु जी ने कहा, 'साही साहब, मैं जीवन-चरित-वादी-दृष्टिकोण से जी कर ही क्या करूँगा अगर किसी ने मेरी जीवनी लिखी नहीं।

मैंने कहा 'यह तो सही ही बात है।'

बिक्कु जी सोच कर बोले, 'आप लेखक हैं, अतः आप मेरा जीवन चरित लिखें।'

मैंने चौंक कर कहा 'मैं?,' फिर मुझे हँसी आई, 'मैं भला आपका जीवन चरित क्यों लिखूँ?'

बिक्कु जी ने निहायत नरमी से कहा, 'महाशय इसमें हँसने की कोई बात नहीं है। मैं केवल एक लेखक के अभाव में अपने जीवन-चरित को चौपट नहीं होने दे सकता। अगर आपने मेरा जीवन चरित नहीं लिखा तो लाठी से आपका सर यों ही रंग दूँगा जैसे ब्रश से कैन्वस रंगता हूँ।

नतीजा यह है कि बन्द कमरा है और मैं हूँ। एक मेज़ है, एक कुर्सी है, एक लैम्प है, एक फाउन्टेनपेन है और एक दस्ता कागज़ है। बाहर से लाठी की ठक ठक और बिक्कु जी की गरजती हुई आवाज़ आती है—'कितने पृष्ठ लिख लिए ?'

और मैंने एक दस्ते कागज पर केवल एक वाक्य लिख रखा है।

'काश मैं एक गाय होता और इस एक दस्ते कागज को खा जाता।'

कलाकार और युगसत्य

रामबहादुर सिंह मुक्त

१. भूमिका

समझदार की मौत
देखिये सोच रहा है
बैठ खाट पर बाल शीश के
नोच रहा है
दाँताकिलकिल करता
जग की नासमझी पर
जो है उसका अपना जीवन —
पोच रहा है !

२. युगसत्य का साक्षात्कार

जो मैंने तो इस दुनिया की नब्ज़ थाम ली
यह औंधी खोपड़ी—कि जिसको निपट निखट्टू
नचा रहे हैं अपने हाथों जैसे लट्टू
बिचौलों की, मुँहजोरों की पाँचों उँगली
चौचक घी में—जो बातों को घुमा फिरा कर
सच को झूठ, झूठ को सच कर देना जाने

वे सर्वेसर्वा कहलाते -- वाह ज़माने !
लोट लोट तू उसके पाँवों पूँछ हिलाकर ।
अक्खड़पन से जैसे को तैसा कह देना
यहाँ मना है — साफ़ पीठ में छुरी भोंकना
एक हाथ से देना दो हाथों से लेना
कला नहीं — सबकी आँखों में धूल झोंकना —
भाई मैंने गुर अब जग का जान लिया है
काम बनाना किसी तरह भी ठान लिया है ।

३. प्रथम विरही : आदिकवि

विरह लता देखा पतझर में यों बेचारा
फटेहाल; लोगो ! मत उसकी चिंता करना
धंधा उसने खोजा, उसे न भाया मरना
ख़्वाहमख़्वाह भिखारी दर दर क्या टकराता
बहरहाल वह खुश है, जीता पीता-खाता
जाड़ा गर्मी बरखा — उसने सीखा सहना
दुखड़े का जो फेंक दिया बेमतलब गहना
बढ़िया सा दुनियादारी का धंधा छाता
आबोहवा उसे ऊसर की माफ़िक आई
कायाकल्प होगया बिलकुल बदल गया है
रपटा, मगर रपट कर अब तो सम्हल गया है
दुर्बल अंगों में बरबस दौड़ी तरुणाई —
हृष्टपुष्ट उसको पाया ख़ासा मुस्टण्डा
देखा उसे पैंतरे बदल भाँजता डण्डा !

४. परिणति

अब नहीं मैं रह गया हूँ पुराना भावुक
आत्मा को रख दिया है इन दिनों बंधक
ठाठ से हैं चल रहे अब आजकल सब काम
छोड़ जब से दिये हैं पचड़े सभी नाहक !

बच्चे और बड़े

एक संस्मरण, एक शिशुकथा और तीन कहानियाँ

माँ और उनकी अन्तरंग गोष्ठी

रघुवंश

मेरी माँ औरों की माँ जैसी थीं। पर उनके व्यक्तित्व की जैसी कल्पना मेरे सम्मुख है, उसके आधार पर केवल माँ कह देने से उनको समझा नहीं जा सकता। मेरा विश्वास है कि ९९ में प्रतिशत से भी अधिक स्त्रियाँ साधारण की परिभाषा से आगे नहीं बढ़ पातीं। वे माँ होती हैं, बहिन होती हैं, पत्नी-प्रिया होती हैं, इससे अधिक उनमें अपना व्यक्तिगत कुछ भी नहीं रहता। पर मेरी माँ के विषय में यह बात लागू नहीं होती। वैसे मैं मानने को तैयार हूँ कि मेरी ही तरह प्रत्येक व्यक्ति अपनी माँ को यदि चाहे तो असाधारण कोटि में रख सकता है। मेरी माँ की कल्पना के साथ बहुत कुछ उनका अपना आये बिना नहीं रह सकता। माँ की सुधि आते ही उनके चारों ओर घूमने वाले अनेक पात्रों की स्मृतियाँ कौंध जाती हैं। जान पड़ता है, माँ की कल्पना इनके बिना की नहीं जा सकती है। मुझे अपनी माँ की विशेष सुधि नहीं है। पर जो भी उनके व्यक्तित्व की रूप-रेखा सामने आती है, उसके प्रत्येक कोण तथा मोड़ इन्हीं विभिन्न पात्रों की छायाएँ बनाती हैं। माँ का एक अलग अन्तरंग परिवार था जो उनका अत्यंत आत्मीय होते हुए भी साधारण परिवार की परिधि में नहीं घिरता। और माँ के ये परिजन उनसे जितना स्नेह और वात्सल्य पाते थे, वे उतने ही उनके प्रति समर्पणशील थे। वे सब माँ की अन्तरंग गोष्ठी के विविध सदस्य थे।

माँ को गाँव-घर बहुत प्यारा था। अपने गाँव के प्रति उनकी अगाध ममता थी। वे कहती थीं कि मुझे अपने गाँव की मिट्टी और घर की ईंटों से प्यार है। मेरे लिये तब यह सब समझ पाना सरल न था। मैं कहता—'माँ, मिट्टी-ईंट से कोई कैसे प्यार कर सकता है?' पर माँ कैसे भी उत्तर नहीं देती थीं, उनके मन में तर्क-वितर्क अधिक उठता नहीं था शायद। जब उनके मौन से प्रोत्साहित होकर हम में से कोई भाई गाँव

और घर की जड़ता पर अधिक बल देता, उस समय न जाने क्यों माँ आर्द्र हो उठती उनका कंठ भर आता, उनकी आँखों में न जाने किस ममता के आँसू झलक आते। इसके आगे हम सब संकुचित हो उठते, क्योंकि हमारे लिये यह सह्य नहीं था कि माँ को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचे। इसी बीच यदि जीजी आ गईं तो उनसे हम लोगों की बहस भिड़ जाती क्योंकि वे माँ के समान ही गाँव को जननी जन्मभूमि मानती थीं और वे उसे स्वर्गादपि गरीयसी सिद्ध करने को तत्पर हो जातीं। और हम लोगों को लड़ता छोड़ कर माँ अपने कामधाम में लग जातीं।

अधिक समय के लिये माँ गाँव-घर को छोड़ नहीं पाती थीं। उनके सभी लड़के धीरे धीरे पहले पढ़ने के लिये, फिर नौकरी के प्रसंग में गाँव छोड़ चुके थे। पर न जाने वह कौन सा मोह था, बन्धन था, जिसे तोड़ कर माँ अपने लड़कों के पास रह नहीं पाती थीं। आज युग बीत जाने के बाद माँ का भाव मैं समझ रहा हूँ, पर इस समय वह सब समझ पाना कठिन था। मैं तो तब बहुत छोटा था; पर अन्य सब भाई माँ के इस आग्रह से सन्तुष्ट नहीं थे। कहते हैं जब बीमारी के कारण विवश हो माँ अन्तिम बार गाँव-घर को छोड़ कर लड़कों के पास नगर जा रही थीं, उस समय उन्होंने आँचल हाथ में लेकर अपनी देहरी के पैर छूते हुए कहा था—"अब मैं लौट नहीं सकूँगी, यह मेरा अन्तिम प्रणाम है। मेरी भूल-चूक क्षमा करना और मेरे बच्चों पर तुम्हारा आशीष बना रहे।" इस क्षण माँ विभोर हो गई थीं, उनके नेत्रों से आँसू उमड़ आये थे और पास खड़े हुए गाय के छोटे बछड़े को अँकोर में भर कर वे रो पड़ी थीं। फिर तो गाँव की प्रत्येक स्त्री से भेंट कर वे रोती रहीं, जैसे किसी नव-वधू की विदाई का दृश्य हो। पर माँ का रुदन मौन था, वे आँसुओं में रोती थीं। अधिक बोलने के समान सस्वर होना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था।

हम सब के लिये यह समस्या थी कि माँ चुपचाप रह कर क्या सोचती रहती हैं। इस सुझाव से भी हमारा सन्तोष कभी नहीं हुआ कि इस प्रकार माँ पूजा या जप करती हैं। हमारे पिता जी आस्थावान् थे। वे अपने व्यावहारिक जीवन में भी पूजा-पाठ के लिये समय निकाल लेते थे। परन्तु माँ का यह स्वभाव नहीं था। उनको पूजा करते अथवा भगवान् का नाम लेते किसी ने देखा-सुना नहीं। किसी ने कभी पूछ भी लिया—"माँ जी, आप कभी भगवान् का नाम नहीं लेतीं, आखिर...।" तब माँ भोली

हँसी के साथ उत्तर देतीं—"और मैं दिन भर करती क्या हूँ। तुम्हारे लाला का मन चारों ओर उलझा रहता है, इसलिये उन्हें भजन के लिये समय निकालना पड़ता है। मेरी पूजा तो मेरे चारों ओर हर समय बिखरी रहती है।" माँ की बात तब अधिक समझ नहीं पाता था, समझने जैसी बुद्धि भी नहीं थी। और सच तो यह है कि हम भाई-बहिन अपने लाला के पक्ष में अधिक थे, इस कारण माँ की बात का बुरा भी मानते थे।

आज जैसे माँ को कुछ समझ पा रहा हूँ, उन दिनों उनकी बहुत सी बातें हमारे लिये बहुत कुछ दुर्बोध पहेली थीं। माँ के जीवन-क्रम में मानों कबीर का यह पद अनुगुञ्जित हो—

> साधो सहज समाधि भली।
> गुरु प्रताप जा दिन तें उपजी दिन दिन अधिक चली।
> जहँ जहँ डोलौं सोई परिकरमा जो कछु करौं सो सेवा।
> जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा।

माँ का वह अज्ञात गुरु कौन था यह तो मैं नहीं जानता, पर उन्हें सहज-समाधि सिद्ध थी ऐसा जान पड़ता है। परन्तु उनकी 'उन्मन-रहनी' का रहस्य कुछ अधिक गहरा था। वे निस्संग हैं, इसका आभास हम को होता था, पर वैसे वे अपनी स्नेहमयी छाया के साथ अपने चारों ओर घूमने वाले परिजनों को ममता के दृढ़ बन्धन में बाँधे हुए थीं। साधना-समाधि की बात करना कठिन है, उसकी पात्रता मुझमें नहीं है, पर माँ की अन्तरंग गोष्ठी के विषय में यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है।

माँ के दैनिक जीवन में परिजनों का एक छोटा समूह था, जो जैसे प्रतिदिन उनके चारों ओर घूमता रहता था। आत्मीय भाव के अतिरिक्त माँ में किसी अन्य भाव की कल्पना करना कठिन है। उनका नौकर-चाकरों, बन्धु-बांधवों, पड़ोसी-मित्रों सभी के प्रति एक ही भाव था और वे एक ही संबंध मानती थीं। और इस भाव की अभिव्यक्ति वे इस भोले ढंग से करतीं कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझता कि वह माँ के सबसे अधिक निकट है। जैसे वे सारे परिजन माँ के अन्तरंग के सदस्य हैं और उनकी यह गोष्ठी निरन्तर चलती रहती है। इस गोष्ठी के लिये न किसी को सूचना देनी पड़ती है, न कोई आता-जाता है और न सबको इकट्ठा ही होना पड़ता है। इस निरन्तर चलने वाली सभा के विभिन्न सदस्य अपने आप में अलग व्यक्तित्व

रखते हैं, परन्तु उनका जो छायाभास मेरे मन पर है वह माँ के व्यक्तित्व का जैसे अभिन्न अंश हो।

तब हमारी बाल-मण्डली में माँ की इस गोष्ठी के प्रति अच्छा भाव नहीं था। माँ को अपनी इस गोष्ठी में व्यवधान सह्य नहीं था, हम लोग किसी चीज अथवा काम के लिये कितना ही चीखे-चिल्लाएँ। दूसरे, अंतरंग के सभी सदस्य हम सब पर अपना शासन चलाने के लिये स्वतंत्र थे। इन सब बातों पर हमारी बालमण्डली कड़े प्रस्ताव ही नहीं पास करती, वरन पिता के सम्मुख कभी कभी डिपूटेशन भी माँ की शिकायत के लिये भेजा जाता। हम पिता जी के पास जाकर कहते—"लाला, माँ को बातों से छुट्टी ही नहीं मिलती।" पिताजी शायद माँ की इस आदत से स्वयं भी प्रसन्न नहीं थे, वे भी कहते—"अरे भाई सुनती हो, यह तुम्हारी पंचायत कब तक चलेगी।" माँ चिढ़ती नहीं थीं—"लेकिन तुम सब की नौकरी में तो कभी कोई कमी मैं करती नहीं।" लेकिन कभी कभी माँ खीझ कर झल्ला भी जाती थीं—"देखो, मैंने हजार बार कह दिया सबके सामने पंचायत पंचायत न कहा करो, आँख-कान-मुँह बन्द करके मुझसे जिया नहीं जाता।" पिताजी निरुत्तर हो जाते। वास्तव में हम सब के किसी काम में माँ कभी कोई कमी नहीं करती थीं, और हमको उनसे कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए थी। वह माँ की ज़िन्दगी थी और जीने का अधिकार सबको मिलना चाहिए।

माँ की गोष्ठी का पहला सदस्य था पागल शब्बो। उसका पूरा नाम था शबराती। वह ऊँचा पैजामा, गंदी नीची अचकन पहने एक झोली में कागज पत्तर भरे—भकाभक-चिल्लाता हुआ घूमा करता था। लड़के उसके पीछे—'शब्बो मियाँ कागज लो—कागज लो' कहते दौड़ते और जब माँगने की मुद्रा में वह पीछे मुड़ता तो अँगूठा दिखाकर भाग खड़े होते। उनकी खिलखिलाहट के साथ भकाभक का स्वर ऊँचा करता हुआ वह उनके पीछे कुछ दूर दौड़ने का अभिनय करता और फिर वापस लौट पड़ता। लड़कों के मन में पागल के प्रति भय का भाव था, पर विनोद की प्रवृत्ति ही अधिक थी। वे जान गये थे कि वह किसी को मारता-पीटता नहीं। अच्छे और सीधे लड़के उसको पुराना कागज लाकर देते और वह उनको प्यार के साथ नाव या टोपी बनाकर देता। सुना था कि वह कभी लड़कों को रेवड़ी भी खिलाता है। हम भाई-बहनों को यह सौभाग्य नहीं मिला, इस कारण इस

बात पर हम विश्वास नहीं करते थे। हाँ, अच्छे लड़के कहलाने के लिये हम उसको बहुत सा कागज इकट्ठा करके दिया करते थे, और चिढ़ाने का लोभ भी संवरण कर लेते थे, कुछ इसलिये भी कि माँ को यह पसन्द नहीं था।

हमारे बरोठे में आकर जब वह अपने कागजों का गट्ठर एक ओर रख तिपाई पर जम जाता तो मानो वह बिलकुल स्वस्थ हो जाता। वह पुकारता 'भौजी'। माँ को बड़े भाई भाभी कहते थे और शब्बो भी इसी रूप में माँ को भौजी कहता। आज अजब लगता है कि सब नौकर चाकरों को छोड़कर यह पागल भी माँ को इस प्रकार पुकारने का साहस कैसे करता था। पर उन दिनों यह सब सुनने के हम अभ्यस्त थे, जीवन की सहज स्थिति यही थी। माँ काम में व्यस्त होती तो हम लोगों को आज्ञा मिलती—"जाकर शब्बो से कह दो, माँ अभी आती है।" हम जानते थे कि माँ की यह आज्ञा निष्प्रयोजन है। शब्बो यह सब अपने आप जानता है और हमारे बिना कुछ कहे ही वह जम गया तो जम गया, अब उठने वाला नहीं। पर माँ की आज्ञा का उल्लंघन करना हमारे लिये सरल नहीं था माँ हमको कभी कुछ कहती भी न थीं, सजा देने की बात दूर रही, पर जब कभी वे क्रुद्ध होकर किसी से बोलना बन्द कर देती थीं, तो उनके मौन को सहने का साहस हम में से किसी को न था। जाकर हम माँ की बात शब्बो से कह आते और इस बीच हम लोग भी उससे बातचीत करते—प्रायः प्रश्न हमारी ओर से ही होते—'तुम कागज़ का क्या करते हो?' तुम रहते कहाँ हो? तुमको खिलाता कौन है? तुम्हारे कौन कौन हैं?' शब्बो हमारे प्रश्नों के सदा नये तथा विचित्र उत्तर देता—"कागज़ के जहाज बनाकर जर्मनी फतेह करना है।" कागज की तोप बनानी है दुश्मन हमला करने वाला है।" "खुदा बहरा हो गया, उसे सुनाई नहीं देता, इस वजह से खत लिखना पड़ता है"। 'रहने को सब मेरे ही घर हैं। यह नवाब सामने जिसका कोट है मेरे बाप का नौकर था, उसका कोट हमने ही बनवाया है। मैं जिस घर में बैठा हूँ, मेरा घर है, मैं रहता भी यहीं हूँ।" "खाना ही विष है, खाने से ही सब मरते हैं, भूख से मरने वाले बिरले हैं। हम तो हवा खाते हैं, बहुत मीठी चीज है, खाने से वास्ता रखती है। पर मिलती बहुत मँहगी है।" "कौन कौन हैं? कौन होता है—यही बीबी बच्चे खुदा ने ऐसे

बनायें कि अपने आप रीझ गये और बीबी का मन किसी पर आ गया, करती भी क्या बेचारी।"

इन्हीं बातों के बीच माँ आ जातीं और उनकी झिड़की हम लोगों पर पड़ती—"तुम सब उसे तंग ही करोगे, यह नहीं कि जा कर मूला दादा से कहो कि शब्बो मियाँ का खाना लाकर दे जाँय।" फिर यह जानते हुए भी कि माँ मूला दादा से खाना लाने के लिये कह आई हैं, हम को घर जाना पड़ता। इसी बीच मूला दादा—उन दिनों घर के सभी नौकर चाकरों को इसी प्रकार पुकारने की परम्परा थी—मिट्टी की रकाबी में दाल, सब्जी आदि तथा सकोरे में पानी लाकर शब्बो के सामने रख देते। खाना जब सामने भली भाँति लग चुकता तो शब्बो खाना शुरू करता और माँ पूछतीं—"आज कई दिनों बाद दिखाई दिये शब्बो"। शब्बो खाते खाते ही जवाब देता—"भौजी, जरा ससुराल चला गया था, तुम्हारी बहू को लाना था न।" हम सब जानते थे कि शब्बो कहीं आया गया नहीं, यह सब उसकी मनगढ़न्त है। माँ बरोठे के अन्दर वाले दरवाज़े पर खड़ी खड़ी विनोद से पूछतीं—"सब हालचाल अच्छा तो है।" शब्बो कुछ गहरी अनुभूति से कहता—"हाँ भौजी, अच्छे ही समझो!" माँ उसके आन्तरिक भाव को पकड़ कर विनोद करतीं—"फिर शब्बो, तुम अपनी घरवाली को लेते क्यों नहीं आये।" शब्बो खाने की तन्मयता के बीच कुछ विचलित जान पड़ता—"कहाँ अम्मा जी, वह तो मुझे दगा दे गई।" खाने में अधिक व्यस्त होते हुए कह जाता—"औरतजात!" लेकिन माँ की ओर देख वह एकाएक चुप हो जाता और उसकी निरुद्देश्य दृष्टि में भी एक निरीह भाव झाँक जाता। माँ का मन द्रवित हो जाता, वे किसी बात की कल्पना से अभिभूत होकर बात बदलती हुई कहतीं—"अरे शब्बो, मैंने तुम्हारे लिये कढ़ी रख छोड़ी है, तुम को बहुत अच्छी लगती है न और यह मूला लाया ही नहीं। मैं तो भूल ही गई थी, अभी भेजती हूँ। मज़े में पेट भर कर खा लेना, और माँग लेना।" माँ इस प्रकार अपने ममत्व से उसे प्लावित करती हुई चली जातीं और शब्बो गुम-सुम खाता रहता। कभी सोचता हूँ माँ का यह विनोद शब्बो के प्रति क्रूर था, पर यह भी स्पष्ट है कि शब्बो माँ से इसी बात की अपेक्षा करता था, शायद उसको इस पीड़ा से बहुत बड़ा आत्मसन्तोष मिलता हो।

माँ के व्यक्तित्व की दूसरी रेखा रम्पा का रूप धारण कर लेती है। माँ की गोष्ठी के अनेक छोटे बड़े प्रधान-अप्रधान पात्रों में रम्पा का स्थान काफी महत्त्व का था। हमारी बालगोष्ठी में रम्पा जीजी के प्रति सद्भावना थी। गहरे साँवले रंग की वह स्वस्थ तथा पुष्ट अंगों वाली युवती थी और हम सब को अपनी बातों तथा भंगिमाओं से खूब हँसाती थी और खेल में हम सब का साथ भी देती थी। इन्हीं कारणों से वह हम लोगों के बीच पापुलर भी अधिक थी। हँसते समय उसके बिल्कुल सफेद दाँत चमक आते थे। पर उसके संबंध में सब से अधिक ऊबा देने वाली बात यह थी कि सारी दोपहर माँ और रम्पा न जाने क्या क्या इधर-उधर-धनाधा-पटका तथा पछोरा करतीं। न जाने कितनी प्रकार की दालें दली जातीं और न जाने कितने व्यर्थ के काम होते रहते। रम्पा के भाव से यही लगता कि इन कामों का विशेषाधिकार उसी का है, पर माँ उसके साथ बराबर काम में लगी रहती थीं। हाँ, वह हम लोगों पर जरूर इस बात की धौंस रखती थी। जब जब हम उससे कहानी सुनने का आग्रह करते या चाहते कि वह हमको हँसाये तो वह यह भी कहती रहती—"बबुआ, हमको काम करना है, नहीं तो अम्मा खफा होंगी।" वैसे हमने तो देखा नहीं कि माँ उस पर कभी बिगड़ी हों। माँ का आज्ञा थी हम सब रम्पा को रम्पा जीजी कहें। पर चिढ़ाने के के लिये हम सब माँ के पीछे उसे रम्पिया कह कर पुकारते थे, क्योंकि माँ उसे इसी प्रकार पुकारती थीं। वह इससे चिढ़ती, और कभी कभी माँ से शिकायत भी करती—"अम्मा, देखो बबुआ हमको रम्पिया कहता है।" माँ मृदुल भाव से हम सब को डाँट देतीं थीं, शायद उन्हें मालूम था कि यह सब रम्पा को खुद भी अच्छा लगता है। कभी यदि हम उसको चिढ़ाना भूल जाते, तो वह स्वयं हमको चिढ़ाती जिससे जवाब में हम उसको भी चिढ़ायें। माँ यह सब जानती थीं, इस कारण रम्पा की शिकायत को कभी महत्त्व नहीं मिला।

हाँ, तो हम सब को माँ का इस प्रकार घण्टों अनेक कामों में लगा रहना कभी नहीं भाता था। पर माँ को जैसे काम करना ही अच्छा लगता। वे काम के साथ रम्पा से कुछ बातें भी करतीं। रम्पा छलती और माँ पछोरती रहती। रम्पा इस बीच अपनी बड़ी काली आँखों से हम को कुछ चिढ़ाती जाती। हम भी इस ताक में रहते कि मौका पाकर धोखे में

उसे पीछे से गले में हाथ डाल कर गिरा दें। रम्पा स्वयं रातकें रहती और माँ हम लोगों को पास आते ही डाँटकर भगा देती थीं। न जाने कहाँ कहाँ की बातों के बीच माँ रम्पा से पूछतीं—"रम्पा तू अपनी सुसुराल नहीं जायगी।" रम्पा आन्तरिक गहराई से उत्तर देती—"वहाँ कौन है मेरा, अम्माँ।" माँ पूछतीं—"क्या सचमुच तूने अपने आदमी को छोड़ दिया।" रम्पा अपने आक्रोश को जैसे दाबते हुए कहती—"अम्मा, मैं उसे अपना आदमी नहीं मानती, और वह भी क्या आदमी है ?" माँ गहरी संवेदना से प्रश्न करतीं—"वह कभी तुम्हें मनाने नहीं आया ?" अपने क्षोभ को संकोच में दबाती हुई रम्पा जवाब देती—"आने को आया क्यों नहीं, दादी ने जोर भी डाला, पर अम्मा, उस आदमी का मुझे विश्वास नहीं। आदमी मन का अच्छा हो तो गिर कर भी सँभल जाय, लेकिन मन के काले के काटे का मंत्र नहीं। साफ़ जवाब दे दिया तू अपने मन का बना रह, मुझे मेरे ऊपर छोड़ दे।" माँ ने वातावरण हल्का करने के लिये बात बदली—"फिर रम्पा, और भी लोग तो आते होंगे। अभी तो सारी जिन्दगी पड़ी है। किसी अच्छे का साथ कर ले।" रम्पा भारी मन से लजाती हुई कहती—"आने को तो अम्मा, बड़े बड़े धन्नासेठ आते हैं, न जाने कितनी कसमें खाते हैं अपने को बड़ा महापुरुख बखानते हैं। पर अम्मा, अब हिये में मरद जात पर विश्वास नहीं जमता।"

माँ आश्वासन के स्वर में कहतीं—"नहीं री रम्पा, सभी एक से तो नहीं होते। अभी तेरी उमर ही क्या है, खाने-पहनने के दिन है। हाँ, सोच समझ कर काम करना अच्छा होता है।" कुछ देर रम्पा काम में व्यस्त रहती, फिर एकाएक माँ से पूछती है—"अम्मा, बड़ी जातवालों में तो ऐसा नहीं होता। बिहाता को छोड़ देना क्या पाप है ? अम्मा, क्या तुम समझती हो कि मैंने अपने आदमी को छोड़कर अधर्म किया है ?" माँ कह उठती हैं—"नहीं नहीं रम्पा, यही बिल्कुल ठीक है। जो बुरा है उसे यदि सुधार न सको तो छोड़ देना ही उचित है। हमारी ऊँची जाति में यह नहीं चलता, पर हमारे यहाँ औरत का मूल्य भी क्या है ? तुमने जो किया है रम्पा, वह तो मुझे गर्व की बात लगती है।" रम्पा प्रसन्न हो जाती, उसकी आँखों में न जाने किस भाव के आँसू आ जाते। वह माँ के चरणों में झुक कर कहती—"अम्मा, आप मुझे अपने पास ही बने

रहने दीजिये, मेरी जिन्दगी ऐसे ही कट जायगी।" माँ उसके झुके हुए सिर को उठा कर कहतीं—"पगली, कहीं किसी की माँ भी सदा बैठी रहती होगी।"

अब भला ऐसी अनावश्यक बातों से तथा धीरे-धीरे चलने वाले इस कामकाज से हम सब का जी क्यों न ऊब जाता। फिर हम भाई बहिन माँ को यहां से उठाने के जाने कितने उपाय सोचते रहते।

माँ की अन्तरंग के अनेक सदस्यों के बीच एक छोटे से पात्र की रेखा अधिक उभर कर सामने आती है। अभी इस गोष्ठी के अनेक साधारण और असाधारण पात्र बाकी हैं, पर मेरी स्मृति में दीनू का चित्र अधिक उभर रहा है। दीनू हमारे घर के कहार भूला दादा की पहली पत्नी का पुत्र था, और अब उसकी स्थिति नाम के अनुरूप हो गई थी। लेकिन जाने किस कारण वह दीनू माँ का प्रिय तथा विश्वासपात्र बन गया था। वह अधिकतर माँ के चारों ओर चक्कर लगाया करता, माँ की प्रत्येक आज्ञा को वह जैसे बटोरने में दत्तचित्त हो। इस काले और दुबले लड़के की अब केवल आकर्षक आँखें ही याद हैं।। वह अपनी आँखों के भाव से बात करता था, मुंह से कम ही उत्तर देता था, भय से कम हम तो सुन नहीं पाते थे। लेकिन माँ उसकी प्रत्येक बात सुन समझ लेती थीं। हम को यह लड़का कभी नहीं भाया। खेलने-कूदने में वह कभी अच्छा साथी सिद्ध नहीं हुआ। बहिन चिढ़कर कहती—"यह तो रहा भैंस का गोबर, न लीपने का, न पोतने के काम का।" माँ के इस स्नेहपात्र पर हम दयापूर्ण रहते, कुछ तो उसके सीधेपन से और कुछ माँ की भावना की रक्षा के लिये।

माँ के साथ साथ वह अपनी इच्छा से ही लगा रहता। माँ उससे कहतीं भी—"दीनू, तू जाकर लड़कों के साथ खेला क्यों नहीं आता।" पर वह माँ की बात सुन कर भी गुमसुम खड़ा रहता। माँ आँखों से उसका भाव समझ पातीं और कहतीं—"अच्छा जाने दे, तू मेरे साथ ही बना रह।" फिर कुछ ही देर बाद माँ उसको बतलातीं—"देख दीनू, महराजिन से कह दे सब्जी यहाँ दे जाय, हम काट लेंगी, वह तब तक दूसरा काम देखे।" माँ का काम सुनते ही दीनू स्फूर्तिमय हो जाता। कुछ ही देर में खुद ही सब्जी लादे-फाँदे आ जाता। फिर माँ के साथ वह तरकारी साफ करता—कटवाता और माँ इस बीच उससे न जाने कितनी बातें करती

और दीनू उनका जवाब कुछ हूँ—हां में और अधिकतर अपनी मुद्राओं तथा आंखों के भावों से देता रहता। मां पूछतीं—"दीनू, तेरी नई मां तो बहुत अच्छी है।" दीनू मौन ही जैसे अपनी आंखों से कहता—"हाँ, है तो।" मां विनोदी प्रकृति की थीं—"और तुझे प्यार तो करती है रे।" दीनू जैसे सिहर जाता है—उसे कल की मार याद आ जाती है। मां को इसका पता चल गया था और उन्होंने मूला की दुलहन से कहला दिया था कि आगे वह यह बात सुनने न पाये। दीनू भी जानता है, पर यह मां की बात का क्या उत्तर देता। मां को अपनी बात की निरर्थकता पर ध्यान जाता है, वह बात संभालती हुई कहती हैं—"नहीं दीनू, तू दुःखी न हो तेरी माँ मानो तुम्हें सामने लगेगी और प्यार भी करेगी।" अब तक दीनू की आंखों में आंसू आ गये थे, मां ने देख लिया—"अरे दीनू, तू मर्द बच्चा हो कर रोता है...फिर मैं तो हूँ।" एक क्षण रुक कर ही मां उससे कहतीं—"अरे जरा पानी का गगरा तो लाना, उठा सकेगा, तरकारी धो भी डालें।" दीनू का उत्साह फिर वापस आ जाता, वह आँसुओं के बीच जैसे मुस्कराता हुआ चला जाता। उसकी चाल में मर्द बच्चा होने का भाव जैसे व्यक्त हो आता।

इस गोष्ठी के अन्य अनेक पात्र बहुत हल्की रेखाओं में आकर खो जाते हैं। घस्सू काका सफाई आदि से छुट्टी पा कर मां से एक बीड़ा पाने की आशा से आकर खड़े होते और उनको पान के साथ बची हुई रोटियाँ भी मिल जातीं। अरखिन नानी आकर अपने निकम्मे पति का रोना रो जातीं और मां का हाथ बटाने के पुरस्कार में अचार-खटाई से लेकर दाल-चावल तक जो चाहती मांग ले जातीं। उनके नानी होने का भी एक रहस्य था; मां को पता लगा था कि अरखिन उनकी मां के गाँव की हैं, फिर क्या वह उनकी मौसी और हम सब की नानी अपने आप हो गईं। इस सारी गोष्ठी में मन से अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति जानकी दादा थे। वे गृहस्थ ब्राह्मण थे और मां के बहुत बड़े सलाहकार। मां उनका आदर भी करती थीं और स्नेह भी। गृहस्थी की गम्भीर समस्याओं तथा उत्सवों के आयोजनों के संबन्ध में, मां के प्रमुख सहायक और योजक वे ही थे।

अन्त में मुल्लो जिया का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि उनकी कल्पना के बिना माँ का आंगन पूर्ण नहीं होगा और उनका

स्थिति के बिना माँ की अन्तरंग गोष्ठी की धारणा भी नहीं हो सकती। वस्तुतः गोष्ठी नाम की सार्थकता इन्हीं को लेकर सबसे अधिक थी। उनके आने का समय विशिष्ट तथा निश्चित था। खाना-पीना समाप्त करने के बाद जब माँ आराम की साँस लेती हुई पानदान खोलतीं, उसी समय मुल्लो जिआ का उच्च स्वर सुनाई देता—"अम्मा सलाम! खाना-पीना हो गया क्या? आज मुझे तो देर हो गई। गृहस्थी भी जंजाल है और आजकल बहुओं के भरोसे घर चलने से रहा।" यह कहते हुए वे आकर दालान के उसी दर के सामने के आसन पर बैठ जातीं जिसके एक ओर अम्माँ अपना पानदान लेकर बैठी होती थीं। उनके बैठने के निश्चित स्थान थे, इसमें मेरे देखते कभी व्यतिक्रम हुआ नहीं। माँ पान लगाते लगाते ही कह देतीं—"तो मुल्लो, तुमने यह जंजाल क्यों पाला है, बहू है, सौंपो उन्हें, चलाएँ गृहस्थी, वे जानें उनका काम जाने। तुम तो खुद ही फँसी हो मायाजाल में।" मुल्लो जिआ कुछ संकुचित हो कर स्वीकार कर लेतीं—"हाँ अम्माँ बात तो तुम्हारी ठीक है। सच्ची बात तो यह है कि बहुओं को हमारा दखल देना अच्छा नही लगता। पर ये बहुएँ अगर इसी तरह घर चलाएँगी तो घर मिट जायगा चलने का नहीं।" माँ निस्पृह भाव से उत्तर देतीं—"जब सिर पड़ता है तब सब कर लेती हैं सब हो भी जाता है।"

संबंधों की बड़ाई-छोटाई के अतिरिक्त माँ और मुल्लो जिआ में सरल भावना ही अधिक थी। इस समय की बातें, काम के साथ न चल कर स्वच्छंद रूप से प्रवाहित होती रहती थीं, इस कारण गोष्ठी का रूप सबसे अधिक मुखर तथा मुक्त रहता। मुल्लो जिआ माँ के पास जग-जहान की खबरें ले आतीं और अपनी मनोरंजक शैली में सुना जातीं। अपनी-अपनी खाटों पर लेटे हुए हम सब को इन बातों में बहुत रस आता था। पर जब जिआ भूत प्रेतों, जिन-परियों के किस्से सुनातीं तो हमको अपने-अपने सुरक्षित बिस्तरों में भी भय लगने लगता, यद्यपि उनके सुनने में हम अद्भुत आकर्षण का अनुभव करते। मुल्लो जिआ इन सारी वार्ताओं तथा किस्सों का बिल्कुल सच कह कर ही वर्णन करतीं। माँ सुनती रहतीं, लेकिन अनेक बार जान पड़ता माँ वास्तविक श्रोता नहीं हैं। उनका ध्यान अन्यत्र है, वे इन बातों पर ध्यान नहीं दे रही हैं। लेकिन जिआ अपने किस्से कहने के प्रवाह में इस बात की ओर ध्यान नहीं देतीं। पर कभी-कभी

जिआ की बातों के बीच में ही माँ किसी विशेष व्यक्ति या घटना के प्रति अनावश्यक रूप से उत्सुक हो उठती थीं और वे जिआ से अनेक प्रकार के प्रश्नों से न जाने क्या जान लेना चाहती थीं। परन्तु रोचक प्रसंगों के बीच में इस प्रकार के व्यवधान हमको खलते थे—"रामू की बहू नहीं रही, अब उसके बच्चों का क्या होगा? वह उनको कैसे रखता होगा? बच्चों को, इतने छोटे बच्चों को बाप कैसे पालेगा? अरे नई आवेगी तो उससे बच्चों की क्या बनेगा।" इस प्रकार गाँव की अनेक चिन्ताएँ माँ को उस समय घेरती और हमको लगता कि इस प्रकार कथा-वार्ता का आनन्द बाधित होता है। पर मुल्लो जिआ का भाव अक्षुण्ण रहता, वे अपनी कथाओं तथा हम लोगों की उत्सुकता में उतना ही रस लेतीं, और साथ ही माँ की करुणा से संवेदित भी होतीं।

इस प्रकार रात्रिकालीन यह गोष्ठी न जाने कब तक चलती रहती। इसमें मुल्लो जिआ की स्थिति प्रायः अनिवार्य मानी जा सकती है, पर अन्य पात्र और उनकी संख्या बदलती रहती थीं। अधिकतर हम लोग इस बीच में सो जाते थे। परन्तु हमको माँ का एक रहस्य मालूम हो गया था। जिआ के जाने के बाद (कभी-कभी अन्तिम जाने वाले जानकी दादा भी रहते थे) माँ अपने आसन पर कुछ क्षण बैठी रहती, न जाने क्या सोचती रहतीं था केवल शांत मौन ही। फिर वे एक लम्बी गहरी साँस लेकर बहुत धीरे स्वर में कहतीं—"प्रभु! दीनबन्धु, दीनानाथ!" और स्वस्थ चित्त होकर उठ खड़ी होती। कुछ देर मुँह साफ़ करने में लगता और अन्त में दीपक के पास जाकर कहतीं—"प्रभु तुम सब की चिन्ता करते हो... ।" आगे उनका स्वर उनकी विभोरावस्था में डूब जाता और वे अपने आँचल से दीपक को बड़े कोमल भाव से बुझा देतीं मानों किसी शिशु को थपकी देकर सुला दिया हो।

कट्टो

मालती परुलकर

एक थी गिलहरी उसका नाम था कट्टो (जैनेन्द्र वाली नहीं !)। कट्टो बड़ी चुलबुली थी। दिनभर पेड़ों की शाखाओं पर दौड़ती, घूमती थी और रात को थककर माँ की गोद में सो जाती थी। कट्टो की माँ होशियार थी। बरगद वृक्ष की खोली में उसका घर था। वर्षा के पूर्व कट्टो की माँ अपना घर सूखी घास और पत्तियों से ढांक लेती थी ताकि पानी भीतर न आवे। चैत-वैशाख में आसपास के बगीचों में, जामुन, अनार, आदि अनेक फल होते थे। कट्टो की माँ अनार के दाने, या अन्य छोटे मोटे फल सुखाकर चौमासे के लिए अपनी कोठी में भर लेती थी।

जाड़े के दिनों में कट्टो को खूब खेलने को मिलता था किन्तु ग्रीष्म में और वर्षा में माँ उसे डाँटती थी। कट्टो का जी घर में रहकर ऊब जाता था पर बिचारी करती क्या ? गर्मियों के दिनों में बाहर लू चलती थी और वर्षा के दिनों में पानी।

वे दिन मई के दिन थे—दुपहरी की नींद से कट्टो जग पड़ी तो उसे चहचहाहट सुनाई दी।

आँखें मलते-मलते वह बाहर आई...खोली से झांककर देखा तो उस बरगद के वृक्ष पर सैकड़ों पर पक्षी बोल रहे थे। कट्टो ने पास की डगाल पर बैठे पक्षी से पूछा,

"भाई कहाँ से आ रहे हो ? और कहाँ जा रहे हो ?"

उसके नन्हें-नन्हें बोल सुनकर वह पक्षी प्रसन्न होकर बोला, "बहन, हम मुसाफिर हैं तुम्हारे प्रदेश में मधुमास था। इसलिये पत्ती फूल हरे भरे और ताजे थे तो इधर आ गये और अब वैशाख शुरू हुआ है...धूप तेज हो गई है...सूखा-सूखा लगने लगा है इसलिये हम अपने देश को जा रहे हैं। रास्ते में विश्राम करने रुक गये थे......

कट्टो ने आँखें मिचमिचाते पूछा, "तो तुम्हारा देश कहाँ है ?

"मेरा देश तो यहाँ से पास है...वो देश बहन...वह नीला-नीला

पर्वत दिख रहा है, उसके पार निर्मल पानी की नदियाँ बहती हैं। मेरा देश बहुत सुन्दर है। तेज धूप नहीं पड़ती मूसलाधार वर्षा नहीं होती। जब चाहो तब घूमो...नाचो...गाओ।"

पेड़ पर से अन्य पक्षियों ने फिर एक बार एक ही आवाज में कलरव किया तब कट्टो का नया मुसाफिर भाई बोला, "अच्छा बहन...कभी हो सके तो जरूर आना...उस नीले पर्वत के पार। मेरे भाई बंधु वहीं रहते हैं ...उनसे पूछने पर मेरा पता चल जायगा।...अच्छा प्रणाम।"

वह उड़ गया। कट्टो अपने अगले दोनों पाँव मुँह को लगाकर काफी देर तक वहीं बैठी रही। पक्षियों के उस समूह को आँखों से ओझल होने तक देखती रही।

उस रात को घास के बिस्तर पर पड़े-पड़े उसने विचार कर लिया कि नीले पर्वत के पार के उस देश में वह जायगी। कितना सुन्दर होगा वह देश। जहाँ तेज धूप नहीं, मूसलाधार वर्षा नहीं। जहाँ बारह माह ताजे रसीले फल खाने को मिलते हैं...

वह जरूर जायेगी।

दूसरे दिन माँ को सोती देखकर वह जल्दी से उठी...सूरज भी न निकला था। पर वह ठहरेगी नहीं...नहीं तो माँ जग जावेगी।

नाश्ता किए ही बिना दौड़ने लगी...काफी दौड़ने के बाद वह थक गई। पीछे मुड़कर देखा बरूद का वृक्ष अन्य वृक्षों में छिप गया था। अब सूरज काफी ऊपर आ चुका था और कट्टो को भूख लगी थी। वह रुक गई ...आसपास कहीं छोटे-छोटे रूखे सूखे फल पड़े मिले उन्हें खाकर वह फिर चलने लगी। सामने देखा, वह नीला-नीला पर्वत अभी उतनी ही दूर था जितना बरूद वृक्ष से दिखाई देता था...नये देश के सपने देखते-देखते वह आगे बढ़ रही थी। एक दो घंटे में ही थकावट के कारण गति कम हो गई थी किन्तु मन में तीखी इच्छा थी कि वह उस पर्वत को पार करे।...

सामने साँटे का खेत था। कटनी हो चुकने के कारण अब सिर्फ पैने डंठल बिखरे हुए थे। कट्टो के पाँवों में शूल चुभने लगे। धूप तेज हो रही थी...उसे एकाएक अपनी माँ की याद आई। माँ उसे ढूँढती होगी...राह देखती होगी। किन्तु कट्टो घर लौटना नहीं चाहती। वह क्यों लौटे।

माँ तो हमेशा उसे डाँटती फटकारती है...खेलने बाहर नहीं जाने देती... सहेलियों के साथ दिन भर घूमने नहीं देती।

१२ बजे उसने थोड़ा विश्राम किया और फिर दौड़ने लगी...बहुत दौड़ने के बाद सांटे का खेत पार कर लिया। एक ऊँचे टीले पर चढ़कर उसने देखा...बरूद का वृक्ष ही नहीं वरन् आसपास के वृक्ष भी आँखों से ओझल हो चुके थे। किन्तु वह नीला पर्वत ? वह तो अभी भी उतना ही दूर दिखता था जितना पहले दिखता था...

साँझ तक चलती रही फिर भी वह पर्वत काफी दूर था अब उसका धीरज छूट गया उसके पाँवों में थकावट आ गई.. पेट में चूहे कूद रहे थे ...सामने जंगल शुरू हो रहा था साँझ हो रही थी। अब वह रात को कहाँ रहेगी ? क्या करेगी ? काश अच्छा होता वह अपने घर से न निकलती। किन्तु अब घर का रास्ता भी ढूँढना मुश्किल है।

वह रोने लगी। किन्तु एकाएक उसे लगा एक घनी-घनी काली छाया आसमान से नीचे उतर रही थी। कट्टो ने ऊपर देखा एक बड़ा विशाल गिद्ध, पंख फैलाये उसकी ओर आ रहा था। कट्टो भय से काँपने लगी। गीध ने चोंच में उसकी नरम, मुलायम पूँछ पकड़ ली तब भय के कारण वह चिल्ला भी न सकी। गिद्ध उसे चोंच में उठाये ऊपर ही ऊपर ले जा रहा था।

काफ़ी अंतर पार करने पर एकाएक गिद्ध की चोंच से उसकी पूँछ छुट गई...वह जोरों से नीचे आने लगी...भूमि की ओर। सारा आसमान मानो उसके चारों ओर चक्कर काट रहा था। किसी वृक्ष पर वह जोरों से आ टकराई...और बेहोश हो गई।

घंटों बाद वह होश में आई...अंग-अंग चटक रहे थे। उसने आँखें खोलकर देखा, उसकी माँ उसके सिर पर हाथ घुमा रही थी...

और पूछ रही थी, "कहाँ गई थी बेटा ? गीध ने तुझे कहाँ से उठा लिया था ?" कट्टो की आँखों से आँसू बहने लगे।

माँ की गोद में मुँह डालकर उसने कहा, "माँ..."

'नरू का निर्णय'

— शेखर जोशी

मध्यान्ह में कालेज से घर लौट कर देखा, मेज़ पर दो निमंत्रण-पत्र मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बेल-बूटों से चित्रित मुखपृष्ठ को उलट कर, अस्पष्ट टेढ़े-मेढ़े हस्तलिखित शब्दों की गुत्थी को सुलझा पाने पर ही अनुमान लगा पाया कि आज सायंकाल ही दो युवा-हृदय परिणयसूत्र में बंध जायेंगे। आग्रहपूर्ण शब्दों के भार से बोझिल पंक्तियों को पढ़ कर असमंजस में पड़ गया। वरपक्ष तथा वधूपक्ष दोनों का ही आग्रह अपनी-अपनी ओर से इस शुभ-अवसर पर सम्मिलित होने का था।

वरपक्ष का सब से अधिक जिम्मेवार व्यक्ति नरू ही था। दो बार पुकार चुकने पर भी व्यस्तता के कारण वह मेरी आवाज न सुन पाया था। या सुन कर भी अनसुनी कर गया था। तीसरी बार पुकारने पर मुझे उपेक्षित नहीं होना पड़ा। मेरे हाथों में अपने द्वारा टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखे गये निमंत्रण पत्र को देख कर सकुचाता हुआ सा वह विवाह की तैयारियों का विस्तृत ब्यौरा देने लगा। निमंत्रण-पत्र को देख कर ही जैसे नरू संकोच में गड़ा जा रहा हो इसी कारण मुझ से दो बार कह ही गया कि समय की कमी के कारण निमंत्रण-पत्र तक भी अच्छे नहीं बनवाये जा सके।

यह विवाह अकस्मात ही तय हो गया था। इतना शीघ्र कि ग्रहकुंडली अथवा जन्मपत्र देखने की नौबत तक न आई। इसका यह आशय कदापि नहीं कि पिछली चांदनी रात में वर राजा ने कन्या से प्रेम निवेदन किया होगा या कन्या ही अचानक उन पर मोहित हो गई होगी। वास्तव में वर वधू भी दोनों एक दूसरे से अपरिचित ही थे कभी स्कूल या कालेज में भी एक साथ नहीं पढ़े थे और न कभी सड़क पर आते जाते साइकिल एक्सीडेन्ट ही उनके मिलन का कारण बना था।

इसे संयोग ही कहेंगे कि लखनऊ और अजमेर जैसे दूर दूर शहरों में रहने वाले दो परिवारों का मिलन ही एक । विवाहोत्सव का कारण बन बैठा। भैया के विवाह के अवसर पर सभी कमरे मेहमानों से भर गये तो घर के तथा बाहर से आये हुए बच्चों ने "बरसाती" में अपनी चौपाल जमाना प्रारम्भ कर दिया। वहीं जया और निम्मां का परिचय बढ़ा और जया को ज्ञात हुआ कि निम्मां का गुड्डा कालेज में पढ़ रहा है; हाकी फुटबाल खेलने में उसकी सानी का कोई नहीं। सौम्य-सुन्दर है, बीड़ी-सिगरेट तो दूर, चाय तक नहीं पीता। और वहीं निम्मां को ज्ञात हुआ कि जया की गुड़िया अभी स्कूल में ही पढ़ रही है। खाना बनाने व कढ़ाई-बुनाई में प्रवीण है, गाने-बजाने में तो दो-तीन बार इनाम भी पा चुकी है। जया ने यह भी बता दिया कि उसकी गुड़िया डाक्टरी पढ़ना चाहती है और तभी निम्मां ने भी यह बता देना जरूरी समझा कि उसका गुड्डा अंग्रेजी की सब से बड़ी क्लास पास कर के वकील बनेगा।

दोनों ने ही मां-चाची के अनुकरण पर घर गृहस्थी की तकलीफें सुनाईं, खर्चे-पानी का, बाजार की ऊंची कीमतों का रोना रोया और वहीं यह निश्चय हुआ कि निम्मां का गुड्डा और जया की गुड़िया को शीघ्र परिणय सूत्र में बांध दिया जाय।

जल्दी जल्दी में भला क्या हो सकता था ? दूर के रिश्तेदारों की कौन कहे, निकट सम्बन्धियों को ही विवाह की सूचना नहीं दी जा सकी। जया इस विवाह के कारण अत्यधिक परेशान थी। सारी रात वह सामान जुटाती रही। यों चिन्ता तो निम्मां को भी थी। पर इतनी नहीं क्योंकि, उसे शादी-ब्याह जैसे कामकाज का कुछ अनुभव हो चुका था। पिछले साल ही उसके बड़े गुड्डे की शादी हो कर चुकी थी। निम्मां को केवल यही चिन्ता थी कि बड़े गुड्डे की ससुराल वालों को इस विवाह की सूचना तक नहीं दी जा सकी थी। इतने निकट सम्बन्धी होने पर भी वे नहीं बुलाये जा सके थे। निम्मां सोच रही थी कि वापिस अजमेर जाने पर मंजु जरूर ही इस बात पर नाराज होगी कि गुड़िया वालों के घर के कामकाज हुआ और उसे कानों कान खबर तक न हुई

मंजु के लिये निम्मां के दिल में गहरा प्यार है। बड़े गुड्डे की शादी

में उसने दहेज के साथ जो चमकीला नेकलेस दिया था उसके कारण कारण वह निम्मां के अधिक निकट आ गई थी।

घर के सभी सदस्यों को दोनों ओर से न केवल निमंत्रण-पत्र दिये गये थे वरन् व्यक्तिगत रूप में किसी से अगवानी में, किसी से गीतों में और किसी से भोज में शामिल होने का भी अनुरोध किया गया था। बच्चों की टोली तो जैसे इस विवाह की सूचना पाकर झूम उठी थी। कामकाज में कोई जया का हाथ बटा रहा था तो कोई निम्मां का। निम्मां की इच्छा थी कि परदेश में उसके गुड्डे की बारात में बाराती इतने कम भी न हो जायं कि उसे अजमेर जाकर मंजु के आगे शर्मिन्दा होना पड़े और इतने ज्यादा भी न हों कि कन्या-पक्ष के रसोई-चौके में ही कोर कसर रह जाय। उसे फिर पिछली बार बड़े गुड्डे के ब्याह की याद हो आई जब मुहल्ले के सभी हमजोली बारात में शामिल हो गये थे और मंजु ने अगवानी के बाद खिसिया कर उसे बताया था कि बारातियों को खिलाने पिलाने के लिये वह मां से केवल दस लड्डू ले पाई है।

मंजु द्वारा दिये गये उपहारों की बात निम्मां से बार-बार सुन कर जया को मंजु के प्रति अनजाने ही ईर्ष्या सी होने लगी थी। जया का अनुमान था कि घर के अन्य सदस्य भी निमंत्रण-पत्र पाकर उसकी गुड़िया के लिये उपहार आदि भेज देंगे और फिर निम्मां को बार-बार मंजु का दहेज याद न आयेगा।

परन्तु मौखिक और लिखित निमंत्रण पत्र देने पर भी घर के सयाने-सयाने उस समारोह में उपस्थित न हो सके। दो दिन पूर्व ही भैया की बारात लौटी थी। महीने भर की दौड़धूप के बाद अब कहीं सांस लेने को फुर्सत मिली तो पुष्प-वर्ग हिसाब-किताब, लेन-देन की रही सही झंझटें निपटाने में लग गया और स्त्रियाँ, भाभी के सम्मुख ही उनके पीहर से मिले हुए दहेज-टीके के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करने का अवसर पा गई थीं। बरसाती में होने वाले विवाह की जैसे इन लोगों को चिन्ता ही न थी।

नियत समय पर कन्या-पक्ष वालों के मंडप के सामने निम्मां के गुड्डे की बारात आ पहुँची। जया की घबराहट बढ़ गई। उसने स्वप्न में भी यह न सोचा था कि जो हमजोली अभी तक काम में उसका हाथ बटा रहे

थे अब बराती बनने का लोभ न सम्हाल सकने के कारण अचानक ही इस प्रकार विमुख होकर वरपक्ष वालों में मिल जायेंगे। सचमुच ही उसकी आँखों में आँसू भर आये और यदि स्वयं निम्मो ने आकर उसे सम्हाल न लिया होता तो स्थिति बिगड़ जाती। निम्मो का सहारा मिल जाने पर जया ने दुःखी स्वर में उसे यह भी बता दिया कि गुड़िया के गहने लखनऊ में ही रह जाने के कारण वह दुल्हन को सजा न सकी। इन शब्दों में दुःख, विवशता, याचना सभी कुछ था और एक अस्पष्ट संकेत यह भी था कि मंजु वाला चमकीला नेकलेस वह दुल्हन के लिये दे दे ताकि बारातियों के सामने दुल्हन तथा स्वयं उसकी मान-मर्यादा फीकी न पड़े।

विवाह-संस्कार सम्पन्न कराने के लिये नरू को ही पुरोहित बनाया गया था। नरू को यह सम्मानित पद यों ही नहीं प्राप्त हो गया। उसके भी प्रतिद्वन्द्वी थे जिन्हें पुरोहितपद से दक्षिणा प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा थी। लेकिन नरू दो दिन पूर्व ही भैया की बारात में शामिल होकर गया था और इसीलिये निम्मो और जया को विश्वास हो गया था कि अपने अनुभव के कारण वही इस पद के लिये उपयुक्त होगा।

नरू ने विवाह-संस्कार कराने में कोई कोर कसर न रखी। प्रत्येक विधि को उसने पूरे मनोयोग से सम्पन्न कराया। यथासंभव संस्कृत के मंत्र-पाठ सा ही उच्चारण वह करता रहा परन्तु जब स्मृति उसका साथ दे पाने में असमर्थ हो गई तो उसने उसी गति से 'ट्विन्कल ट्विन्कल लिटिल स्टार, हाउ आइ वँडर व्हाट यू आर' इत्यादि को भी संस्कृत के मंत्र-पाठ का ही रूप दे दिया। बारातियों पर तो उसके पांडित्य की छाप पड़ ही चुकी थी। शास्त्रार्थ करने का साहस किसी में न हुआ।

विवाह जब निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो गया और बारात वापिस लौटने लगी तो दुलहन का रूप देखते ही बनता था। निम्मो ने उसे सजाने सँवारने के लिये न केवल चमकीला नेकलेस वरन् कुछ रेशमी वस्त्र भी दे दिये थे। घराती-बराती इस विवाह से पूर्ण संतुष्ट थे। जया की गुड़िया एक आध दिन अपनी ससुराल निम्मो के पास रह कर वापिस जया के पास आ गई थी।

गुड़िया के पास आभूषणों के नाम पर केवल मंजु वाला चमकीला नेकलस ही था! जया को यह अच्छा नहीं लगा कि उस नाममात्र के आभू-

षण को भी उसके शरीर से उतार कर उसे श्रीहीन कर दिया जाय, इसलिये निम्मी का चमकीला नेकलेस जया के पास ही रह गया।

शादी विवाह जैसे शुभ कार्य के तत्काल पश्चात् ही घरेलू वातावरण में कटुता उत्पन्न हो जाने की कल्पना तक नहीं की जा सकती और ऐसा अच्छा भी नहीं लगता। परन्तु दुर्भाग्यवश उस दिन घर में यही सब कुछ हो-हल्ला हुआ जिसके कारण सारे घर में एक अजीब मुर्दनी सी छा गई।

मध्यम वर्गीय परिवारों में लेन-देन, उधार-बदले का जो रिवाज चलता रहता है वही अल्प आय वाले इस घर में भी हुआ था। यद्यपि पिता जी अपना समस्त संचय-धन भैया के इस विवाह में लगा चुके थे परन्तु तो भी सब कुछ अत्यन्त साधारण सा ही हुआ था। नवागता वधू के केवल हाथ कान के जेवर और अंगूठी इत्यादि साधारण आभूषण ही बन पाये थे। कोई कंठाभूषण न होने के कारण पिता जी चिन्तित थे और भैया भी अपनी अल्प आय में से इस मुख्य आभूषण की कमी को पूरा कर पाने में असमर्थ थे। अन्ततः यही तय हुआ कि फिलहाल काम चलाने के लिये किसी सगे-सम्बन्धी का कंठहार लेकर यह कमी पूरी कर ली जाय और भविष्य में जब कभी संभव होगा तो भाभी के लिये कंठहार बनवा दिया जायगा। यह सुझाव दीदी को भी अच्छा लगा और उन्होंने अपना कंठहार निकाल कर वधू के आभूषणों के साथ रख दिया।

विवाह के समय अथवा तत्पश्चात् कन्या-पक्ष वालों को यह बताना आवश्यक नहीं समझा गया कि कंठहार वधू की सम्पत्ति होने जा रही है अथवा केवल इस अवसर पर दिखाने भर के लिये ही यह लिया गया है।

नववधू की स्वाभाविक कल्पनाओं के अनुसार भाभी ने भी दहेज और उपहारों की कोई कल्पना की होगी अथवा नहीं परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि अन्य सभी आभूषणों की अपेक्षा केवल कंठहार को देख कर ही उन्हें कुछ संतोष हुआ होगा। माँ, जीजी इत्यादि ने भी इतना शीघ्र कंठहार के सम्बन्ध में बता देना उचित न समझा और कंठहार भाभी के पास ही रहने दिया गया।

काम-काज की समाप्ति पर धीरे धीरे सभी सगे-सम्बन्धियों का अपने अपने स्थानों के लिये प्रस्थान भी प्रारम्भ हो गया था। एक दिन जीजी भी सपरिवार जाने की तैयारियाँ करने लगीं, लज्जा और संकोच के मिले जुले

स्वर में उन्हें भैया को बताना ही पड़ा कि भाभी से कंठहार लाकर उन्हें दे दिया जाय।

वही हुआ, जिसकी भैया, जीजी या स्वयं पिता जी ने कल्पना की होगी। भाभी को यह जान कर निश्चय ही गहरा धक्का लगा होगा कि वह साधारण हार भी उनका नहीं है, घूँघट में ही मुँह छिपाकर वे सिसकने लगीं। कोई अन्य कारण होता तो सभी अपनी अपनी सहानुभूति जताते और उन्हें सान्त्वना देते परन्तु ऐसे समय में कौन क्या कहता? सभी अपराधियों की भाँति लज्जित से मौन थे।

भाभी ने जेवरदान की कुंजी जीजी के आगे बढ़ा दी थी परन्तु जीजी में इतना साहस न हुआ कि सिसकती भाभी के सामने ही उनका जेवरदान खोल कर कंठहार निकाल लें। जीजी, जो आभूषण जुटाने के दिन अपनी सूझ-बूझ पर गर्वित थीं आज उसी सूझ-बूझ पर पछता रही थीं।

कमरे में व्याप्त इस मौन को तोड़ने का साहस किसी में भी न होरहा था। यह उदासी जैसे सभी का मुँह अपने पंजे में दबाये बैठी थी। सहसा कमरे की निस्तब्धता भंग हो गई—बच्चों के लड़ने झगड़ने की आवाज़ ने कमरे में जान डाल दी। निम्मां, जया, नन्नू, चन्नू तथा अन्य दो तीन बच्चे लड़ते झगड़ते वहाँ घुस आये थे।

लौट कर आने वाले परिवारों में से एक परिवार की सदस्या निम्मां भी थी। आज अपने खेल-खिलौनों को ट्रंक में सम्हालते हुए उसे मंजु वाले चमकीले नेकलेस की याद हो आई थी।

नेकलेस के अभाव में गुड़िया के श्रीहीन हो जाने के डर से अब जया की इच्छा उसे निम्मां को देने की नहीं थी। यों उसकी दलील भी ठीक ही थी कि नेकलेस दहेज में दे दिया गया है और निम्मां को उसे वापिस लेने का कोई अधिकार नहीं है।

बच्चे जब आपस में लड़-झगड़ कर किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये तो उन्होंने इस झगड़े का अधिकार बड़ों को ही देना उचित समझा।

कमरे में प्रवेश करते ही निम्मां और जया ने सम्मिलित स्वर में नेकलेस की सम्पूर्ण कहानी सुनाना प्रारम्भ कर दी। पिता जी, मां, जीजी,

भैया सभी इस बात की प्रतीक्षा में थे कि किसी प्रकार कमरे में फैली हुई उदासी भंग हो जाय इसी कारण उन्होंने जया निम्मी द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण में कोई बाधा नहीं डाली। परन्तु जब निर्णय देने का समय आया तो सभी एक दूसरे का मुँह देखने लगे। इसी समस्या का निर्णय तो उन्हें भी चाहिये था।

बात टालने के आशय से भैया ने बच्चों को झिड़क कर बाहर चले जाने की धमकी दी। परन्तु वे लोग लड़ने झगड़ने में इतने व्यस्त थे कि किसी ने उनकी बात पर ध्यान ही नहीं दिया। बड़े लोगों से न्याय पा जाने की आशा से उन्हें वंचित होना पड़ा था इस कारण वे लोग फिर आपस में झगड़ने लगे।

माँ, जीजी और पिताजी उदास से उन बच्चों को निहार रहे थे, शायद बच्चों के प्रति सीधे-साधे तर्कों को सुन कर ही कभी कभी पिता जी के चेहरे पर कुछ चमक सी आ जाती थी। भाभी भी घूँघट की ओट से एक-टक बच्चों को देख रही थी।

न जाने क्या हुआ कि नरू को जया और निम्मा के तर्कों में कोई सार नहीं दिखाई दिया। अपने दोनों नन्हें नन्हें हाथों को कमर में टिका कर धीरे गम्भीर स्वर में उसने उन दोनों से शान्त हो जाने की अपील की और फिर ज्यों कुशल न्यायाधीश अपना अन्तिम निर्णय देता है उसने अपने स्वर में पूरा विश्वास भर कर आदेश दिया, "जया! निम्मी का नेकलेस लौटा दो। गुड्डे में हिम्मत होगी तो वह अपनी गुड़िया के लिये एक नहीं दो दो नेकलेस ले आयेगा।"

जया पर इस बात का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह अपनी गुड़िया के स्वामी को सबके सम्मुख अपमानित होते न देख सकी और शायद यही बताने के लिये कि उसकी गुड़िया के गुड्डे में दो दो नेकलेस ले आने की हिम्मत है उसने चुपचाप वह चमकीला नेकलेस निम्मी के हाथों में रख दिया।

नरू के इस तर्क की उपेक्षा भाभी भी न कर सकीं, नीची नज़रों से उन्होंने भैया की ओर देखा, अधरों पर हल्की सी मुस्कान लाकर आगे बढ़ी और जेवरदान खोल कर कंठहार जीजी के हाथों में रख दिया।

झुकी गर्दनवाला ऊंट

अजितकुमार

हमारे घर में न जाने कब से एक छोटा सा ऊंट था, पीतल का। टेढ़ी-मेढ़ी टांगों के सहारे वह एक नन्हे-से स्टैंड पर खड़ा था। गुद्दी और झुकी हुई गरदन कुछ ऐसी थी कि बचपन में हम कभी-कभी उसे बगुला समझ बैठते थे। कुछ दिनों वह बगुला रहता...और हमें बड़ा अचरज हुआ करता कि बगुला है तो इसका वह तालाब कहां है, जिसके किनारे खड़े होकर यह मछलियों का शिकार करता होगा।...थोड़े दिनों बाद मानों जादू के जोर से, वह फिर ऊंट हो जाता और जब कभी हम सचमुच का ऊंट देखते तो अपने इस पीतल के ऊंट की सुघरता पर फूले न समाते।

...धीरे-धीरे वह उम्र आई कि हम जान गए कि यह छोटा सा खूबसूरत जानवर सिर्फ ऊंट ही है—न सारस है और न बगुला। तबसे वह ऊंट हमारी निगाह में सदा के लिए सिर्फ ऊंट होकर रह गया। धीरे-धीरे हमारी दिलचस्पी उसमें कम होती गई। हम दूसरी अनेक बातों को याद रखते-करते उसे लगभग भूल से गए।

सच है कि वह पीतल का छोटा सा ऊंट बाहर के उस कमरे में बहुत दिनों तक रखा रहा, जिसे हमने अब 'ड्राइंगरूम' कहना सीखा था। यह भी सच है कि शुरू-शुरू में यह मेज़ पर रहता था कि कमरे की शोभा बढ़ा सके। इतना ही नहीं, हम छोटे से थे और एक नुमाइश देखने गए थे तो हमने काले गटापारचे का हाथी खरीदने की ज़िद सिर्फ इसीलिए की थी कि जब हमारे पास ऊंट है तो हाथी ही क्यों न हो! आज भी याद है कि हमने किसी दिन, न जाने क्यों हाथी का काला गटापारचा फाड़ डाला था और उसके भीतर सफेद खड़िया भरी पाई थी।

फिर पीतल के ऊंट की चमक कम पड़ गई और बाहर के कमरे की योजना में न जाने क्या परिवर्तन आया कि ऊंट को एक कोने में रख दिया

गया। कोने से उठकर किस दिन वह अँधेरी कोठरी में रखी अंगड़-खंगड़ की पुरानी संदूकची में आ गया, यह इतिहास किसी खास महत्व का नहीं है। कितने दिन बेचारा ऊँट संदूकची में पड़ा रहा, यह जानने की भी कोई विशेष उत्सुकता नहीं होती। जरूर कई साल बीते होंगे।

इस बीच जिन्दगी कभी तेज़ और कभी धीमी रफ्तार से चलती रही। हमारी उम्र बढ़ती गई, हम बड़े होते गए! यहां से वहां, और वहां से कहीं और—पढ़ने जाते रहे। बहुत घूमे, बहुत लोगों से मिले। बहुत तरह की बातें हमने सीखीं। हममें कितना परिवर्तन आ गया : यह तो अब सोचने पर जान पड़ता है। उस समय, किन्तु हम मानो हवा के पंखों पर उड़ते थे। आगे बढ़ते थे और बढ़ते ही चले जाते थे।

...एक बार हम अपने घर को लौटे।...सब कुछ पहले जैसा ही था पर कितना कुछ बदल चुका था! सबसे अधिक तो हमीं बदले थे। हमने देखा कि घर वही है पर कितना पुराना जैसा दिखता है। लोग वही हैं पर कितने अजनबी से जान पड़ते हैं, घर वाले कितनी तेजी से बुड्ढे होते जा रहे हैं, ड्राइंग-रूम कैसा फीका-फीका सा है। दोस्त आएँगे तो क्या सोचेंगे!

हमने निश्चय किया कि घर को साफ-सुथरा बनाएँगे, बाहर के कमरे को सजा देंगे। कुर्सियों की बेंत उधड़ गई थी हमने बिनने वाले से कहा कि उन्हें ठीक कर दे। कुर्सियां न जाने कब से प्रयोग में आते-आते मैली पड़ गयी थीं—हमने छोटी बहन से कह कर कपड़े के खोल सिलवाए। कुर्सियों की पीठ पर खोल पहनाए गए। सभी को बड़े खूबसूरत लगे।... पर इतने से संतोष कैसे होता! पेपरवेट जरूर होने चाहिए। न जाने कब किस चीज़ की तलाश में हमने पुरानी टीन की संदूकची उल्टी-पलटी!

संदूकची में पीतल का ऊँट पड़ा मिल गया। मैला हो गया था। फिर भी हमने उसे निकाला। ऊँट हमें कुछ जँचा नहीं, पर छोटे भाई ने याद दिलाया-'दादा, ब्रासो ले आएँ, घर में है।' हमने बिना किसी उत्साह के कह दिया, 'लाओ, देखें सही।'

पालिश के दो हाथ लगते ही जान पड़ा कि ऊँट में जान आ गई। रंग निखर आया, चमक सी आ गई। हमने रगड़-रगड़ कर उसे

साफ किया तो ऊँट की शकल ही बदल गई। पीलापन मिट गया और ऐसा जान पड़ा कि नया न सही, कुछ बहुत पुराना भी नहीं है।

चमकाए गए ऊँट को लाकर पहले मेज के बीचोंबीच और फिर एक कोने में हमने रखा। नजदीक और दूर से उसे देखा और फिर—'चलो, कुछ भी न होने से तो गनीमत है',—कह कर संतोष की साँस भरी!

इस बार हम कुछ दिन घर में रहे तो कुछ न कुछ संवारते ही रहे! जिस दिन घर से जाने लगे तो मन में भाव था कि देखो हमारे आने से घर कैसा व्यवस्थित हो गया।

...जिन्दगी का चक्कर फिर चला। हमने पढ़ाई खत्म की। तरह तरह के लोगों से मिले। तरह-तरह की दुनिया में रहे। अब जादू का प्रभाव पहले जैसा न था। सपना (जो हमने देखा था) धीरे-धीरे टूट रहा था। जिंदगी, जिसने हमें लुभाया था, अब डरा रही थी! कौन जानता है?—शायद इस बीच कभी हमने सोचा हो कि पीतल के ऊँट का भाग्य अच्छा रहा! जैसा वह पहले था, वैसा ही अब भी है। न बढ़ा न घटा। हम तो कितना बढ़ गए, कितना ही आगे बढ़ गए और अब घट रहे हैं। पीछे... और पीछे को हटते ही जा रहे हैं। कौन जानता है—? शायद हमने ऐसा कभी सोचा ही हो!

सोचा भी हो तो हमें याद नहीं आता। शायद हमने ऐसा कभी नहीं सोचा। बल्कि हम जिन्दगी से चिपटे रहे और भाटे को ज्वार बना की कोशिश भरसक कर गए।

हार कर एक दिन हम घर आ गए। घर फिर से अव्यवस्थित हो चुका था। लोग पुराने हो चले थे। अब हमें खुद अपने में नवीनता नहीं जान पड़ती थी। कुर्सियाँ टूट कर बनी थीं और फिर टूट चली थीं। हर चीज पर धूल सरीखी जमी थी और हमारी जिन्दगी पर भी बेकारी की धूल थी। हमें किसी बात में दिलचस्पी न थी, खुद अपने में भी नहीं।

लेकिन हमें एक दिन नौकरी मिल गई। हमें अपने कस्बे में ही नौकरी मिल गई। यह एक लहर जैसी थी। पर हमको लगा कि जिन्दगी में जो जंग लग गई है, उसे यह लहर कहीं और अधिक बढ़ा न दे। हम यों ही बेकार थे—डर लगा कि नौकरी लगाने पर कहीं और भी न हो जायँ।

प्रतिदिन पुराने होते जाते परिवार के लोगों के बीच में रह कर हमें यही सब बातें सोचने के लिए शेष थीं। सुबह दस से शाम के पांच बजे तक दफ़्तर में फाइलों को उलटते और शेष समय में बीती हुई ज़िन्दगी को। हम बीती हुई जिन्दगी में जीवित थे। भविष्य का हमारे लिए अस्तित्व न था और वर्तमान; बस निर्जीव था। हम ज़िन्दगी नहीं, ज़िन्दगी की लाश ढो रहे थे।

लेकिन बनाने-संवारने की वृत्ति हममें अब भी शेष थी। क्या जाने यह कैसा संस्कार था! इस लिए एक दिन जब हम दफ्तर में अफ़सर की डांट खा कर लौटे तो झुँझलाकर हमने दीवार पर टंगे पुराने कैलेंडर को फाड़ फेंका। पांच साल से यही कैलेंडर लटकाए हैं! शरम भी नहीं आती किसी को!

कैलेंडर तो जमीन पर गिर गया पर हम कुछ अचम्भे में आ गए। कैलेंडर के नीचे एक ताख था और उस पर धूल से लदा-फँदा ऊँट खड़ा था।

... जाने कैसी भावुकता हम पर छा गई! मन ही मन हम सोचने लगे कि कितनी मंजिल तय की है इस बेचारे ने! कैसी थकान छाई है इस पर। कितना लंबा समय और कैसा दूर का पथ पार करना पड़ा है इसे! और अब देखो: धूल से लदा-फँदा खड़ा है: क्लांत, शिथिल, मौन, निर्जीव सरीखा! बेचारा ऊँट! पीतल का ऊँट?

जिन्दगी की इस लंबी भाग-दौड़ में लगातार यह ऊंट हमारे साथ रहा है। जब हम बच्चे थे तो यह हमारे साथ खेलता था, जब हम बड़े हुए तो हमने इसे बार-बार पालिश लगा कर चमकाया था और अब...अब हमारे ही साथ यह खड़ा है धूल से लदा-फंदा! जाने किस बोझ से इसकी गर्दन झुक गई है।

उस ऊंट को हमने ताख से उठाया। धूल झाड़ी। गर्द पोंछी। उससे कहना चाहा कि हमने कभी भी उसे नहीं भुलाया। हम हरदम उसके साथ रहे हैं। हमें ऊंट पर बड़ी ममता जागी। हमें ऊंट बड़ा प्यारा दिखाई दिया। हमने गौर से देखा तो उसकी झुकी हुई गरदन और भी झुकी हुई जान पड़ी।

क्या जाने किस बोझ से बेचारे ऊँट की गरदन इतनी झुक गई है!

हममें एक विचित्र सा उत्साह जागा। नहीं, नहीं। गरदन झुकने की क्या बात है। हम तो साथ हैं। साथ-साथ चलने वाले हम सब सिर ऊपर उठा कर चलेंगे। कौन रोक सकता है, हमें किसी का भी भय नहीं है।...

सोचा कि ऊँट की गरदन कुछ ऊपर उठा दें। उठी हुई गरदन वाला ऊँट हमारा साथी है। हमने हल्का सा ज़ोर लगाया...गरदन कुछ सीधी हुई...हमने कुछ ज़ोर और लगाया ..ऊँट की लम्बी गरदन बीच से टूट गई।...

हम अचानक घबरा गए। हमने शीघ्रता से इधर-उधर ताका। किसी ने देख तो नहीं लिया कि हमने ऊँट को तोड़ डाला है? नहीं, किसी ने नहीं देखा।...

मन विषाद से भर आया। देखो, हमने ऊँट की गरदन ही तोड़ डाली। कैसे हैं हम कि बनाने की कोशिश में सभी कुछ बिगाड़ बैठे। हम क्षोभ के मारे अकुला उठे।

शिथिल चरणों से कुछ देर कमरे में टहलने रहे। एक मुट्ठी में ऊँट की टूटी हुई झुकी गरदन और दूसरी में टेढ़ी-मेढ़ी टाँगें, ऊँचे कूबड़ और उठी हुई आधी गरदन वाला हिस्सा!...हम मेज़ के नज़दीक आए। ऊँट को हमने मेज़ पर खड़ा कर दिया। हमको उस क्षण जान पड़ा कि यह तो वह ढोंगी बगुला है जो रोज़ तालाब की मछलियों को खा जाता था लेकिन एक दिन एक केंकड़े ने उसकी चालबाज़ी जान ली और बगुले की गरदन ही काट डाली। यह गरदन कटा हुआ बगुला ही तो यहाँ खड़ा है।

ऊँट की उठी हुई ऊँची गरदन अजब सी जान पड़ती थी। ग्रीवा उठाए हुए ऊँट किसे खोज रहा था? गरदन का झुका और वक्राकार दूसरा हिस्सा मेरी मुट्ठी में था। धीरे से हमने उसे उठी हुई ऊँची ग्रीवा में लटका दिया। यह अजब दृश्य था। उठे हुए ऊँचे गले में झुकी हुई टूटी गरदन झूल रही थी—धीरे, धीरे, धीरे। ऐसा लगता था मानो गरदन में सुरीली घंटियों को लटकाए हुए कोई ऊँट सुदूर रेगिस्तानों को पार करता हुआ आया है और अभी न जाने किन-किन देशों तक जायेगा। सारे रेगिस्तान पथ को उसने सुरीली घंटी के माधुर्य से गुंजित कर दिया और अब आने वाले रास्तों पर उसकी घंटियाँ सफल यात्रा के जयघोषों से भर कर

और भी सुरीली हो जायँगी। धूल से लथ-पथ, क्लान्त और उदास ऊँट की गरदन टूट गई। अविराम गति से आगे बढ़ते रहने वाले ऊँट की गरदन में एक और जयमाला पड़ी जो आने वाले हर सुनसान को अपनी सुगन्धि से भर देगी।...उठी हुई ग्रीवा की खोज सार्थक हो गई।

टेढ़े-मेढ़े, किन्तु अडिग पैरों पर खड़ा ऊँट अपने गले में खुद अपनी ही टूटी गरदन डाले था। झुकी हुई गरदन झूल रही थी, धीरे,धीरे,धीरे। आगे बढ़ते हुए कारवाँ की घंटियों का संगीत मेरे प्राणों में भरता जा रहा था। मैं ऊँट को अपलक देखता ही जाता था।...

घर के भीतर शाम झुक आई थी। सब लोग चुप और अपने कामों में व्यस्त थे। हमने जाकर रोशनी जलाई। पूछा कि चाय बन गई या नहीं? आज सब लोग एक साथ बैठ कर चाय पियेंगे।...हमने सबको एक कहानी सुनाई कि कैसे एक बच्चा था जिसने अपने प्यारे साथी को खो दिया था। बड़े होने पर एक दिन अचानक ही वह अपने बिछड़े हुए साथी को पा गया। अँधियारे में भटकती हुई ज़िंदगी को जैसे उजाला मिल गया।...

सब लोग दंग थे कि आज हम कैसे बदले-बदले से हैं। हम बहुत खुश थे। बाकी लोग भी किस कदर खुश थे।

आर्द्रा

मोहन राकेश

बचन को थोड़ी ऊँघ आ गयी थी पर खटका सुन कर वह चौंक गयी। इरावती ड्योढ़ी का दरवाजा खोल रही थी। चपड़ासी गणेशन आ गया था। इसका मतलब था कि आठ बज चुके होंगे। बचन के शरीर में ऊब और झुंझलाहट की झुरझुरी भर गयी। बिन्नी न रात को घर आया था और न सुबह से अब तक उसने दर्शन दिये थे। इस लड़के की वजह से वह यहाँ परदेस में पड़ी हुई थी जहाँ न कोई उसकी ज़बान समझता था और न वह किसी की ज़बान समझती थी। एक इरावती थी जिससे वह टूटी फूटी हिन्दी बोल लेती थी, हालाँकि उसकी पंजाबी हिन्दी और इरावती की कोंकणी हिन्दी में जमीन आसमान का अन्तर रहता था। कभी इरावती भी उसकी सीधे-सादे शब्दों में कही हुई साधारण सी बात को नहीं समझ पाती तो वह बुरी तरह अपनी विवशता के खेद से दब जाती थी। और इस लड़के को जरा चिन्ता नहीं रहती थी कि माँ किस मुश्किल से दिन काटती है और किस बेसब्री से मेरी इंतज़ार करती है। आये तो घर आ गये, नहीं तो जहाँ हुआ पड़ रहे! ऐसे ही करना था तो माँ को पास बुलाने की क्या जरूरत थी?

एक मादा सूअर अपने छः बच्चों के साथ, जो अभी नौ-नौ इंच से अधिक ऊँचे नहीं हुए थे, कुएँ की तरफ से आ रही थी। तूत के बुड्ढे पेड़ के पास पहुँच कर उसने हुँफ्-हुँफ् करते हुए दो एक बार नाली को सूँघा और फिर पेड़ के नीचे कीचड़ में लोटने लगी। उसके नन्हें आत्मज उसके उठने की राह देखते हुए वहीं आसपास मँडराने लगे।

दिन भर गली में यही सिलसिला चलता था। आसपास सभी घरों के लोगों ने सूअर पाल रखे थे। बस्ती के लोगों के दो ही धंधे थे—सूअर पालना और नाजायज शराब बनाना। ये दोनों ही चीज़ें उनके दैनिक आहार में

शामिल थीं। बस्ती, सैंटाक्रुज़ के हवाई अड्डे से सिर्फ आधा मील के फ़ासले पर थी, पर पुलीस की आँख वहाँ नहीं पहुँचती थी। मोनिका का बाप गली में ही भट्ठी लगाता था। वह गली का सबसे बड़ा पियक्कड़ भी था और अक्सर पी कर गली में गाता हुआ चक्कर लगाया करता था—ओ दैट आई हैड विंग्ज़ आफ़ एंजल्स, हियर टु स्प्रेड एंड हैवनवर्ड फ़्लाऽऽइ...

उस समय भी वह रोज की तरह कुएँ के मोड़ के पास से लड़खड़ाता हुआ आ रहा था। उसके शब्द बचन की समझ के बाहर थे, परन्तु उसका स्वर उसके हृदय में दहशत पैदा करने के लिए काफी था—ओ दैट आई हैड, विंग्ज़ आफ एंजल्स, हियर टु स्प्रेड एंड हैवनवर्ड फ्लाऽऽइ। आई वुड सीक द, गेट्स आफ सायन, फार बियांड द स्टारी स्काऽऽइ...होइ-हो! हो-हो-हो! हो!...ओ दैट आई हैड, विंग्ज़ आफ़ एंजल्स,...

उसका चौड़ा चौकोर चेहरा वैसे ही भयानक था, फिर वह अपने ढीले-ढाले काले सूट में और भी भयंकर दिखायी देता था। उसका चेचक के दाग़ों और झुर्रियों से भरा चेहरा दीमक खायी लकड़ी की याद दिलाता था। दूर से ही उस आदमी की आवाज़ सुन कर बचन का दिल धड़कने लगता था और वह अपना दरवाज़ा बंद कर लेती थी। उसने कितनी बार बिन्नी से कहा था कि वह उस बस्ती से मकान बदल ले, पर वह हर बार यह कह कर टाल देता था कि बंबई की और किसी बस्ती में बीस रुपये महीने में इतना अच्छा मकान नहीं मिल सकता। बचन डर के मारे बिन्नी के आने तक लालटेन की लौ भी ज्यादा ऊँची नहीं करती थी। अँधेरा उसे बोझिल प्रतीत होता था पर वह मन मारे चुप बैठी रहती थी।

लालटेन की चिमनी नीचे से आधी काली हो रही थी। बचन में उसे साफ करने का उत्साह नहीं था। अँधेरा होने लगा तो उसने फ़र्ज़ पूरा करने के लिये उसे जला दिया और अज्ञात देवता के आगे हाथ जोड़ने की प्रक्रिया पूरी करके घुटनों पर बाहें रख कर बैठ रही। सामने मोढ़े के नीचे लाली का कार्ड रखा था। वह लाली के अक्षरों की बनावट जानती थी पर हज़ार आँखें गड़ा कर भी वह उनका अर्थ नहीं जान सकती थी। कार्ड आये छः आठ घंटे हो गये थे। बिन्नी के सिवा वहाँ हिन्दी का कार्ड पढ़ने वाला और कोई नहीं था। वैसे बिन्नी से कार्ड पढ़वा कर उसे सुख नहीं मिलता था। वह लाली की चिट्ठी इस तरह पढ़ता था जैसे वह उसके कहे

भाई की चिट्ठी न होकर गली के किसी गैर आदमी के नाम आयी किसी नावाकिफ़ आदमी की चिट्ठी हो। दो मिनिट में वह पहली सतर से लेकर आखिरी सतर तक सारी चिट्ठी बाँच देता था और फिर उसे कोने में फेंक कर इधर-उधर की हाँकने लगता था। उसकी चिट्ठी सुन कर वह हमेशा क्रुद्ध जाती थी और कहती थी कि आगे से कभी वह उससे चिट्ठी नहीं पढ़वाएगी। मगर परदेश में और कोई चारा भी नहीं था और बिन्नी उसे नाराज देखता था तो चार बातें बना कर खुश कर लिया करता था।

उसे खुश होते देर नहीं लगती थी। बिन्नी इतना बड़ा होकर भी उससे बच्चे की तरह लाड़ करने लगता था। कभी उसकी गोदी में सिर रख कर लेट जाता और कभी उसके पैरों से गाल सहलाने लगता। ऐसे क्षणों में उसका हृदय पिघल जाता और वह उसके बालों पर हाथ फेरती हुई उसे अपनी छाती से लगा लेती।

"माँ, तेरा छोटा लड़का कपूत है। है न ?" वह कहता।

"हा-ह !" वह डटाने के स्वर में कहती, "तू कपूत है ? तू मेरे चन्ना,...!" और वह उसका माथा चूम लेती।

लेकिन अक्सर वह बहुत तंग हो जाती थी। आज की तरह अनेकों रातें ऐसी गुज़रती थीं जब वह घर नहीं आता था। वह उस अँधेरे घर में जिसकी छत नीचे दबाने को आती थी, अकेली करवटें बदलती रहती थी। अकेली होने पर उसे बहुत कम नींद आती थी। ज़रा आँख झपकने पर बुरे बुरे सपने आने लगते थे, इसलिए वह जानबूझ कर भी जागती रहने का प्रयत्न करती थी।

और जब वह आता तो अपने में ही उलझा हुआ और व्यस्त सा। वह समझ नहीं पाती थी कि उसे किस चीज की व्यस्तता रहती है। जहाँ तक कमाने का सवाल था, वह मुश्किल से महीने में साठ सत्तर रुपये घर लाता था। कभी दस रुपये ज्यादा ले आता तो अपनी पचास माँगें साथ उसके सामने रख देता। इस बार माँ ! दो कमीजें सिल जायें और एक बढ़िया सा जूता आ जाय। उसकी बातों से उसके ओठों पर एक खुश्क सी मुस्कराहट आ जाती थी। दस रुपये में उसे घर भर का सामान चाहिए ! और जब कभी वह पूरे रुपये भी नहीं ला पाता तो महीने भर की बड़ी

आसान सी योजना प्रस्तुत कर देता—दूध-सब्ज़ी का नागा, दाल, प्याज, खुश्क फुलके और बस !

वह जानती थी कि वह ट्यूशन-क्यूशन करके कुछ रुपये ले आता है, नहीं तो सही अर्थ में वह बेकार ही है। उसके बड़े बड़े मनसूबे थे और वह उनका बखान करते समय छोटा मोटा भाषण दे डालता था, परन्तु वे मनसूबे पूरे करने के लिए जिस दुनिया की जरूरत थी, वह दुनिया अभी नहीं बनी थी और वह जोश से उँगलियाँ नचाकर कहा करता था कि माँ वह दुनिया बन जाएगी, तो तुझे पता चलेगा कि तेरा नालायक बेटा कितना लायक है !

"चुप रह खसम-रखना !" वह उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखती हुई कहती, "बड़ा लायक तू ही है !"

"माँ, मेरी लियाक़त मेरे पेट में बन्द है !" वह हँसता, "जिस तरह हिरन के पेट में कस्तूरी बंद होती है न, उसी तरह। जिस दिन यह खुलकर बाहर आएगी, उस दिन तुम्हें पता चलेगा !"

उसे उसकी ऐसी बातों से उस पर गर्व होता था, पर कई बार जब वह बहुत गुमसुम और बंद बंद सा रहता तो उसे बहुत उलझन होती।

उसके साथ उसके अजीब अजीब तरह के दोस्त घर आया करते थे। उन लोगों का शायद कोई ठौर ठिकाना नहीं था, क्योंकि वे आते तो दो दो रातें वहीं पड़े रहते और खाने पीने के मामले में बड़ी बेतक़ल्लुफी से काम लेते। वे जब चूल्हे से उतरती हुई रोटी के लिए आपस में छीना-झपटी करने लगते तो उसे खुशी भी होती थी पर अक्सर उसकी दाल की पतीली खाली हो जाती और वह देखती कि उन लोगों की खाने की कामना अभी बनी हुई है, तो उसे घर का अभाव अपना अपराध प्रतीत होता था। ऐसे समय उसकी आँखों में गहरी व्यथा भर जाती और वह ध्यान बँटाने के लिए दूसरे दूसरे काम करने लगती। वे लोग रूखी नमकीन रोटियों की फरमाइश करते तो वह चुपचाप उन्हें बना देती, हालाँकि उन्हें खिलाने का उसका सारा उत्साह निचुड़ चुका होता।

और उन लोगों के बहस मुबाहिसे कभी शांत नहीं होते थे। वे सब बहुत जोर जोर से बोलते थे और इस तरह एक दूसरे से उलझ जाते थे जैसे

उनकी बहस पर ही धरती और ईश्वर की सत्ता का दारोमदार हो। वे कई बार इतने गर्म हो जाते थे कि लगता था कि एक दूसरे को नोंच खायेंगे, मगर सहसा उस गर्मागर्मी के बीच एक कहकहा फूट पड़ता और वे एक दूसरे से बगलगीर होने लगते। बिन्नी बचपन में बहुत खामोश लड़का था, पर अब उसे इस तरह हुड़दंग करते देखकर उसे आश्चर्य होता था। कई कई घंटे घर में तूफान मचा रहता था। उसके बाद फिर नीरवता छा जाती थी, जो बहुत ही अस्वाभाविक और दम घोंटने वाली प्रतीत होती थी। जब बिन्नी दो दो दिन घर नहीं आता तो उस नीरवता के ओर-छोर गुम हो जाते थे और वह अपने को सदा से गहरे शून्य अँधेरे एकान्त में पड़ी हुई महसूस करती थी, जिसके दबाव से उसकी आत्मा छटपटा उठती थी।

जब अँधेरा गहरा होने लगा और मोनिका का बाप जाकर अपने कमरे में बंद हो गया तो उसने दरवाज़ा खोल लिया। मादा सूअर और उसके बच्चे सामने घर के अहाते में डेरा जमाये थे और एक मोटा सूअर नाली के पास हुँफ् हुँफ् कर रहा था। हवा तेज हो गयी थी और तूत के बुड्ढे पेड़ की डालियाँ बुरी तरह हिल रही थीं। आसमान का जो छोर दिखायी देता था वहाँ रह रह कर बिजली चमक जाती थी। चार महीने से प्रायः रोज ही बारिश हो रही थी। घर से कुएँ तक गली में कीचड़ ही कीचड़ भरा रहता था। इस कीचड़ के लिए बच्चन को लड़के लड़कियों की उस टोली से गिला था जो वर्षा आरम्भ होने से पूर्व आधी आधी रात तक गली में घूमती हुई तारस्वर में ईश्वर से पानी बरसाने का अनुरोध किया करती थी। अब सारा दिन जैसे उन्हीं की वजह से गली में चिपड़ चिपड़ होती रहती थी।

गणेशन की ड्योढ़ी के दरवाज़े पर फिर दस्तक हुई। इरावती ने दरवाज़ा खोल दिया तो बिन्नी उधर से मुस्कराता हुआ अन्दर आ गया।

"आगे की तरफ़ कीचड़ बहुत है भाभी!" उस ने कहा और अपने कमरे में चला आया। इरावती ने उस पर एक शिकायत भरी नज़र डाल कर अपना दरवाज़ा बंद कर लिया। बिन्नी के सिर के बाल बुरी तरह उलझे हुए थे, और उस का कुर्ता पाजामा बेहद मुचड़ा हुआ था। यह स्पष्ट था कि वह रात को जिस हाल में सोया था अभी तक उसी हाल में था और सुबह से अब तक उसे हाथ मुँह धोने का भी अवकाश प्राप्त नहीं हुआ था।

'माँ, जल्दी से खाना डाल दो, बहुत भूख लगी है !' उस ने आते ही चारपाई पर फैलते हुए आदेश दिया। बचन चुपचाप अपनी जगह पर बैठी रही। न वह उठी और न ही उस ने कुछ कहा। कुछ क्षण की प्रतीक्षा के अनन्तर बिन्नी ने सिर उठाया, "माँ, खाना ..."

"खाना आज नहीं बना है", बचन बोली, मुझे क्या पता था कि लाट साहब आज भी आयेंगे कि नहीं ? कल रात का खाना मैंने सबेरे खाया, सबेरे का अब खाया। मैं किस तरह हर वक़्त बासी खाती रहूँ ? ... किसी तंदूर पर जा कर खा आ।"

बिन्नी हँसता हुआ उठ बैठा और माँ के मोढ़े के पास चला गया।

"यहाँ तंदूर है कहाँ जहाँ जा कर खा लूँ ?" वह बोला, "मेरे हिस्से की जो बासी रोटी रखी थी थी वह तुमने क्यों खायी ? मेरी बासी रोटी निकालो ..." और वह माँ का घुटना पकड़ कर बैठ गया।

'मेरे पेट से निकाल ले अपनी बासी रोटी !' बचन ने वाक्य आरम्भ तो किया था मीठी झिड़की के रूप में, पर समाप्त करते करते उस की आँखें गीली हो गयीं।

बिन्नी ने उस की गीली आँखें नहीं देखीं। वह उठ कर रोटी वाले डिब्बे की ओर बढ़ता हुआ बोला, "डिब्बे में रखी होगी, ज़रूर होगी।"

बचन ने उस से बचा कर अपनी आँखें पल्ले से पोंछ लीं। बिन्नी रोटी वाला डिब्बा ले कर उस के सामने आ बैठा। उस में कटोरा भर दाल और एक कपड़े में चार रोटियाँ लपेट कर रखी थीं। बिन्नी ने कपड़ा खोल कर जल्दी से एक रोटी तोड़ ली।

"यह ताज़ी रोटी है !" वह ग्रास मुँह में ठूँसे हुए बोला।

"बासी रोटी खाने को माँ जो है !" कह कर बचन उठ खड़ी हुई और उस ने पानी का गिलास भर कर उस के पास रख दिया। बिन्नी ने एक घूँट में गटागट गिलास खाली कर के रख दिया और बोला, 'और !'

बचन ने गिलास उठा लिया और सुराही से उसमें पानी उँडेलती हुई बोली, 'लाली का कार्ड आया है।'

"अच्छा !" कह कर बिन्नी रोटी खाता रहा। उसने कार्ड के संबंध में ज़रा भी जिज्ञासा प्रकट नहीं की। बचन का दिल दुख गया। वह गिलास बिन्नी के आगे रख कर बिना एक भी शब्द कहे पीछे अहाते में चली गयी। वहाँ वह अपनी चारपाई पर दरी डाल कर पड़ गयी। उसका दिल उछल

कर आँखों में बह आने को हो रहा था पर वह अपने को संयत किये रही। थोड़ी देर बाद बिन्नी जूठे पानी से हाथ धो कर मुँह पोंछता हुआ अन्दर से आ गया।

"कहाँ है कार्ड ?" उसने पूछा।

"कहीं नहीं है" बचन ने रुँधे से स्वर में कहा और करवट बदल ली।

"अब बता भी दो, जल्दी से सब समाचार पढ़ दूँ।"

"सो जा, मुझे कोई समाचार नहीं सुनने हैं।"

"नहीं कैसे सुनने हैं, मैं अभी सब सुनाता हूँ।" कह कर बिन्नी अन्दर चला गया और दो क्षण बाद ही कार्ड ढूँढ कर ले आया। साथ लालटेन भी उठा लाया। आधे मिनिट में उसने सरसरी नजर से सारा कार्ड पढ़ डाला।

"भैया की तबीअत ठीक नहीं है।" वह लालटेन ज़मीन पर रख कर माँ की चारपाई के पैताने बैठ गया। बचन सहसा उठ कर बैठ गयी। बिन्नी ने गुन गुन कर के पहली डेढ़ पंक्ति पढ़ी और फिर उसे सुनाने लगा। लाली ने लिखा था कि उसका ब्लड-प्रेशर फिर बढ़ गया है और डाक्टर ने उसे घर पर आराम करने की सलाह दी है। कुसुम का स्वास्थ्य अब ठीक है और उसका रङ्ग लाली पर आ रहा है। उन्होंने मकान बदल लिया है क्योंकि वह घर हवादार नहीं था। बच्चों को वहाँ से स्कूल जाने में भी दिक्कत होती थी। अब महीने तक दीवाली आ रही है। बच्चे माँ को बहुत याद करते हैं। माँ को गये साल से ऊपर हो गया है इस लिए सब का दिल माँ से मिलने के लिए उदास है।

"इसके बाद सब की नमस्ते है !" कह कर बिन्नी ने कार्ड रख दिया।

"यह नहीं लिखा कि किस डाक्टर का इलाज कर रहा है ?"

"तुम जैसे शहर के सब डाक्टरों को जानती हो !"

बिन्नी ने बात अनायास भाव से कही थी पर बचन का अन्तर छिल गया। उसके चेहरे पर थोड़ी कठिनता आ गयी।

"मैं कल वहाँ चली जाती हूँ," उसने कहा।

"तुम चली जाती हो, और मैं अकेला रहूँगा ? मेरी रोटी...?"

बचन ने वितृष्णा-भरी नज़र से बिन्नी को देखा जिस का अर्थ था कि तेरी रोटी क्या उसकी जान से अधिक प्यारी है ?

"तू कौन घर की रोटी पर रहता है!" उसने मुँह से इतना ही कहा।

"भैया का ब्लड-प्रेशर कोई नया तो है नहीं..." बिन्नी फिर कहने लगा।

"तू रहने दे, मैं कल जा रही हूँ", उस ने उसे बीच में ही काट दिया। कई क्षण दोनों खामोश अपनी अपनी जगह पर बैठे रहे। फिर बिन्नी 'अच्छा' कह कर उठ गया।

दूसरे दिन सुबह ही वह 'अभी थोड़ी देर में आऊँगा।' कह कर चला गया और दोपहर तक लौट कर नहीं आया। बचन का किसी काम में दिल नहीं लग रहा था फिर भी उसने खाना बनाया और घर के सभी छोटे-मोटे काम किये। बिन्नी की चारों पाँचों कमीज़ें ले कर उसने उनके टूटे हुए बटन लगा दिये। फिर उसने अपनी दरी और कपड़े एक जगह इकट्ठे कर लिये। यह निश्चित नहीं था कि वह आज वहाँ से जाएगी या नहीं। बिन्नी सुबह उसे निश्चित कुछ बता कर नहीं गया था। सम्भव था कि वह फिर रात तक घर आये ही नहीं। रात को भी उसके आने का भरोसा नहीं था। इसके इलावा यह बात भी उसे खटक रही थी कि हो सकता है बिन्नी के पास किराये लायक़ पैसे ही न हों। महीने की उन्नीस तारीख थी और उन्नीस तारीख को उसके पास पैसे कब रहते थे? इस स्थिति में तो उसे तीन चार तारीख तक अपना जाना स्थगित रखना होगा। दीवाली अब की जाने कौन तारीख को पड़ेगी?...और इस बीच लाली की तबीअत कहीं ज्यादा खराब रही तो? ज्यादा ही तकलीफ होगी जो उसने चिट्ठी में लिखा है नहीं तो वह चिट्ठी में कभी नहीं लिखता। वह पंद्रह बीस दिन न जा सकी तो...?

और तभी बिन्नी आ गया। उसके साथ उसका लम्बे बालों वाला दोस्त था, शशि, जिसकी गरदन बात करते हुए तोते की तरह हिलती थी। वह उसके हाथ की दाल का सब से बड़ा प्रशंसक था। आते ही पहले दाल की फरमाइश करता था। हस्बमामूल गली से ही वे दोनों ऊँचे ऊँचे बातें करते हुए आये।

"तुम्हारा टिकट ले आया हूँ", बिन्नी ने आते ही कहा, "मंगलवाड़ी से शशि को लिया और वहीं से साथ टिकट भी ले लिया। तुम अभी तक तैयार ही नहीं हुई?"

"तैयार क्या होती ? तू मुझ से कह कर गया था...?"

"जब रात को तय हो गया था तो सुबह कहने की क्या जरूरत थी। अब जल्दी से तैयार हो जाओ। दो घंटे में गाड़ी आयगी। नकद सवा बीस खर्च कर के आया हूँ और वे भी उधार के।"

बचन को बुरा लगा कि वह शशि के सामने ऐसी बात कह रहा है। क्या वह नहीं जानती थी कि उसे टिकट के लिए रुपये उधार लेने पड़े होंगे। वह कब चाहती थी कि उसकी वजह से उस पर उधार चढ़े ? वह कह देता तो वह तीन चार दिन रुक कर चली जाती।

वह कुछ न कह कर कपड़े लपेटने लगी।

"हटो माँ, तुम्हें बिस्तर बाँधना आता भी है ?" बिन्नी आगे बढ़ आया, "उलटी सीधी रस्सी बाँधोगी और कहीं मोटा कर दोगी, कहीं से पतला। हट जाओ, मैं एक मिनिट में बाँध देता हूँ। ऐसा बिस्तर बँधेगा कि रास्ता भर तुम्हारा खोलने को जी नहीं करेगा..."

"तू रोटी खा ले। मैं बाँध लेती हूँ", उसने भरी हुई आँखों से कहा।

"रोटी खाने वाला आदमी साथ लाया हूँ," वह माँ से लपेटे हुए कपड़ों को फिर से फैलाता हुआ बोला, "यह इसी लिए आया है कि तुम चली जाओगी तो तुम्हारे हाथ की दाल फिर कहाँ मिलेगी ?"

बचन की गीली आँखों में हल्की सी मुस्कराहट भर गयी।

"यह भी खाले", वह बोली, "अभी मैं दो फुलके और उतार देती हूँ।"

"और उतार कर क्या करोगी ? जो हैं यही खा लेंगे।"

"पहले मैं खा लूँ, फिर जो बचे वह इसे दे देना !" कह कर शशि गरदन उठा कर हँस दिया। बिन्नी बिस्तर बाँधता रहा और वह उन दोनों के लिए खाना डाल लायी।

"तैयार ?" बिन्नी हाथ झाड़ता हुआ बोला और शशि के साथ खाना खाने के लिए डट गया।

"माँ, अपने लिए रख लेना और जितना बचे वह हमें ला देना !" शशि दाल सुड़कता हुआ बोला। वे लोग खा चुके तो उसने जल्दी से बरतन समेट दिये।

"और माँ तुम?" बिन्नी ने कुल्ला कर के हाथ पोंछते हुए पूछा।

"मैंने खा लिया है।"

"कब ?"

"तेरे आने से पहले।"

"झूठी !"

"सच, मैंने खा लिया है।"

"आगे तो कभी नहीं खाती।"

"आज खा लिया है।...जाना था न ? तुम दोनों तो भूखे नहीं रहे ?"

"एक चौथाई भूखे रह गये।" शशि ने डकार ले कर तौलिये से मुँह पोंछा और उसे खूँटी पर टाँग कर हँसने लगा।

स्टेशन पर उसे गाड़ी में बैठा कर वे दोनों प्लेटफ़ार्म पर टहलने लगे। रात को भी उस ने ठीक से नहीं खाया था इसलिए भूख के मारे उस का सिर चकरा रहा था। वह जानती थी कि बिन्नी को अच्छी तरह पता है कि उस ने खाना नहीं खाया। इसीलिए उस के मना करने पर भी वह आधा दर्जन केले ला कर उस के पास रख गया था। वह एक बार मना कर चुकी थी इसलिए खाना नहीं चाहती थी। यदि बिन्नी आ कर विशेष अनुरोध करता तो वह खा लेती। मगर बिन्नी और शशि दूर टहल रहे थे और अब भी उन का बहस मुबाहिसा जारी था। उस की समझ में नहीं आता था कि ये लोग आख़िर इतनी बहस क्यों करते हैं ? हर वक्त बहस बहस, बहस ! बहस का कोई अन्त भी होता है। सारी दुनिया के झगड़े इन्हीं को निपटाने हैं ! फटे हाल रह लेंगे, अपनी सेहत का ख़्याल नहीं और बातें जैसे कि संसार भर की सम्पत्ति के यही स्वामी हों और उसे बाँटने की समस्या इनके सिर पर आ पड़ी हो !

वे लोग मुड़ कर आ रहे थे और वह उन के चेहरों को देख रही थी। वे माथे पर सलवटें डाल कर हाथ हिलाते हुए बातें कर रहे थे, फिर भी वे बच्चे से दीखते थे। दोनों जैसे दुनिया से अनजान और बेख़बर थे। वे शायद उसकी सत्ता को भी भूल गये थे। सहसा गाड़ी की सीटी सुन कर वे उसके डिब्बे की ओर बढ़ आये और उस के पास आ कर खड़े हो गये। मगर उन की बहस नहीं रुकी। करघे का काम रुक जाएगा तो लाखों आदमी बेकार हो जाएँगे। और जैसे कोमल रोयें हाथ के कपड़े के होते हैं वैसे मशीनी कपड़े के कभी नहीं हो सकते... वह सोच रही थी कि ये लोग

कभी अपने कपड़े नहीं देखते ? इन्हें अपनी बेकारी की चिन्ता क्यों नहीं होती ?

गार्ड ने सीटी दे दी तो भी बहस चल रही थी। गाड़ी चलने लगी तो जैसे बिन्नी को थोड़ा होश हुआ और उस ने उसका हाथ पकड़ लिया, "अच्छा माँ..."

बचन के ओंठों पर खुश्क सी मुस्कराहट आ गयी और उस के सिर पर हाथ फेर दिया।

"अब कब आओगी ?"

"जब तू बुलाएगा।"

और गाड़ी चल दी। वह देर तक खिड़की से सिर निकाल कर देखती रही। वे दोनो हाथ में हाथ मिला गेट की ओर जा रहे थे। उन की बहस शायद अब भी जारी थी।

बचन को आये पन्द्रह दिन हो गये थे।

"बिन्नी की चिट्ठी नहीं आयी ?" उसने लाली के कमरे के बाहर रुक कर पूछा। लाली से सवाल पूछने में उसके स्वर में शासित का सा भाव आ जाता था। वह बेटा धीरे धीरे इतना बड़ा हो गया था कि वह अपने को उस से छोटी अनुभव करने लगी थी।

"आ जाओ माँ," लाली ने काम से शिर उठा कर कहा, "चिट्ठी उसकी आज भी नहीं आयी। न जाने इस लड़के को क्या हो गया है ?" और वह उठकर खड़ा हो गया।

"बैठ तू काम कर, मैं जा रही हूँ," बचन बोली, "सिर्फ़ चिट्ठी पूछने के लिए ही आयी थी।"

और वह बरामदे से हो कर अपने कमरे की तरफ़ चल दी। वह जानती थी कि लाली का वक़्त क़ीमती है, वह आधी आधी रात तक बैठ कर दूसरे दिन के केस तैयार करता रहता है। मुवक्किलों की वजह से उस का खाने पीने का भी कोई वक्त नहीं रहता। सवा साल पहले जब वह यहाँ से गई थी, तब से अब तक उसकी व्यस्तता काफ़ी बढ़ गयी थी। नये घर में आ जाने से जगह का ज़रूर आराम हो गया था, मगर कचहरी और

भी दूर हो गयी थी जिससे उसे आने जाने में अधिक समय लगता था। इस लिए तीन तीन चार चार दिन वह उससे एक शब्द भी बात नहीं कर पाता था। रात को जब वह बैठक से उठ कर आता तो सीधा अपने सोने के कमरे में चला जाता। वह रोज सवेरे कुसुम से पूछ लेती थी, "रात लाली की तबीयत ठीक थी न ?"

"हाँ, माँ जी !"

"उसके सिर में रात को बादाम रोग़न डाल दिया करो।"

"मैं कई बार कहती हूँ मगर वे डलवाते ही नहीं।"

"मुझे बुला लेना, मैं आ कर डाल दूँगी।"

"डालने को नौकर है, मगर वे डलवाते ही नहीं।"

वह जानती थी बादाम रोग़न डलवाने के लिए लाली को किस तरह मनाया जा सकता है मगर कुसुम उसकी अपेक्षा अपने को अधिक अन्तरंग समझती थी और उसके सुझावों से सहमति प्रकट करती हुई भी करती वही थी जो उसके मन में हो। वह जिस शिष्टता और भद्रता से उस से बात करती थी, उससे उसे लगता था कि जैसे वह उस घर में मेहमान हो। उसे घर में सब सुख-साधन उपलब्ध थे। करने के लिये कोई काम नहीं था। एक नौकर खाना बनाने के लिए था और दूसरा ऊपर के काम करने के लिए। उन की देखभाल करने के लिए कुसुम थी जो रुपये पैसे का हिसाब भी रखती थी। जब कभी वह अपने हाथ से कोई काम करने को कहती तो तुरन्त नौकर का हवाला दे देती नौकर के रहते अपने हाथ से काम करने की क्या ज़रूरत है ? यही बात लाली भी कह देता था— "माँ, तुम काम करोगी तो नौकर किस लिए है ?"

बचन सोचती थी कि नौकर काम करने के लिए हैं और उनकी देखभाल करने के लिए कुसुम है, फिर वह वहाँ किस लिए है ? सवेरे पाँच बजे से ले कर रात को ग्यारह बजे तक वह रोज़ रोज़ क्या करे ? पंद्रह दिन पहले जब वह आयी थी तो बच्चे उसके गिर्द हुए रहते थे। उन्हें दादी से हज़ारों बातें कहनी और शिकायतें करनी थीं। मगर चार ही दिन में बच्चों के लिए उस की नवीनता समाप्त हो गयी थी। उन की अपनी छोटी छोटी व्यस्तताएँ थीं जिन में उनका समय बँटा हुआ था। कभी कभी कुमुद ज़रूर उसके पास आ जाती थी और उसके कमरे में ग्रामोफ़ोन बजाती रहती थी।

उसे शायद दादी इस लिए अच्छी लगती थी कि उसकी माँ दोनों भाइयों से अधिक स्नेह करती थी...

बच्चन कमरे में आकर चारपाई पर लेट गयी। बिन्नी ने अभी तक चिट्ठी क्यों नहीं लिखी ? रात को उस अँधेरे घर में वह अकेला सोता होगा। रोटी का जाने उसने क्या प्रबन्ध किया है ? उसने चलते समय पूछा क्यों नहीं कि वह पीछे कैसे रहेगा, क्या प्रबन्ध करेगा ? उसके रहते वह तन बदन की होश भूला रहता था, अब उसकी क्या हालत होगी ? चिट्ठी लिख देता तो उसे तसल्ली हो जाती। मगर क्या उसे चिट्ठी लिखने का होश होगा ?

कमरे की खिड़की खुली थी और वहाँ से दूर तक खुला आकाश दिखायी देता था। खिड़की से दिखाई देने वाले नक्षत्रों के विन्यास से परिचित थी। वही नक्षत्र बम्बई की उस मनहूस बस्ती के आकाश में भी भिलमिलाते थे। यहाँ से वे उसे तिरछे कोण से दिखायी देते थे और वहाँ से वह उन्हें सीधे कोण से देखा करती थी। उसी कोण से उन्हें देखते हुए वह बिन्नी की आहट की प्रतीक्षा किया करती थी। हूँफ् हूँफ् की ध्वनियाँ पास आती और दूर चली जाती थीं। फिर दूर से फटे हुए बेहूदा गले की आवाज़ आने लगती थी—ओ हेड आई द विग्ज़ ओ फेजल ..। उस आवाज़ से वह बेहद घृणा करती थी! यहाँ इस एकान्त घर में आस-पास से कोई आवाज़ नहीं आती थी। नौ साढ़े नौ बजे बच्चों के सो जाने के बाद बिल्कुल निस्तब्धता छा जाती थी। केवल रंगीलाल के बरतन और चौका धोने की आवाज़ सुनायी देती थी।

उसने करवट बदली कि जिससे उसे नींद आ जाय। नींद न आना अब रोज़ की बात हो गयी थी। कहाँ दस बजे से ही उसकी आँखों में नींद भरी रहती थी और कहाँ अब वह ग्यारह बारह और एक तक के घंटे गिनती रहती थी। वहाँ और यहाँ के वक्त में बहुत फर्क था। जाने क्यों ? वह सोचती रह जाती जब तक कि किसी अनजानी घड़ी में नींद उस पर अधिकार नहीं जमा लेती।

रात को वह बहुत देर से सोयी मगर सुबह जल्दी उठ गयी।

सुबह उसका चित्त रात से अधिक स्थिर और अशांत था। इतना

बड़ा पहाड़ सा दिन और उसके बाद फिर रात ! दिन भर की निष्क्रियता की कल्पना से एक विराट शून्य उस के अन्तर को घेरे था। आकाश में चिड़ियों के गिरोह उड़ते आ रहे थे। रसोई घर में रंगी स्टोव में हवा भर रहा था। उसे साहब के बिस्तर पर चाय पहुँचानी थी। सुबह जब वह कमरे के कोने में बाल्टी रख कर नहा रही थी तो बिन्नी बाहर से चाय की फरमाइश किया करता था। उस फ़रमाइश से उसके भजन में बाधा पड़ती थी जिससे उसे उलझन होती थी, पर वह चुप चाप उसके लिए चाय बना देती थी।...आज उसे उलझन हो रही थी कि उसका भजन में दिल क्यों नहीं लगता ? जब उसके पास अवकाश ही अवकाश था और उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति उस ओर नहीं होती थी। जैसे वह रोज़ पूजा में घन्टा डेढ़ घन्टा बिताती थी, पर उसका हृदय उस तरह केन्द्रित नहीं होता था जैसे पहले हुआ करता था।

वह कुछ देर बरामदे में खड़ी सूर्योदय के स्वर्णिम रंग को देखती रही। क्षितिज के एक कोने से दूसरे कोने तक झिलमिलाती हुई स्वर्णिम आभा धीरे धीरे निखर रही थी। लगता था जैसे गोलक में बन्द उजाला फूट कर बाहर बिखरने के लिए जद्दोजहद कर रहा हो। उजाले की बढ़ती हुई झलक से हर क्षण उसे ऐसी ही प्रतीति होती थी। उसने बरामदे से उतर कर पूजा के लिए कुछ मोतिया के फूल चुन लिये और रसोई घर में चली गयी।

रंगी स्टोव से केतली उतार कर चायदानी में पानी डाल रहा था। उसने अपने अंचल से फूल निकाल कर आले में रख दिये। रंगी ट्रे लगा चुका था। वह उठा कर चलने लगा तो उसने ट्रे उसके हाथ से ले ली।

"रहने दे मैं ले जाती हूँ।" और वह लाली के कमरे की ओर चल दी।

"साहब नाराज न हों", रंगी ने पीछे से संकुचित स्वर में कहा।

"इस में नाराज होने की क्या बात है ?" वह थोड़ा खाँस कर लाली के कमरे में चली गयी।

लाली कंबल ओढ़े बिस्तर में बैठा था और कुसुम अभी तक सोयी हुई थी। लाली के हाथ में कुछ कागज थे जिन्हें वह बड़े ध्यान से पढ़ रहा था। उसने यह लक्षित नहीं किया कि माँ चाय लेकर आयी है। बच्चन ने ट्रे मेज पर रख कर चाय की प्याली बनायी और उसके निकट ले गयी।

लाली ने अभ्यासवश चाय के लिए हाथ बढ़ाते हुए लक्षित किया कि माँ प्याली लिये खड़ी है।

"माँ, तुम?" उसने आश्चर्य के साथ पूछा।

बच्चन ने प्याली उसके हाथ में दे दी। उसने पहली बार लक्षित किया कि लाली के बाल कनपटियों के पास में सफ़ेद होने लगे हैं। चश्मा उतार कर रखने के कारण उसकी आँखों के नीचे गड्ढे नजर आ रहे थे। लाली ने कागज़ रख कर चश्मा लगा लिया।

"रंगी और नारायण दोनों में से कोई नहीं है?" उसने पूछा।

"नारायण शायद दूध लाने गया है", वह बोली, "रंगी उधर रसोई में है।"

"तो उससे नहीं आया जाता था? तुम सुबह उठ कर चाय लाओ, वहाँ।... इससे अच्छा है मैं आप बना कर पी लूँ।"

"तू जरूर बनाकर पी लेगा, जिसे यह नहीं पता कि दूध कौन सा है और चीनी कौन सी है!" और वह थोड़ा हँस दी। कुसुम करवट बदल कर उठ बैठी।

"माँ जी, आप—?" उसने भी आँख मलते हुए आश्चर्य के साथ पूछा। फिर उसने तत्परतापूर्वक कंबल उतार दिया।

"आप रहने दीजिए, मैं बनाती हूँ।"

और कुसुम उठकर दूसरी प्याली में चाय बनाने लगी। चाय बना कर उसने प्याली उस की ओर बढ़ा दी।

"मैं अभी नहायी नहीं, अभी से चाय पी लूँ?"

"पी भी लो माँ", लाली बोला, "कभी धरम-करम छोड़ दिया करो।"

"नहीं, मैं नहीं जूठे मुँह पीती। तुम्हीं लोग पियो।"

कुसुम प्याली लेकर अपने बिस्तर पर लौट गयी। बच्चन लाली के पैताने बैठ गयी। वे दोनों खामोश चाय पीते रहे।

कमरे में हर चीज़ व्यवस्थित ढंग से रखी हुई थी। अँगीठी पर नीले रंग का कपड़ा बिछा था जिस पर कुसुम ने सफेद डोरे से कढ़ाई की थी। उस पर एक ओर अखरोट की लकड़ी का गौतम बुद्ध का बस्ट रखा था और दूसरी ओर हाथीदाँत की हंसों की जोड़ी संदूकों पर गद्दे बिछा कर उन्हें लाल कपड़े से ढक दिया गया था। कोने में कुसुम की सिलाई की

मशीन चमक रही थी जिसके पास ही लाली की आधी सिली हुई कमीज के टुकड़े बँधे रखे थे। छोटी मेज़ पर छोटे से शैल्फ में लाली की किताबें और पास टेबल लैंप रखा था। दूसरे कमरे के दरवाजे के पर्दे पर भी कुसुम ने अपने हाथ से कुछ कढ़ाई की थी। उधर चारपाइयों पर करवटें बदलने की आवाज़ आ रही थी। शायद बच्चे जाग गये थे।

लाली ने प्याली खाली करके मेज पर रख दी। कुसुम खामोश अर्थपूर्ण दृष्टि से उसके चेहरे को देख रही थी। बचन उठ खड़ी हुई।

"बस चल दीं माँ?" कहते कहते लाली ने अपने काग़ज़ उठा लिये।

"हाँ, तुम अपना काम करो, मैं भी जाकर नहा धो लूँ।"

"बैठो थोड़ी देर...कोई खास बात तो नहीं थी?"

"नहीं, बात कुछ नहीं। बाहर खड़ी थी, नौकर चाय ला रहा था, मैंने कहा, मैं पकड़ा देती हूँ।"

लाली की आँखें कागजों की ओर झुक गयीं। कुसुम अभी तक चाय की चुस्कियाँ ले रही थी। बचन चलने के लिए उद्यत होकर फिर खड़ी हो गयी।

"एक बात पूछनी थी..." उसने कहा।

लाली ने फिर काग़ज़ रख दिये।

"कहो।"

"इतने दिन हो गये बिन्नी की चिट्ठी नहीं आयी"...

"मैं तो अब उससे गिला नहीं करता", लाली चिढ़े हुए स्वर में बोला, "गफ़लत की भी हद होती है! इस लड़के का जैसे घर वालों से कोई नाता-रिश्ता ही नहीं है। यह भी नहीं पता कि इसे कुछ करना-धरना भी है या जिंदगी भर बदमबाज़ी ही करनी है? यहाँ बी० ए० कर लेता तो अब तक कुछ बन बना जाता। अब ज़िंदगी भर आवारागर्दी करेंगे!"

बचन की आँखें भर आयीं। उसने चेष्टा की कि आँसू आँखों में ही रुक जायें पर वे बहने को हो आये तो उसने पल्ले से आँखें पोंछ लीं।

"मैं कहती हूँ मैं लौटकर वहाँ उसके पास ही न चली जाऊँ?" और वह निर्णय सुनने के ढंग से लाली की ओर देखने लगी। लाली गम्भीर होकर चुप हो रहा, उसने कुछ कहा नहीं।

"मैं कहती हूँ कि कम से कम मेरी आँखों के सामने रहेगा और मुझे पता चलता रहेगा कि क्या करता है और क्या नहीं करता...!"

"यहाँ माँ जी का दिल नहीं लगा !" कुसुम ने प्याली रखते हुए कहा। पल भर लाली की आँखें उसकी आँखों से मिली रहीं।

"अभी तो माँ, आयी ही हो", लाली बोला, "दस बारह रोज़ बाद दीवाली है। अभी ही चली जाओगी ?"

"नहीं, मेरा बच्चों को छोड़कर जाने को दिल करता है ? मैं वैसे बात कर रही थी", और वह फिर से जाने के लिए तैयार हो गयी, "पता नहीं रोटी भी वक्त से खाता है या नहीं !"

कुसुम उठ कर रंगी को पुकारती हुई बाहर चली गयी।

"तुम ज़रूर ही जाना चाहो तो और बात है !" लाली के चेहरे का भाव कुछ अन्यमनस्क सा हो गया।

"नहीं, जाने की बात नहीं, मैं वैसे ही सोचती थी..."

वह बाहर की ओर देखने लगी जिससे आँसू फिर न टपक पड़ें।

"जाना है चली जाओ, नहीं खामखाह चिन्ता से परेशान होग

बचन कुछ क्षण खामोश खड़ी रही। लाली अपनी उंगलियाँ मसलता रहा।

"किस गाड़ी से चली जाऊँ ?"

"रात की गाड़ी ठीक रहती है। उसमें भीड़ कम होती है।"

"तेरी तबीअत की फिकर रहेगी..."

"मेरी तबीअत अब ठीक ही है।"

"तू चिट्ठी लिखता रहेगा न ?"

"हाँ, मैं लिखूँगा, या कुसुम लिखती रहेगी।"

"अच्छा !..."

वह कमरे से चल दी। लाली ने कागज उठा लिये।

रात को गाड़ी में उसे अच्छी जगह मिल गयी। जनाने डिब्बे में उसके इलावा दो तीन ही सवारियाँ और थीं। कुसुम नारायण को लेकर उसे छोड़ने के लिए आयी थी। लाली मुवक्किलों की वजह से नहीं आ पाया था। कुसुम गाड़ी चलने तक उसके पास बैठ कर बातें करती रही। दादी

के पीछे अब बच्चे उदास हो जायेंगे। तीन चार दिन घर बहुत सूना-सूना लगेगा। रास्ते में अच्छा खाना उसे किस स्टेशन पर मिलेगा?

गाड़ी ने सीटी दी तो कुसुम प्लेटफ़ार्म पर उतर गयी।

"जाते ही चिट्ठी लिखिएगा।" उसने कहा।

"अच्छा! लाली की तबीअत का पता देती रहना।"

कुसुम ने सिर हिलाया। बचन को लाली के सफ़ेद बालों का ध्यान हो आया।

"रात को उसे देर-देर तक मत पढ़ने देना और उससे कहना कि सिर में बादाम-रोग़न डलवा लिया करे।"

कुसुम ने फिर सिर हिला दिया। गाड़ी चल दी। कुसुम ने हाथ जोड़ दिये।

प्लेटफ़ार्म पीछे रह गया तो बचन आकाश की ओर देखने लगी। उसके अन्तर में फिर एक शून्य सा भर रहा था। सामने क्षितिज के पास नहीं नक्षत्र चमक रहे थे। बचन अपलक दृष्टि से उन्हें देखती रही। फिर वह जहाँ जा रही थी, उस घर का नक़्शा उसकी आँखों के आगे घूमने लगा। वह नीची छत वाला टूटा-फूटा कमरा, मादा सूअर और उसके बच्चों की हुँफ-हुँफ और कुएँ की तरफ़ से आती हुई मोटी, भद्दी फटी हुई आवाज़—ओ डैडाई है डिवंजो-फंगल···अँधेरा, एकान्त, बिन्नी, शशि और उनके दोस्त, बहसें और दाल रोटी के लिए उन लोगों की छीनाझपटी...

उसकी आँखें भर आयीं, जिससे क्षितिज के पास चमकते हुए नक्षत्र धुंधले पड़ गये।

उसने आँखें पोंछ लीं। नक्षत्र फिर चमकने लगे।

वंध्या का गीत

श्रीराम वर्मा

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या,
दुर्धर्ष सागर की लहरों से खेल रहे हैं।
मैं डरती हूँ—डूब न जायें
ओ प्रभु,
मेरी भुजा चादर-सी आज अनन्त
बना दो।

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या
इनके पाँवों तले से धरती
जैसे खिसक गई है;
माथे पर अम्बर जैसे
टूट गिरा है

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या,
निविड़ शून्य में पङ्खहीन
कातर ये
उड़ने को आतुर हैं;
ओ प्रभु
मेरी प्राणशक्ति इनके हर
अवयव से बाँधो
पुलकित पङ्ख बना दो।

अरक्षित ये,
कातर ये
निविड़ अन्धेरे में
खोजते हुये ये
रङ्गमय खिलौने—

ओ प्रभु,
नयन ये समर्पित हैं
मेरी पुतलियों का
मंजुल प्रकाश इन्हें दे दो तुम!
मेरे इस वत्सल किन्तु
बंजर हृदय की नई रूपाकृतियों में
गढ़
सुघर खिलौनों में ढाल ढाल
इनको तुम दे डालो

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या!

आत्मा के सहचर

एक कहानी : दो लम्बी कविताएँ

पानी की तस्वीर

कमलेश्वर

गाड़ी कोई पुल पार कर रही थी। इस्पात पर आवाज़ों की चोट ने उसे कहीं और ला दिया। ऐसी ही किसी नदी के किनारे खड़ा वह झुकती हुई शाम देख रहा था। शाम का सूरज और पानी का बदलता हुआ रंग। बाढ़ का पानी गाँव की नदी से उतर गया था। चिकनी मिट्टी पर किसी के चरणों के चिन्ह अंकित थे। घासें दब गयीं थीं। घाट की झोंपड़ी में अभी लालटेन जली थी। कछुओं पर निशाना-साधते-साधते बहुत देर हो गयी। संजय ने दो बार कहा 'चलो', पर कोई गया नहीं। आखिर हाथ में मोमबत्ती लिये बाबा खोजते हुए पहुँचे थे।

"इसी तरह छकायेगा तो ताले कुंआ में कल से रखूँगा!"—कहते हुए बाबा ने दोनों को बाँह से पकड़ा। बातों से बेरहम, पर पकड़ से दयालु बने घर की ओर खींचते हुए ले जा रहे हैं, "अब से इधर आये तो टाँगें तोड़ दूँगा।" कि संजय को ठोकर लगती है और बाबा पैर सहलाते-सहलाते गाँव के मुखिया को कोस रहे हैं—"मछली का ठेका दिलाने के लिए मुखिया है, सड़क की हालत के लिए आँखों पर पट्टी बँधी है ...अभी लड़के का पैर टूट जाता ..."

बाबा ऐसे ही हैं!

बाहर चबूतरे पर मोमबत्ती की रोशनी में नौगुड़िया जग गयी। चाल अटकते ही जोगिन्दर बाबू को प्यास लगती थी, वहीं से आवाज़ लगायी, "एक लोटा पानी लाना अक्षत।"

"दिन भर का थका हारा है, तुम खुद ले लो।" बाबा ने कहा, पर खुद पानी लेने उठ गये। अक्षत नदी किनारे घूमता रहा है। कितनी थकन आती है नदी किनारे, यह बाबा जानते हैं! माँ, पिता, भाई और मित्र की तरह पाला है बाबा ने।

पढ़-लिखकर बड़ा हुआ, पर बाबा की ज़ुबान से सख्त बात नहीं सुनी। विशाल पर्वत की तरह बाबा, दुस्तर दुरूह पर बहुत विनत। जो चाहे

चरणों से चढ़कर मस्तक पर बैठ जाय ...जैसे पहाड़ कुछ नहीं बोलता, उसी की तरह कठोर-कोमल ! पता नहीं किन पथरीली चट्टानों के नीचे अदेखी तरलता है जो किसी क्षण, कहीं फूट कर बह निकलती है।

कथा में वह नहीं जाना चाहता था, पता नहीं क्यों ईश्वर पर विश्वास नहीं होता। बाबा नहीं बोले थे, न बुरा माना था। मन की ठेस दिखायी नहीं। फिर शिवरात्रि आयी थी। मंदिर की सजावट होनी है। बाबा ने कहा—"अक्षत, दिन दिन भर रंगों का खिलवाड़ करता है, मूर्तियों के नाक-नक्शे सँवार दे।" अब कैसे न जाता मंदिर ? कूचियाँ और रंग लेकर दिन भर मंदिर की सजावट में लगा रहा। भक्त आते रहे, उनकी अटूट श्रद्धा अनजाने मन में उतरती रही। शाम से कीर्तन था। जाते हुए बाबा ने कहा, "तुम तो यहीं रहोगे अक्षत, घर देखना। मैं मंदिर पर रतजगे में रहूँगा।"

पता नहीं क्यों अक्षत के मन में हुआ कि थोड़ी देर के लिए चला जाय ! बाबा धोती पहनाना चाहते थे, मंदिर और धर्म से उसका कोई सम्बन्ध न जोड़कर बोले, "मेरी धोती पहन ले, देखें तेरे ऊपर फबती है या नहीं ! बैठने में आसानी रहेगी !" बाबा ने मन का काम करवा लिया था ! इसी तरह वे संस्कार किया करते थे, विचार नहीं। विचार देने वाले हताश भी होते हैं पर संस्कार देने वाले सदैव आश्वस्त रहे हैं। कितनी सहन-शक्ति है बाबा में। जैसे कभी कुछ होता ही नहीं। रोज़ सुबह सूरज की तरह चमकने लगते हैं। अम्लान, अप्रभावित। रात चाहे जो हुआ हो पर सुबह सब कुछ वही। उनके स्नेह की अक्षुण्ण गरमाहट भरी कोमलता नहीं जाती। किरनें कभी फूटने से इनकार नहीं करतीं।

नदी पर रोज़ देर होती थी। चन्द्रमा पियरा कर ढलने लगता तो वह लौटता। मन में बड़ा पश्चात्ताप होता। गली में आहट सुनते ही बाबा किवाड़ों से लग कर खड़े हो जाते और कुंडी पर हाथ रखते ही खोल कर उसे भीतर ले लेते, "इतनी सर्दी है, स्वेटर तक नहीं पहना !" कहते-कहते चादर में लपेट लेते।

लेटता तो मनीषा की बात याद आती, "खिड़कियाँ खोल लेना, पर अच्छी तरह कपड़े पहन कर लेटना। रात में देखने आऊँगी। और दूसरे दिन बाबा नज़र रखते ! शाम को निकलते ही कहते, "[illegible] पहन ले [illegible]। घर की तो कोई बात नहीं, बाहर सर्दी खा जायेगा !"

जैसे बाबा मनीषा पर अविश्वास करते हों और मनीषा बाबा पर। एक दूसरे में अनदेखी ईर्षा रहती, शंका रहती ...अक्षत के लिए किसी को अपने ज्यादा दूसरे पर विश्वास नहीं। वह चाहता था कि बाबा मनीषा के लिये कुछ कहें, पर नहीं, वे कभी नहीं बोले।

एक रोज़ बाबा ने संजय के सामने कहा था, "अक्षत घर बसा ले तो बेफ़िकर हो जाऊँ, इसकी माँ की आखिरी बात पूरी हो जाय!"

संजय ने पूछा, "कहाँ तय की है?

" तय तो इसकी माँ कर गयी है।" बाबा ने कहा!

"ये सब बेकार की बातें हैं, मुझे कुछ भी करना धरना नहीं।" अक्षत ने बात बढ़ानी चाही। सुनकर बाबा चुप हो गये। विरोध की परछाईं तक नहीं।

लेकिन सब जानते हुए बाबा बात से नहीं डिगे। मृत की आखिरी बात रखनी थी। न जाने कैसे पीछे-पीछे सब होता रहा। कहीं आशा तक नहीं, कोई उथल-पुथल नहीं ... सब अपनी जगह अडिग थे ...न बात न तर्क, जैसे एक एक विश्वास लिये बैठे हों।

अक्षत सोचता था कि बाबा की बात को अस्वीकार करने पर बाबा कुछ कहेंगे और तब वह उन्हीं से अपनी बात मनवा लेगा, या वे विरोध ही करेंगे तो वह रास्ता पा लेगा। पर बाबा पानी का बहाव थे ...हाथ में आकर निकल जाते, वह विरोध करता तो दोनों ओर से कतरा कर बह निकलते,.पर धारा का प्रवाह अविकल था।

एक रात अक्षत ने कहा, "बाबा, आप सब जानते हैं, फिर भी ..."

"अक्षत तू भी तो सब जानता है!" बाबा ने कहा।

"तो क्या करूँ बाबा, तुम्हीं बताओ! मैं तो केवल एक हूँ।" अक्षत ने कहा।

'एक है इसीलिये, मुझे तेरा सुख चाहिए! तेरी माँ से अधिक कौन सोच सकता था? वह तो आज अपने किसी भी स्वार्थ से दूर है! फिर तेरी मर्ज़ी ... जो ठीक लगे, जिससे मन भरे..." बाबा ने रुँधे हुए गले से कहा और उनकी आँखें डबडबा आयीं। अक्षत देखता रहा गया। बाबा भरी आँखों से उसे ताक रहे थे। उन पुतलियों पर तैरते पानी में उसकी तस्वीर झिलमिला रही थी। पानी की तस्वीर। उसने आँखें झुका लीं पर वे आँखें कभी नहीं भूलतीं, जब भी कुछ निश्चय करता तो वे पीछा करतीं, झाँकती

कुछ नहीं। न आदेश देतीं, न अनुनय और न तिरस्कार ... बस यह कि जो तुम करोगे मैं स्वीकार कर लूँगी, इनमें उभरी हुई तस्वीर न मिट जाय ...बस केवल यही !

सहसा एक झटके के साथ गाड़ी रुक गयी। अक्षत होश में आया क्या-क्या सोच जाता है ? पता नहीं अब मनीषा कैसी होगी ? अनजाने चला आया था। आज वापस वहीं जाते एक क्षण के लिए संकोच होता है। लेकिन बात ही ऐसी थी। और संजय क्या सोचता होगा ? और बापू ! कभी कभी प्यार भी अत्याचार हो जाता है। उसे सब क्यों इतना चाहते हैं ? प्यार के ज़ुल्म को सह सकने की क्षमता होती तो क्यों चुपचाप चला आता और आज वापस जाने की नौबत आती ? कहीं भी तो वह अकेला नहीं था, घर में बापू, बाहर संजय और हर समय मनीषा। उसका कुछ भी अपना नहीं था, एक क्षण भी नहीं। कोई तो घृणा करता, कोई तो हिकारत से डाँटता। अपनी-अपनी बातें सब कह लेते हैं पर कोई उन्हें मनवाना नहीं चाहता। "तुम्हें यह मानना पड़ेगा," आखिर कोई भी यह क्यों नहीं कहता ? कोई नहीं कहता, न मनीषा, न संजय और न बापू। कैसे अदृश्य घेरे थे, बहुत मज़बूत पर बहुत कमज़ोर...उसने एक निगाह बाहर की ओर डाली, कोई तालाब शीशे की तरह पीछे खिसकता जा रहा था। चाँद की पड़ती छाया और भी कोमल होकर उसमें झाँक रही थी...मन न जाने कहाँ उलझ गया...वह झील कितनी याद आती है...

जैसे अक्षत झील के किनारे उतर गया। नील झील का ठहरा हुआ जल, बरौनियों की तरह घाँस के झाड़, लम्बे-नुकीले। बड़ी खामोशी थी। पानी साँस रोके पड़ा था। अपलक देखता रहा। झील के वक्ष की छाया उसे निहार रही थी। स्वर्ग पर मोहित हो गया। कितनी कोमल थी पानी की तस्वीर। और तस्वीर का सौन्दर्य...हाथ सहम जाते हैं, यह सारा सौन्दर्य खो जायगा, काँप कर तस्वीर मिट जायगी। कहीं अपनी तस्वीर से ईर्ष्या न हो जाय, झील के लम्बे विस्तार को देखता है और किनारे खड़े घाँसों को...कि सहसा मनीषा की कटीली नुकीली बरौनियाँ और नील झील की तरह गहरी अथाह आँखें आ जाती हैं। मनीषा की निर्मल मुक्त हँसी और मुस्कराने के लिए आतुर पतले ओंठ।

उसकी आँखों में झाँककर ऐसी ही आशा मिलती थी, वह साँस रोके

देखता रह जाता, झील की तरह आँखों के नम किनारे । और उस पानी में निखरी हुई उसकी तस्वीर । तब प्यास अनायास मर जाती है, हाथ डुबोये नहीं जाते । अपने से ईर्ष्या होती । मनीषा अपलक उसकी आँखों में झाँकती रहती और वह दृष्टि हटाकर उन मोहक पतले होंठों को देखने लगता । उनके किनारे पतले होकर न जाने कैसे मुड़ गये थे । ओंठों का वह रहस्यमय संधिस्थल...कैसा आकार है, कुछ याद नहीं आता । बस, वे बहुत सुन्दर हैं । जब सोचने बैठता है तब बनावट खो जाती है । जब उन ओंठों के रहस्य को नहीं समझ पाता तो फिर उन आँखों में झाँकता है और वही पानी की तस्वीर उसे फिर-फिर निहारती है । मनीषा जैसे केवल पानी हो जाती है और उसमें उभरी हुई उसकी छाया । पानी और छाया, छाया और पानी...जैसे छाया पानी से विलग नहीं, जैसे पानी छाया से परे नहीं ।

मनीषा !

पहले दिन देखा था । मनीषा सामने थी । न बहुत देखने की आतुरता न अपने को कुछ समझने का अहंकार । अज्ञात भी सामान्य था और मनीषा भी । जैसे हर नया विचार कुछ देर साथ रहता है वैसे ही मनीषा के बारे में भी सोचा था । बड़ी सम्पन्न और तेजोमय थी । एक ऐसे पक्षी की भाँति जो अपने पंखों की शक्ति पहचानता हो । हवा को काट फेंकने का दंभ नहीं, उसे पार कर जाने की क्षमता पर विश्वास हो । बस इतना ही । इससे अधिक कुछ नहीं । कोई असाधारण आकर्षण नहीं ।

एक दिन सहसा मनीषा ने पूछा था, "तुम्हें कैसा लगता है ?"

"क्या ?"

और मनीषा के ओंठों के संधिस्थल और भी रहस्यमय हो गये थे, जैसे अज्ञात की आँखें कुहरे के पार डूबे नदी तटों को देखती हों, ऐसे तट, जिन तक पहुँच पाने के बाद धार दिखाई देती हो !

कभी कहती थी, "अज्ञात, तुम्हें देखकर मन खुल गया था, बहुत डरती थी आदमियों से । पता नहीं क्या कर देते हैं कि जिन्दगियाँ टूट जाती हैं । बूढ़े निरापद लगते थे । पता नहीं तुम लोगों की तेज़ी में कैसी वंचना की गंध आती थी । सब झूठ लगता था । बड़ा पछतावा हुआ

बाद में। कितना गलत सोचा। निस्स्वार्थ हँसी केवल तुम्हीं लोगों के पास थी। आदमी का डर भाग गया। राजीव, संजय, अमित, आशीष और तुम...तुम्हारे छोटे-छोटे आदर्श और कल्पनाएँ कितनी पवित्र हैं! इतना रस कहाँ से मिलता है अक्षत! दुनिया में रहते हुए भी उससे अलग होकर अपने में तुम लोग हो? और सोने जैसे कैसे हँस लेते हो? सचमुच स्वार्थी नहीं हो?...कितनी बड़ी सार्थकता है तुम लोगों के जीवन की..."

"पता है, सब बेकार जी रहे हैं। किसी के काम नहीं आते। न घ के न अपने, संजय अपने घर का अकेला बेटा है, सब आस लगाये ह पर कुछ भी तो नहीं करता। अमित यूँ ही दिन काट देता है और मु मैं...कोई अर्थ नहीं...ऐसे कुछ होता है?" अक्षत बोला था।

"होता है अक्षत, तुम्हीं सब तो कचनार के पेड़ हो, जिनकी जड़ों से धरती चिपकी है, नहीं तो धार छोड़ती? ये पहाड़, चाँद-सितारे आखिर कौन सा अर्थ लेकर जी रहे हैं...इन्हें बेकार कहोगे? हर जगह अर्थ खोजोगे तो स्वार्थी हो जाओगे। जब तक निरर्थ जी लोगे तभी तक यह पवित्रता का तेज मुझे दीखेगा, मुझे रह लेगी। तुम सब तो सौन्दर्य हो, अपने में पूर्ण! निरुपमा कहती थी—तुम सब बेहूदे हो, देखकर हँसते हो तो बड़े भद्दे लगते हो, सिद्ध होता है।—पर तुम सुन्दर न होते तो हमें यह गर्व कहाँ से मिलता अक्षत?"

इस तरह जब मनीषा किसी दूर देश से बोलती तो अक्षत हँस पड़ता, 'तुम तो रहस्यवादी हो जाती हो, कुछ जमीन की सोचा करो... स्थूल।' वह कहता और मनीषा की ओर देखता। उसका फेन-सा स्वच्छ शरीर। आकर्षक लगती। और नजदीक से देखता...वह आकर्षण खींचता। और...और निकट जाता तो सब कुछ रहस्यमय हो जाता। जैसे छिछले पानी को उलीचकर फेंकने में मुग्ध हो, कुछ और गहरे में डुबकी लगाने का मोह और गहराई में उतरकर केवल आकंठ डूबे रहने का आल्हाद, न पानी उलीचने की चपलता, न डूब निकलने का आतुर साहस।

एक दिन उसकी आँखों में आँसू थे, "कुछ बताओ अक्षत, क्या हम ऐसे नहीं रह सकते? क्या यह सब जरूरी होता है। और क्या अधिक मिल जायगा? तुम्हीं बताओ..."

सुनकर अक्षत खामोश रह गया था। उसकी आँखों में भाप-सी उमड़ रही थी पर पानी नहीं था। सब कुछ भूलकर मनीषा एकदम बोली

थी, बरसने के पहले के बादल बहुत अच्छे लगते हैं...बस ऐसे ही रहना, इससे ज्यादा कुछ नहीं...'

"बात क्यों उड़ाती हो, सब साफ साफ बताओ..." अक्षत ने पूछा था।

"कुछ भी नहीं, बस ऐसे ही। तुम परेशान मत हुआ करो। मैंने मजाक की थी। इतना भी नहीं सह सकते..." कहकर मनीषा ने बात उड़ा दी, 'तुमसे अच्छा तो संजय है। न जाने इतना क्यों चाहता है तुम्हें। घंटों तुम्हारी बातें करते नहीं थकता। तुम सब कितना सोचते हो एक दूसरे के लिए।' और बात संजय की ओर मुड़ गयी थी।

फिर एक दिन बोली थी, "संजय ने एक खुशखबरी सुनायी है।" सुनकर अक्षत उदास हो गया, बोला, "यह सब होने नहीं जा रहा है। मुझे कुछ भी नहीं चाहिए...न तुम और न दूसरा। मैंने तो माँगा नहीं, बाबा न जाने क्यों परेशान हैं ? तुम्हारे प्रति उनका व्यवहार भी बिगड़ा होगा। कैसे देखते हैं तुम्हें ?"

"जैसे पहले देखते थे। तुम्हारे लिए ही तो सब सोचते हैं। सचमुच कितने भाग्यवान हो तुम, मुझे तो ईर्ष्या होती है। तुम्हारी जगह मैं होती तो सुख उठाते न बनता। तुम जीना भी नहीं जानते। मैं बाबा के साथ चीज़ें पसन्द करके उसके लिए भेजूंगी।"

"तुम यह सब ठीक समझती हो ?" अक्षत ने पूछा था।

"इसमें ग़लत क्या है ? बाबा की बात स्वीकार कर लो अक्षत ! उन्हें दुख देकर क्या मिलेगा ?"

अक्षत हँस दिया था, बोला, "मैं कुछ भी नहीं हूँ ?"

"हो, इसीलिए। मन स्वीकार लेगा। न स्वीकारे तो और कुछ सोचना। पर ग़लत नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं जो औरों को दुखदायी हो..." वह बोली थी।

इतना सब होकर भी कुछ नहीं हुआ था, जैसे दोनों अछूते थे। वे किसी और की बातें थीं। पर कुछ था जो कसक जाता था...न जाने कैसा दुःख। पता नहीं क्या था ! मन में दुख की संज्ञा में अर्थदोष दिखायी पड़ता था। इस परिताप में एक तृप्ति थी। पश्चात्ताप और कुछ खो देने की विक-

लता के साथ ही अदम्य शक्ति। विश्वास पा लेने पर भी रिक्तता। शायद यह रिक्तता ही अटूट विश्वास की कड़ी थी।

टीमटीक दोपहर में मनीषा आयी थी, "चलो नदी की तरफ़ घूम आयें!" गांव की बस्ती के पार की वह नदी! आग बरस रही थी! आखिर नदी का किनारा, उस पार ले जाने वाली नावें स्थिर थीं। दूर का क़स्बा बालू की धूल में छुप गया था। चारों तरफ़ जैसे आग लग गयी हो, और उड़ती रेत का सफ़ेद धुआँ। जगह जगह जैसे शीशों के पहाड़ हों, जिनकी आकस्मिक चमक आँखों की रोशनी छीन लेती है। उजाले का अंधापन! और हवा उन चमकते गर्म शीशों को हिला जाती। नदी की सतह पर किसी ने घी उंडेल दिया था, पानी पर तैरती चिकनाई की चादर! हवा आग के दायरे में घिर कर अकुला रही थी। शून्य, सन्नाटा बोलता था। दोनों एक छप्पर के नीचे बैठ गये थे। उसके नीचे नदी नहीं, लावा बह रहा था।

मनीषा घुटनों पर सर रखे चुपचाप बैठी थी। आंधी आयी थी, और दोनों छप्पर से निकल कर मौलसिरी-वृक्षों के नीचे आ गये थे, सामने ढाल है। सारा शरीर धूल से ढक गया है। मनीषा नज़दीक खींच कर बालों से धूल तिनके बीनती जाती है। उसने पूछा था, "पेड़ गिर पड़े तो?"

"दोनों दब जायेंगे..." अबूझ ने उत्तर दिया।

"मेरे लिए सफ़ेद गुलाब लगवाना।" मनीषा बोली थी

"और मेरी देह से जो भी काम आ जाये, सब ले लिया जाय। मन की आस भी..."

दोनों और निकट आ जाना चाहते थे, पर नहीं। अपनी बनायी दीवारें नहीं तोड़ी जातीं। दोनों सम्पन्न-सन्तप्त खड़े हैं।

"एक बात मानोगी मनीषा?" उसने पूछा था।

"क्या?"

"सिन्धुआनल की तरह मानना पड़ेगा।"

"कब आओगे, बस यह बता दो और सब स्वीकार कर लूँगी।"

"कभी नहीं।" कहते-कहते भीतर का धीरज टूट गया था। पर दोनों चुप थे। जैसे नदी तट पर कोई प्रतिज्ञा करके धार रहे हों। उस पार नावें अभी नहीं खुली थीं, इधर का [illegible] पड़ा था। दूर क़स्बे के स्टेशन पर अब रेल की सीटी गूंज [illegible] पर

नाव का इन्तजार करता दीख पड़ता है। आज शायद कोई भी नहीं आया था।

उठ कर चले आये और पागलों की तरह पतले के वनों की ओर चले गये। बस साथ रहना इष्ट था। अक्षत के पैरों को पतले ने काट दिया था। चरागाह की ओर से घूमते वापस लौटे, तब शाम हो गयी थी।

और तब से आज तक—न अक्षत ने कोई वचन लिया था न दिया था। विन्ध्याचल नत होगा। अकारण। मनीषा क्या देती थी, वह नहीं जानता। क्या माँगती थी, यह भी नहीं जानता। वह सब कुछ उसी पर छोड़ देती थी। जो मन स्वीकारे, वही ठीक। अधिकारहीन होकर अधिकारिणी हो जाती थी।

तेज सीटी की आवाज़ के साथ गाड़ी रुक गयी। चारों तरफ सन्नाटा था। बीहड़ सुनसान में अचानक यह रुकाव कैसा? अक्षत ने आँखें रगड़ लीं। खिड़की से बाहर झांका तो नागफनी की बाड़ दूर तक खड़ी थी। कोई स्टेशन नहीं था। शायद सिगनल का इन्तजार हो। न जाने अपने आप में कैसा लगा। मन भर-भर आता है। डिब्बे में सब सो रहे हैं, कोई भी नहीं जागता कुछ देर बातें ही करता। गाड़ी धीरे-धीरे रेंगने लगी। एक छोटा-सा गाँव सोया पड़ा था। हलकी चाँदनी में छतें और ऊँची ड्योढ़ियाँ चमक रही थीं, छप्परों की किनारियों से दूध भर रहा था। चमकदार बादलों के बीच से कुछ गर्वीली चोटियां झांक रही थीं। मूड़ मट्टी का मैदान चाँदी-सा चमक रहा था......

ऐसे ही रेती चमका करती थी—दोनों किनारों पर फैली हुई रेती। संजय बाँह पकड़ कर कहता, 'चलो अक्षत, अब बहुत देर हो गयी।' और तब चाँदनी के सैलाब में डूबे स्वाप्नल गाँव की ओर देखते रह जाते। चमकदार बादलों में डूबा हुआ गाँव! बचपन बीता और दोनों अलग होकर कितने वर्षों बाद फिर उसी गाँव में मिले थे। अब अक्षत रङ्ग और कागज़ लिये न जाने क्या क्या उतारा करता था और संजय न जाने क्या क्या लिखता रहता। दोनों में न जाने कैसा लगता था, संजय कहता, "अक्षय ये गांव जायेंगे! ये जो कुछ इनमें टूट कर बदल रहा है, इसे रङ्गों में उतारे जाओ...एक इतिहास बना कर रख दो..."

"बड़ा मुश्किल है संजय, बनाते-बनाते नदी का रंग बदल जाता है" ...ज्ञत कहता।

"बदल जाने दो, वह तो हमेशा रहेगा, पर जाल फेंकने से पहले ...छुआरा झुक कर जब अपनी शक्ति तोलता है—उस मुद्रा को लो, मल्लाह ...ब नदी की छाती में बाँस गड़ा कर धारा चीरता है उस पौरुष को लो, ...ज्ञत नदी में दीपदान करती स्त्रियों की श्रद्धा को लो...ये हमारी प्रगति के ...रण हैं। पता नहीं कल कौन सा रूप होगा। ये दृश्य जीवन के किसी और ...प को जन्म देकर खो जायेंगे। इन्हें इनके पूरे अर्थों के साथ उतार ...ो..." संजय कहता था, "तुम्हारी रेखायें और मेरे शब्द! एक जीवित युग छोड़ जायें!"

संजय ऐसा कहता तो वह बहुत ऊपर उठ जाता...कितने रंग, कितने चित्र, मुद्राएँ और भाव! कहाँ फ़ुर्सत है? सारे सामाजिक सम्बन्ध सुविधा के लिए हैं, स्थितप्रज्ञ हो सकने के लिए। आचरण, बुद्धि और वासना के नियमन के लिए। रंगों के साथ सबका शमन हो जाता है, कहाँ कुछ व्यापता है? कोई कमी नहीं खलती।

तब संजय खुद ही कहता' "इस तरह पागल हो जाओगे अज्ञत! वह तुम्हारे लिए आती है और तुम समझते नहीं!"

फिर काफ़ी दिनों बाद एक बार बोला था, "अज्ञत, बहुत भाग्य-वान हो तुम, मनीषा तुम्हारी अतिरिक्त शक्ति है, तुम्हें कभी इस साहसिक जीवन से डिगने नहीं देगी, जहाँ रुकोगे, वह चलायेगी। जीवन कभी हार नहीं पायेगा..."

लेकिन बाबा की बात से संजय ही सचमुच दुखी था। बहुत सोच समझ कर उसने कहा, "अज्ञत, बाबा की बात स्वीकार करके क्या कर पाओगे? तुम्हारे रंगों के बग़ैर हर चित्र अधूरा रह जायेगा। सुबह नदी पर पानी लेने जाती हुई औरतों की धीमी चाल की रेखाएँ जब तक तुम्हारे काग़ज़ पर नहीं उतरेंगी, तब तक उस चाल का सौन्दर्य कहाँ उभरेगा? सौंदर्य तो तुम देते हो, नहीं तो ये अभ्यस्त आँखें एकरसता के अलावा क्या देख पाती हैं? वही रोज़ के दृश्य हैं, पर तुम्हारे रंग उन्हें रोज़ नया अर्थ देते हैं। कौन सी बड़ी सार्थकता है अज्ञत! बाबा की बात या यह उल्लास...जो सबके लिये अनायास तुम्हारे माध्यम से मिल जाता है। कोई सहायक लो, जुआ मत खेलो। हर जुआरी आख़िर में हारता है।"

और तब मनीषा, बाबा और संजय सभी सामने थे। किस पर आँख मूँद कर अविश्वास करे। खुली आँखों तो हर कोई महान दीखता है।

संजय से उसने बहुत अपनेपन से कहा, "तुम सब क्या चाहते हो ?" कुछ भी समझ में नहीं आता। सब जैसे मन की बात हुई जाती है, बुद्धि केवल वहीं काम देती है जहाँ तर्क हो, विरोध हो, अविश्वास हो, रहस्य हो। पर संजय, यहाँ तो सब स्पष्ट है, सब साफ़ है, सब सीधा है। ग्रन्थियाँ तो कहीं नहीं। मनीषा, बाबा और तुम...सभी केले के तने की तरह सीधे और ग्रन्थिहीन...इसी लिए बार बार सरक जाता हूँ। इन तनों में गाँठ होती तो शक्ति आजमाता। विरोध हटाता। स्वार्थ होता तो टकराता। बुद्धि ऐसी जगह बड़ी अशक्त हो जाती है। जो मन से पाता है उसे बुद्धि से जबरदस्ती तर्क जाल में डालकर तोड़ देना बड़ा दुष्कर है...इसीलिए कहता हूँ संजय, विद्रोह और संघर्ष मन की थाती हैं, बुद्धि की नहीं। कोई उलझन मेरे सामने नहीं, पर कुछ इतना विराट और व्यापक सामने है जिसे देखने में दृष्टि हार जाती है। अंतरिक्ष दृष्टि की सीमा है, प्राकृतिक विस्तार की नहीं। रात का अंधेरा भी हमारी दृष्टि की सीमा के कारण है, सुबह तो कहीं न कहीं होती ही है। बस संजय, ये सीमाएँ हैं मेरा सीमित जीवन, सीमित साधन और परिस्थितियाँ। सब कुछ करना चाहता हूँ, सबके लिए करना चाहता हूँ, पर कैसे ? किस तरह संजय ?"

"अनिश्चितता के लिए मन उत्तर नहीं देता। जो मूल्यवान हो उसे उठा लो...यह अन्तर करना पड़ेगा, जो कम मूल्यवान हो उसे छोड़ो... चुनना पड़ेगा अव्रत !" संजय बोला था।

"किसके मूल्य को कम आँकूँ ? कोई तो सामर्थ्य से कम नहीं देता। जिसके पास जो है दे देता है, फिर यह अंतर की बात कहाँ है संजय ! मूल्यांकन करने के लिय अंततः दृष्टि दोष चाहिए। वह कहाँ से लाऊँ ? अपने मन को सँकरा कर लूँ ? शायद तभी किसी पर विश्वास कम हो सकेगा। नहीं तो नहीं। यह नहीं हो पायेगा...नहीं कर पाऊँगा..." अव्रत ने कहा था।

"खुद सोचकर स्वीकार करो।" संजीदगी से संजय बोला।

"सब तो तुम लोगों ने सोचा है, कुछ गलत सोचो मेरे लिए। जो सचमुच सही है उसे अपने अहं में, व्यक्तित्व के झूठे पौरुष पर ग़लत कैसे कह दूँ ? इसलिए कि उन बातों को सही मानते हुए भी व्यक्तित्व

की विशेषता का आडम्बर खड़ा करूँ ? कुछ नया कर जाऊँ ! यह नयापन बहुत पुराना है...आदिम बर्बरता का एक रूप है...यह वैयक्तिक चमत्कार की सामन्ती मान्यता है संजय ! धर्म ने कितने चमत्कार खड़े किये, पर हमें कहाँ पहुँचाया ? भ्रम और अन्धविश्वास में छोड़ गया । चौरासी करोड़ देवताओं के रहते हुए देवताहीन बौद्ध मत फैल ही गया । कोई नहीं रोक पाया । तुम सभी बोधिसत्व हो...किसे इनकार दूँ ?" अक्षत ने बहुत मन से कहा था ।

"इतना बड़ा विश्वास लेकर जी पाओगे ?" संजय बोला, "यह भी भ्रम का दूसरा रूप है ।"

"भ्रम बुद्धिहीन के लिए है" अक्षत आवेश में बोला, "विश्वास लिया नहीं जाता संजय, धारण किया जाता है । शरीर धारण करके हम अन्तिम क्षण तक जी लेते हैं । मेरे या तुम्हारे जी लेने में ही कौन सी दुविधा है ।"

"तुम जी सको, तुम्हारे रंग जी सकें, बस इतना चाहता हूँ । इन्हें धूमिल मत होने देना, इन्हें सीमा में जिलाओ चाहे असीम में—चाहे जिसमें !" संजय की अकुलाहट भरी आवाज़ थी, "चाहे जो स्वीकार करो—बस ।"

एक झटका लगा और गाड़ी रुक गयी । उसका छोटा-सा स्टेशन मदहोश पड़ा था । जैसे उसमें धीरे धीरे चेतना आ रही हो । दूर का आसमान सुरमई होकर चाँदनी पी रहा था । हवा में नमी थी । डिब्बे के एकाध यात्री जागने के क्रम में थे । न जाने मन कैसा हुआ कि लौटने को कहने लगा । यह दो वर्षों का अज्ञातवास क्या क्या देखेगा जाकर ? एक भी पत्र नहीं डाला इस बीच । सब लोग क्या सोचते होंगे ? और सहसा पाकर किस तरह मिलेंगे ? उसने सामान उठाया और उतर पड़ा । प्लेटफार्म पर खड़े होकर इच्छा हुई कि पंख लग जायें और वह गाँव में हो—इस चाँदनी के आसमानी समुद्र से स्वप्न की तरह उतरे । मनीषा बाहों में घेर ले, संजय मार बैठे और बाबा अपने में डुबो लें—

हलकी हवा चल रही थी । सारे कपड़े उतार दे यहाँ से वहाँ तक नंगा हो कर घूमे । जैसे सब अक्षत को वहीं मिल गये हों । कौन पराया है, जिससे शर्म करे । छिपाना रखे । तभी गाड़ी छूट गयी और वह सामान लिये उस छोटे से स्टेशन से बाहर आ गया ।

कुत्ते जाग गये थे। पर दुकानें सोयी पड़ी थीं। कदम उठते गये और पता नहीं किस तरह सारा रास्ता कट गया। वह नदी के किनारे खड़ा था। एक क्षण देखता रह गया...बहता हुआ अथाह पानी! कहीं कगार टूट कर झम से गिर पड़ा। ठेके वाले जाग गये थे और एक बड़ी व्यापारी नाव में ऊँट चढ़ाये जा रहे थे...'उर्र...र...र...र' और फिर छप-छप। नाव काँपी और ऊंट चढ़ गया। सवारी वाली नाव के लिये अभी सवारियाँ नहीं थीं। कह कर वह उसी नाव पर बैठ लिया!

नदी चढ़ी थी। बाँस से किनारा ठेला और अब धार थी। बहता हुआ पानी। सहसा मन अकथनीय बोझ से भर आया। पानी में गँदला-पन और गति थी। झाँक कर देखा। कोई तस्वीर नहीं झाँकती। न जाने कैसा बोध हुआ। अक्षत को लगा कि वह नाहक ही चला आया, न आता तो बेहतर होता। कौन मिलेगा अब? सब पराये हो गये होंगे। सब तस्वीरें मिट गयी होंगी। सारा उल्लास और आल्हाद खो गया। उसे कोई न देखे। मन हटाने के लिये उसने बनाये चित्रों की फाइल निकाली। कितना रंगा है उसने, एक क्षण को भी नहीं बैठा। बीमार न पड़ता तो न जाने कितने चित्र होते। अनगिनत!

पूरब से सुबह हो रही थी। पानी पारे की तरह मोटा था और लहरों के थपेड़े नाव को कँपा रहे थे। दूर किनारा अभी धुँधलके में डूबा था। मन फिर हुलस आया।

विन्ध्याचल अभी नत होगा।
संजय शब्दों के महल में सोया पड़ा होगा।
बाबा आँखों में तस्वीर लिये गुमसुम बैठे होंगे।
और वह जाकर अपने रंगों से सबको भर देगा।

किनारा आते ही मन फिर डूबने लगा। क्या होगा? कौन कैसा होगा? उतर कर एक क्षण सोचा...पहले कहां? संजय की ओर। उससे सब के लिये पूछ पायेगा।

अभी तो संजय के घर का दरवाज़ा आया था। भीतर शब्दों का महल खड़ा होगा! खटखटाया तो बड़े भाई ने दरवाज़ा खोला। संपूर्ण भर लिया। जैसे बोल न पाते हों...'अक्षत...कहाँ खो गये थे, अच्छा किया तुम आ गये...बहुत अच्छा किया तुम आ गये...बहुत वक्त से आ गये अक्षत!' और उन्होंने बाँह पकड़ कर शब्दों के महल के भीतर कर दिया!

एक बार देखता रह गया। चारों तरफ़ कागज़। कागज़ के ढेर आलमारी में, संदूक पर, खिड़की पर, मेज़ पर। और उन पर जमी हुई धूल की पर्त। सचमुच शब्दों का महल खड़ा था। भरा भरा-सा ताकता रह गया। तभी संजय की आवाज़ कानों में पड़ी—'आओ अक्षत...'

आवाज़ ने दिशा दी। उधर कोने में एक खाट पर संजय पड़ा था। कितना लम्बा हो गया और आंखें जैसे निकली पड़ती थीं। मुख पर केवल आंखें थीं। संजय कुछ बोल रहा था और अक्षत ने सब धीरे धीरे सुना...

शब्दों का महल बन चुका था, पर शिल्पी जाने को तैयार खड़ा था। और...और बाबा की आँखों की तस्वीर मिटी नहीं, वे उसे साथ ले गये।

और विन्ध्याचल नतशिर चला गया। लेकिन अक्षत द्वारा दिया मस्तक का शाप उतर गया। अब सूरज रोज़ सुबह सिन्दूर भरता है।

अक्षत ने गहरी साँस लेकर संजय को देखा और फिर खिड़की की ओर। सुबह सिन्दूरी माँग लिए मिलने आ रही थी...मनीषा तो नहीं!... और उस सिन्दूर के बीच डबडबाया-सा गोला उभर रहा था...बाबा तो नहीं!

कहीं भी पानी नहीं था। कोई तस्वीर नहीं थी। पथरीली ज़मीन दूर तक फैली पड़ी थी। एक दूसरी ही सृष्टि थी...

संजय बुदबुदाया, "अक्षत! अब पत्थर पर तस्वीरें आँकना! पानी के रङ्ग चुक गये...इन पत्थरों को तराशना, इनकी मूर्तियाँ गढ़ना!"

अक्षत उन पथराई आँखों को देख रहा था, जो और भी बड़ी होती जा रही थीं!

संजय फिर बुदबुदाया, "मैं जानता हूँ अक्षत! ये पत्थर भी एक दिन चुक जायेंगे, तब तिनके उठा लेना, उन्हें जोड़ तोड़ कर रूप देना, पर हारना मत—"

अक्षत ने संजय की पथराई-उदास आँखों में झाँक कर देखा, उनमें पानी छलछला आया था। एक अक्षय तस्वीर उनमें उभर रही थी। और अक्षत ने काँपते ओंठों से उसके माथे को चूम लिया।

अपने प्यारे कवि
जॉन कीट्स् की याद में

वीरेन्द्रकुमार जैन

●

कीट्स्, कोमल कीट्स,
वह जो काँप-काँप उठता था
सामने पाकर किसी अनजानी लड़की को !
क्या आप उसको हिस्टीरिया कहेंगे ?
न्यूरोसिस कहेंगे, या कि नाड़ी-भंग कह देंगे ?
या कि फिर वह मात्र पल भर का रोमांच-कम्पन था ?
या कि वह हतवीर्य दुर्बल लालसा का
महज़ लाचार, बेक़ाबू उद्वेलन था ?
या कि फिर हवाओं औ' बादलों पर तैरती
दिव्य की वह बीन थी आसमानी,
कि जिसको बजाती है
अनन्त की वह आलोक पंखिनी बेटी
अपनी सपनीली अँगुलियों से :
जो उतरती है समय के फेनायित सागरों की तरंगों पर
रंगों की लीला-केलि रचने को ?

●

मैं कहता हूँ, उस कोमल किशोर को
सामने पाकर स्वयम् सौन्दर्य शर्मा जाता था !
वह किसी आत्म-हारा कुमारिका के
सोये हृदय की पल-पल काँपती सीप में
प्यार का पहला मोतिया सपना था।
वह रमणीत्व की चेतना का
वह सारभूत परिमल साकार था,
कि जिसको देख कर—

रमणियों में कोई सम्राज्ञी भी
ईर्ष्या और मोह से सम्मोहित मूर्छित हो जाती !
कुछ ऐसी सुरीली, कमनीय कजरारी मोहिनी थी
उस अर्ध-नारीश्वर कवि कुमार योगी में।
वह तो वह कोमलतम, सूक्ष्मतम प्याला था आरपार,
जिसे धरती की माटी ने दिया था आकार
केवल एक ही बार :
कि जिसे चुना था परम सर्जक ने
अपनी अमृत-सुरा
मर्त्यों की धरती पर ढालने को।
वह तो उन बहती हवाओं औ' पानियों से बना प्याला था,
कि जिसको रूप देने को
चिर चंचल लहरों औ' वायवी तरंगों ने
थिरता में बँध आना मंजूर कर लिया था !
उस प्याले की लहरीली तहों में
देश, काल और रूप की लीलाएँ,
तारों की रंगीन रोशनियों से
पल-पल बनती-मिटती चित्रावलियों-सी
झलकती रहती थीं !
वह दिशाओं के नीलमों से बना
ऐसा एक विशाल फ़ानूस था,
जो अपने केन्द्र में जलती
अखण्ड सत्य की एक श्वेत लौ को
खण्ड-खण्ड कर, अनन्त रंगों की
उत्सव-लीला में बिखेर देता था।

हाँ, वही परमतम ज्वाला अनवरत जल रही थी
उसके हृदय की बन्द कमल-पाँखों में :
इसी से उस नाजुक सलोने लड़के ने—
उस काम-मोहन देवकुमार ने—

मानवीय सौन्दर्यों, यौवनों और प्यारों के
आयत पर प्रश्न-चिन्ह आँके थे।
हर पार्थिव रूप-सौन्दर्य की
अनिवार्य भंगुरता को देख कर
उसका कोमल हिया कसक-कसक उठता था।
कोई भी धर्म, दर्शन, तर्क-सिद्धान्त, ज्ञान-विज्ञान,
दे नहीं पाये उत्तर उसकी आत्मा के
उस वह्निमान प्रश्न का,
जिसकी ज्वालाओं में वह
दिन-रात जलता रहता था
वह अनन्त के विराट द्वार पर
सान्त की वह चरम चीत्कार पुकार था,
जो सीमा की बाहों में
असीम के रमण की चाह लेकर मचल उठी थी।

हाँ, वह वासना की पीर से विह्वल लड़का
अपने कोमल किशोर सीने में
ऐसा एक ज्वालामुखी,
ऐसी एक प्रलयंकरी आँधी लिए चलता था,
कि जिसको सहने की, झेलने की, थामने की,
तुष्ट करने की सामर्थ्य—
सीमा की किसी भी बेटी में नहीं थी।
वह आग और तूफान थम सकता था
उसी धरती पर,
जिसकी विपुलता और गहराइयाँ,
अन्त नहीं जानती हों, तल नहीं जानती हों!

उसके वे कुसुम्बी ओंठ तरसते थे
ऐसे एक चुम्बन के लिये,

जो कभी टूटना नहीं जानता,
जो कभी छूटना नहीं जानता,
कि जिसके भीतर से स्त्रवित हो
ऐसी एक मादन मधु गन्ध-धारा,
जो आपूरित हो ऐसी-एक सघनता,
विपुलता, तन्मयता औ' अगाध अन्तर-माधुरी से,
जिसका आस्वाद मानव की इन्द्रियों ने
इससे पहले कभी नहीं जाना हो !

❀

आकाशों के शून्यों से तदाकार
उसकी वे बड़ी बड़ी विस्मित, विस्फारित आँखें,
एक अजब आत्मलीन मूर्छा में
उड़ती-तैरती रहती थीं,
अगम अनन्तों के मर्मों की थाह पाने के लिये ।
मानो कि दो अग्निपंखिनी देव-कन्याएँ
अवरुद्ध, जड़ीभूत भौतिक तत्त्व के
वज्र को पिघला कर,
उसे चिरन्तन अविनाशी सौन्दर्य के
तरल प्रवाह को बहा देने को आकुल व्याकुल हों ।
अरे हाँ,
कुछ ऐसा ही राज़ था
उसकी उन मर्म-वेधिनी, भाग्य-वेधिनी आँखों का :
जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि-विवेक की दानिशमन्द दुनिया
शायद कह देना चाहती थी हिस्टीरिया !
कुछ सनातन, चिरन्तन् के दावेदारों का कहना है,
कि उसने केवल इन्द्रियों के, रक्त मांस के गान गाये थे:
कि वह था कवि केवल नश्वर रूप-सौन्दर्यों का,
जो धूल-माटी की भंगुर लीला के
पार नहीं देख पाया था...!—

*** *** ***

...तो चुनौती है मेरी उस शाश्वत, सनातन को,
सारी प्रकट प्रकृति-सत्ता के
उस गोपन स्रोतो मूल को,
यदि वह कर सके अस्वीकार
इस नाना-रंगिणी, नाना रूपिणी
सृष्टि-लीला के अन्तहीन जुलूस को.
जो उसी सच्चिदानन्द अमूर्तेश्वर के
अनाहत आनन्द की अनन्तिनी धारा है।

वह अनियारा तरुण काम-मोहन,
भगवान के उसी दुर्दाम, उद्दाम आनन्द सागर का
देवदूत गायक था :
जो उसकी लहरों की आकाश-वाहिनी
चूड़ा पर निरन्तर खेलता रहता था,
और अपनी समूची सत्ता को —
पल-पल उस आनन्द सागर की
प्रत्येक लहर के साथ तरंगायित,
वलयित, एकतान करता रहता था।

अपनी नाज़ुक, लचीली, सर्वांगी देह-वल्ली में,
(जो किसी लड़की को सामने पाकर काँप जाती थी)।
वह देवों की दिव्य देहों का कल्प-काम लोच
और सर्व-वल्लभ अन्दाज़ लेकर चलता था।—
लोच और सम्मोहन ऐसा कि
जो घोरतम, गाढ़तम, वज्रीभूत
भौतिक तत्त्व को भी—
लाचार कर दे, उसके सपनों और
आविर्भावों की ज्योतिर्मयी जगती में,
उसका मनचाहा आकार लेने को !

निश्चय ही उसने रक्त-मांस,
इन्द्रियों और मन-प्राणों के गीत गाये थे,
लेकिन आत्मा के अतल समुन्दरों की अविराम बेचैनी से गाये थे,
ऐसी कुछ दुर्दाम अनन्तिनी वासना से
विह्वल आलोड़ित होकर गाये थे:
कि जो शान्त नहीं हो सकती थी तब तक,
जब तक वह मुक्त नहीं कर दे
उस मर्म-कक्ष के द्वार को—
जहाँ भंगुर भौतिक की बाहों में,
कल भगवान की अमृता बेटी का
मुक्त रमण होना है !

इसी से तो अपनी चरम-परम वासना को
सिन्दूरी, कल्याणी ज्वाला में,
उसने छार-छार कर दिया था
अपने भौतिक अस्तित्व को।
उसने इन्द्रिय-गम्य की सीमा को तोड़ देने के लिये,
ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सीमान्त बींधे थे;
उसने अपने घायल हृदय की मोह-दग्ध आहों से,
पराजित प्यार की कसकती कराहों से,
मांस की निविड़ता के अतल गर्भ चीरे थे :
भगवान की निर्बन्ध सुषमा का अमृत,
मर्त्यों की बन्दिनी भूमि पर लाने के लिये :
चिर काल की क्षायक भंगुर देह को
चिरन्तन् जीवन का
पारदर्शी भवन बनाने के लिये !

इसी से तो उम्र के केवल इक्कीसवें बरस में
कर लिया उसने मरण का आलिंगन :

मानों कि नाशवान सौन्दर्य, यौवन और प्यार की
विफलता औ, पराजय को
सहने से करके इनकार,
वह स्वयम् मरणातीत अमृत को
अपनी पार्थिव भुजाओं में
बाँध लेने को आकुल पागल हो उठा था !
इसी से तो उसके मरते ओंठ गा उठे थे
यह अमर गान :
'मेरा नाम पानियों पर लिक्खा हुआ है !'
('My name is writ on waters')

कौन कर सकता है उस दावे से इनकार ?
क्योंकि यह सच है कि
कमल अधखिला ही मुर्झा गया था :
फिर भी उसके परिमल औ, पराग ने—
महासागरों औ, आकाशों को पार कर,
जानी हुई पृथ्वी का हर किनारा छू लिया था :
देश-काल के अन्तराल चीर कर
सत्ता में विद्यमान हर मानव-हृदय के
मर्म को अपनी अन्तर-पीर से बींध दिया था !
सर्वकाल के बहते पानियों पर
उसका नाम अग्नि के अमिट अक्षरों में लिख दिया था !

ओरे ओ ! चिरन्तन् सौन्दर्य के अनपहचाने देवदूत,
ओरे ओ ! अबोध बालक अनन्त के,
तू आया था इस भंगुर जगती में,
मर्त्य मानवों के हृदयों में
अमर जीवन की प्यास औ' पुकार जगाने के लिये !

मैं नवीन, भारत का एक तरुण कवि,—

—उस भारत का, जहाँ—
आत्मा का प्रकाश सबसे पहले जागा था—
मैं तेरा जयगान करता हूँ,
मानव की, चैतन्य की नवीन विकास-प्रणालि के
अचीन्हे अजाने पैग़म्बरों के बीच :
कि तूने अपने जलते तारुण्य की मशाल से
छिन्न-भिन्न कर मौत के वज्र-घूँघटों को,
झाँका था मानव-विकास की उस नवीना ऊषा में :
जहाँ आत्मिक और भौतिक तत्त्व
रमण कर रहे हैं एक मुक्त नग्न आलिंगन में—
करने को आविर्भाव,
आश्चर्यों और सौन्दर्यों का एक ऐसा
अपूर्व जगत जाज्वल्यमान,
कि जिसकी परछाईं तक छू नहीं पायी थी,
इससे पहले, मानवी कल्पना की
ऊँची से ऊँची उड़ान !

ओरे ओ मेरी आत्मा के
अभिन्न वल्लभ, अयाने सहचर,
मैं अपने गीतों में तेरा जयगान करता हूँ :
तू—जो फिर से एक बार स्पन्दित हो उठा है
मेरे अंग-अंगों में, मेरे हृदय की कसकती धड़कनों में,
मेरी धधकती नाड़ियों और रक्त-वाहिनियों में :

कीट्स्, कोमल कीट्स्,
वह जो काँप काँप जाता था।
सामने पाकर किसी अनजानी लड़की को ?

मेरे सहचर मित्र

गजानन माधव मुक्तिबोध

मेरे सहचर मित्र,
जिन्दगी के फूटे घुटनों से बहती
रक्तधार का जिक्र न कर,
क्यों चढ़ा स्वयं के कंधों पर
यों खड़ा किया
नभ को छूने, मुझको तुमने ।
अपने से दुगुना बड़ा किया मुझको
क्योंकर ?
गंभीर तुम्हारे वक्षस्थल
में अनुभव-हिम-कन्या गंगा-
यमुना के जल
की पावन शक्तिमान लहरें पी लेने दो ।
ओ मित्र, तुम्हारे वक्षस्थल के भीतर के
अन्तस्तल का पूरा विप्लव जी लेने दो ।
उस विप्लव के निष्कर्षों के
धागों से अब
अपनी विदीर्ण जीवन-चादर सी लेने दो ।

इस विप्लव की चल तडिल्लता की
शैया पर
लोटती हुई बेचैनी की मेरी आँखें
हैं देख रहीं...
प्रश्नों की दानव कांखों
में दबे-घुटे, कैदी उत्तर ॥
पर, ज्यों ज्यों उत्तर के मुख पर
उद्विग्न दृष्टि की किरणें केंद्रित करता हूँ
वे लाल-लाल आंखों से मेरा पीला
मुँह निहार कहते—
"हमको यों गलत न दो उपमा,
तुम अपनी सड़ी गली महिमाओं की
निर्माल्य मालिकाएं
हमको मत पहनाओ ।
ओ, देखो तो उस ओर....।'
और, मैं आँखें फाड़े देख रहा...

उस नीले नीले आसमान की सरहद पर
परिचिता एक कोमल चिड़िया,
जो नित्य तुम्हारे घर आंगन
रोशनदानों में उड़ती थी
घर की आत्मा,
वह दूर क्षितिज पर ठहरी सी
काली बिंदिया
उस नीले-नीले आसमान की सरहद पर
वन-पक्षिराज बन
पंख पसारे उड़ती हुई मुझे कहती,
वह पक्षिराज मुझसे कहता..
'ओ मित्र, तुम्हारे घर आंगन
को शैलांचल—गिरिराज-शिखर
तो होने दो
औ, आसमान सो झुकने दो उसके

मुख पर
इस समय बाल के पूरे नहीं
अधूरे तुम,
कमजोर. .प्रखर होना बाकी,
अब बूटी-दवा बीन देना
कैलाश शिखर होना बाकी,
कैलाश शिखर पर बैठेंगे।

मैं ज्यों-ज्यों उत्तर के मुख पर
उद्विग्न दृष्टि की किरणें केंद्रित करता हूँ
उत्तर का मुख ..
पहले बादल,
फिर बादल में मानव-मुख रेखा ऊर्जस्वल
अव्याकृति, स्वेदांकित,
रक्तांकित-मुख मंडल
धीरे-धीरे आ मेरे इतने निकट कि वह
आँखों पर झुकता आता है,
इतना समीप झुकता कि त्वचा की
रेखाएँ,
रक्तिम घावों में कटी-पिटीं,
मेरी आँखों में उभर रहीं।
वह घाव-भरे चेहरे का कोई सैनिक है।
रण-मैदानों की संध्या में
जब लाल विभा बैंगनी हुई
सँवलाई लाली में डूबी सरिताओं की
थर्राई लहरों के भीतर से उचक-उचक
कलबलाहट-भरी छिपी तकलीफों की
बिजली
या पीड़ा-भरे विचारों की जल-मुर्गी-
स्फुलिंगों की उड़ान
बेचैन कोण बना रहीं,

पीड़ा के उस सरिता तट पर
शत-शताहतों के बिखरे दल में देख मुझे
मूर्छित आहत
अपना गहरा साथी-सैनिक पहचान मुझे
यह जान कि मेरी अभी धुकधुकी
बाकी है
मेरे टटोलने प्राण झुक रहा आँखों में
वह उत्तर ..सहचर सैनिक है।
उसके मुख का
उद्वेग भरा आनन्द भरा
वह रंग
आँख पी लेती है
मुँद जाती है
उत्तर के मात्र स्पर्श ही से
निर्णायक ठंडी गरम झनझनाहट गहरी
तन मन में फैल कि प्राणों में
फन फैला कर अड़ जाती है,
रुँध जाती है
औ' अकस्मात्, जबरन, धक्के से
शिलाद्वार
वह गुहा-द्वार आत्मा का धड़ से
खुलता है।
औ' अन्तर के उस गुहा-तिमिर में
एक सुदृढ़
पत्थर के टेबल पर रक्खे
रक्ताभ दीप की लौ
कुछ हिलती डुलती है
अँधियाले में प्रस्फुटिता
लाल-वलय-शाली
अंगार-ज्योति के नीचे
पीड़ा की पुस्तक के पन्ने स्वयं पलट

जाते।
कालान्तर-अनुभव ग्रंथ
देश-देशान्तर के,
जो पढ़ता हुआ जातवेदस् उद्भट
क्रान्तिदर्शी कोई
बैठा था पत्थर-कुर्सी पर आजानुबाहु,
वह सहसा उठ
आँधी-बिजली-पानी के क्रुद्ध देवता-से
घुस पड़े भव्य उत्तर का अभिवादन
प्रचंड

उससे विशाल आलिंगन कर
सहसा वह बहस छेड़ देता
मानव समाज-रूपान्तर की
विधि-धाराओं में मग्न मानवी-प्राणों के
मर्मों की व्यथा-कथा...अंगार तपस्या पर
मानव-स्वभाव के प्रश्नों पर
मानव-सभ्यता-समस्या पर,

उस गुहा भीत से कान लगा मैं सुनता हूँ
जो बहस कि उससे ज्ञान हुआ—
यह भान कि तुमने कंधों पर
सहसा मुझ को क्यों खड़ा किया...नभ
को छूने
अपने से दुगुना बड़ा किया
जिससे पैरों की उंगली पर
तन कर ऊंची गर्दन कर दोनों हाथों से
मैं स्याह-चन्द्र का फ़्यूज़ बल्ब
जल्दी निकाल
पावन-प्रकाश का प्राण-बल्ब वह
लगा सकूं
जो बल्ब तुम्हीं ने श्रमपूर्वक तैयार किया

विक्षुब्ध ज़िन्दगी की अपनी
वैज्ञानिक प्रयोगशाला में।
उस शाला का मैं एक अल्प-मति
विद्यार्थी,
जड़ लेखक हूँ मैं अननुभवी,
आयु में यद्यपि मैं प्रौढ़,
बुद्धि से बालक हूँ॥
मैं एकलव्य जिसने निरखा...
ज्ञान के बन्द दरवाजे की दरार से ही
भीतर का महा-मनोमंथन-शाली मनोज्ञ
प्राणाकर्षण शाली सुन्दर प्रकाश देखा।
पथ पर मंडराते विद्यालय के शब्दों से
शिक्षा के स्वर-कोलाहल में से छन कर
कुछ
आये वाक्यों से प्राप्त किया...
सब ग्रंथाध्ययन वंचिता मति ने सड़कों पर
ज्ञान के हृदय जाग्रति स्वप्नों को
प्राप्त किया
बचपन से ही,
आश्चर्य-चकित जिज्ञासु-आत्मा चढ़ती
है शत-किरण चढ़ान
शिखर नभ के
छुटपन से ही।
उस मुक्ति-काम बेचैनी में
मैं उन ग़रीब गलियों में घूमा-घूमा हूँ
जिन गलियों में तुम अक्षयवट
ले शत-सहस्र भावना-विचारों के पल्लव
औ जटा जटिल-अनुभव-शाखाएं लिए
खड़े।
जाने कितने जन-कष्टों की पीढ़ियां दुख
की देखी हैं,

तुमने, उस अश्वत्थ से मैं
चिन्ता में अकुलाता झूमा,
बेचैनी के सांपों को मैंने छाती से
उस अश्वत्थ के तने-तने पर रगड़ा है,
वह रगड़ अभी तक बाक़ी है
व्रण-रेखाएं जिसकी
इस छाती पर साक्षी।
ओ अश्वत्थ, यदि तुम न रहे होते
मेरी इन गलियों में
तो अंधकार के सिंधु-तले
पानी के काले थर के नीचे कीचड़ में
अज्ञान-व्हेल की प्रदीर्घ भीषण ठठरी सा
मैं कहीं पड़ा होता सूने में,
किसी चोर की गठरी सा,
रह अंधकार के भूसे सा
निशि-वृषभ-गले ॥

खूंख़ार, सिनिक, संशयवादी
शायद मैं कहीं न हो जाऊं,
इसलिए, बुद्धि के हाथों पैरों की बेड़ी
ज़ंजीरें खनका कर तोड़ी,
तुमने निर्दय औज़ारों से,
टूटती बेड़ियों की नोकों से ज़ख़्म हुआ
औ' खून बहा
यह जान तुरत
अपने अनुभव के गंधक का
चुपड़ा मरहम मेरे व्रण पर तुमने सहसा।
भीषण स्पर्शों की तेज दवा
झनझना गई,
तन-मन की डोरी-रगें झटक झटका कर
तानीं, बना गईं।

जब दीख तुम्हारी आंखों में
मेरी ताक़त बढ़ गई स्वयं,
तुम कर्मवाद के धीर दार्शनिक से लौटे
गंभीर चरण चुपचाप क़दम।
मैं फिर भी अपने घावों में उलझा सा
हूँ
जिससे कि तुम्हारे कुशल अनुभवी
प्राणों की
मुझ को सहायता मिली रहे।

यह जान तुम्हारे माथे की
तीनों रेखाएं उलझ गईं
नभ में त्रिकाल रेखाएं विद्युत की चमकीं
मैंने जब नीली चकाचौंध
वह देखी तो
वे भीषण होकर गरज गईं
झूठे अवलम्बन की शहनाई मूक हुई
भावुक निर्भरता का संबल दो टूक हुआ,
देखा... सहसा मैं बदल गया,
भूरे निःसंग रास्ते पर
मैं अपने को ही सहला गया।

मैंने छोटे निज जीवन में
जी ली हैं अनगिन जिन्दगियाँ।
जिन्दगी हरेक...
प्रज्ज्वलित चन्दन का ईंधन,
मेरी धमनी में जलते चन्दन का धूँआँ,
छाती के रेशे रेशे में
उसने घुस-फंस कर की काली
धड़कन मेरी।

पर वह काजल है चन्दन का ।
यह सवलाया कलियाया मुँह
है स्नेहभरी चिन्ता में शाल्मलिवृक्ष
तले
उद्विग्न खड़े बनवासी दुर्धर अर्जुन का
जिसके नेत्रों में चमक उठे,
चन्दन के पावन अंगारे,
जो सोच रहा क्यों मानव के
इस तुलसीवन में आग लगी,
क्यों मारी मारी फिरती है
मन की यह गहरी सज्जनता,
दुख के कीड़ों ने खाई क्यों
ये जुही-पत्तियां जीवन की,
निर्माल्य हुए क्यों फूल युवक-युवती
जन के
क्यों मानव-सुलभ सहज आकांक्षाओं
के तरु
यों ठूँठ हुए वृन्दावन के,
मानव-आदर्शों के गुम्बद में आज यहां
उलटे लटके चिमगादड़ पापी
भावों के ।
क्यों स्वार्थ-घृणा-कुत्सा के
बीहड़ जंगल में
हैं भटक गये ये लक्ष्य
पुराने पाँवों के ॥
क्यों घर-आंगन की मौन अकेली
छाया में
चिन्ता के प्रेत
सियाह बदन,
हैं झूल रहे...
आवाज कहीं उस झूले की

धँसते हिय की हिलडोल बनी
लोहे का गार्डर छत पर का
छाती पर धम से आ धमका
किस कारण से ?
वह कारण, सामाजिक जंगल का
घुग्घू है,
है घुग्घू का संगठन, रात का तम्बू है ॥
यह भीतर की जिन्दगी नहाती रहती है,
हिय के विक्षोभों के खूनी फव्वारों में,
अंगारों में !
इस दिल के भरे रिवाल्वर में
बेचैनी जोर मारती है इसमें क्या शक ।
क्यों मशीन के ताक़तवर उस
पिस्टन की सी दिल की धक-धक,
उद्दाम वेग से चला रही
ये लौहचक्र
मन-प्राण-बुद्धि के विक्षोभी ।
यह स्याह स्टीम-रोलर जीवन का, सुख-
दुख की
कंकर गिट्टी यकसां करके,
है एक रास्ता बना रहा युग के मन का,
मेरे मन का ॥

रास्ते पर इस...
मानव,व्यक्तित्व कदम्बों की शीतल छाया,
विद्रोहों की बांबियाँ,
विक्षोभी मन का बल,
छाती में मधुमक्खी का छत्ता फैला है
जो अकुलाया,
औ' दंशतत्परा मधुमक्खी के दल-दल ।
रस-मर्मज्ञाओं की सेना स्नेहान्वेषी,

पर डंक सतत तैयार, बुद्धि का नित संबल ।
मधुमक्खी दल ने ज़िन्दगियों के फूलों से
रस-बिंदु मधुर एकत्रित कर संचित रखने
मेरे प्राणों में अग्नि-परीक्षाओं से गहरे छेद किये
छाती मधुपूरित अनगिन छेदों का जाला,
आत्मा में मधुमक्खी का है छत्ता फैला ॥
मानव व्यक्तित्व-कदम्ब तले
मधुमक्खी छत्ते के जाले,
तुमसे सीखा कैसे ये पाले जाते हैं,
मेरे दिन, मेरी रातों में
ओ सहचर मित्र, तुम्हारे दिन हैं,
रातें हैं ।
मेरे भीतर
मानव-व्यक्तित्व कदम्ब-तले,
तरु के गंभीर तने पर चाकू से लिक्खीं
काटीं, खोदीं, वाक्यावलियाँ जिन्दगियों ने ।

जिन्दगी हरेक... निजत्व लिए पलकें खोले,
अपना-अपना व्यक्तित्व लिए
अलकें खोले
अन्तर के तरु की शाखा-शाखा पर प्रतिपल
चाकू से काट काट, चित्रित करती हैं
गहरा संवेदन ।
मानव-व्यक्तित्व-कदम्ब तले,
(गंभीर रात्रि में) आकर के, चुपचाप सिमिट,
अकुलाहट की चांदनी
सरल, निर्व्याज सुखी
तरु-तने खुदीं वाक्यावलियाँ
पढ़ती है बहुत ध्यान से, तब
पढ़ते-पढ़ते अक्षर दल से,
उमड़ीं चन्दन की ज्वालाएँ,
पावनता की विक्षुब्ध रश्मियां भभक उठीं,
ये खोदे गये मर्म-सारांश भभकते हैं
बस इसी तरह
अर्थों की गहरी ज्वालाएं दिन-रात
निकलतीं इसी तरह,
माधुरी और करुणा में भीगी रहकर भी
हिय के भीतर की शिलालेख चट्टान,
गर्म रहती ही है ।
संघर्ष-मार्ग इतिहास-मर्म कहती ही है
ओ मेरे सहचर मित्र,
क्षितिज के मस्तक पर नाचती हुई
दो तड़िल्लताओं में मैत्री रहती ही है ।

समतल

मिश्र है, यूनान है, वह रोम है,
यह रहा भारत, वहां है चीन वह,
एशिया, यूरोप, विस्तृत आफ्रिका,
युक्त अमरीका, अनेक-अनेक वे
एक को सब दूसरे हैं छू रहे।
ये इधर के सिन्धु गिरि वन और नद
उधर के भी हैं सदा से एक-से।
स्वजन कब होते कहीं परकीय हैं?

गहन गहरे में अगोचर रूप से
सूक्ष्म गति कैसे कहां बहती हुईं
एक ही जीवन-शिराएँ अन्य के
प्राण में समरस निरंतर ढालतीं।
एक ही पाताल से उठकर स्वयं
आ रहा है एक ही पय मृदु मधुर।
झड़ रहा नभ से अमल आलोक यह
बृहत् बूँदों में निरन्तर एक-सा।
सत्य शाश्वत एक ही, तब तो सदा,
एक को देखे बिना ही दूसरे
सिद्ध बुद्ध मसीह पैगम्बर विबुध
पा सके हैं, पा रहे हैं सब कहीं।

पूर्व या पश्चिम कहीं भी तीर्थमय,
सिंधु समतल हैं सकल संसार के।

सियारामशरण गुप्त

मृत्यु के
सुन्दर और असुन्दर
चेहरे

●

लघुकथा, कहानियाँ, एकांकी, शब्द-चित्र

एक शिखर पर दो आत्माएं

'सत्य'

एक बार हिन्दुस्तान के दो महान दार्शनिकों की पवित्र आत्माएं बर्फ से ढके हुए समय के एक ऊंचे पहाड़ पर मिलीं।

पहली आत्मा ने दूसरी आत्मा का अभिवादन करते हुए कहा, नमस्कार श्रीमान ! आपके आन्तरिक शाश्वत हर्ष में, मैं अपनी प्रसन्नता सम्मिलित करता हूँ।

दूसरी आत्मा, जो बिलकुल शांत थी, उसमें एक स्पन्दन हुआ, और वह बोली—मेरी प्रसन्नता के अनन्त कारणों में वृद्धि करने वाले तपस्वी, मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

कुछ देर ठहरने के बाद दूसरी आत्मा ने पहली आत्मा से कहा,—आज हम बहुत दिनों के बाद मिले हैं ! आओ हम कुछ समय तक एक साथ बैठें। और उन बातों की चर्चा करें, जो हमारे गत जीवनकालीन विरोधों के बावजूद भी दिलचस्प हैं !

फिर वे आपस में इस प्रकार बातचीत करने लगे।

दूसरी आत्मा—मृत्यु जीवन का कितना करुण उपसंहार है। मुझे आज ऐसी ही एक घटना याद आ रही है। इसी पहाड़ के नीचे से जब मैं एक बार गुजर रहा था, तब मैंने एक स्त्री को अपने पुत्र की मृत्यु के दुख में बिलखते देखा था। उसने मुझसे उस छोटे से जीव को जीवित करने की प्रार्थना की।

पहली आत्मा—हाँ, महोदय, मृत्यु शाश्वत सत्य की तरह हर जगह व्याप्त है। मुझे भी वह घटना याद है, जब कि एक महिला अपने मृत शिशु को जीवित करने के आग्रह सहित मेरे पास आई थी।

दूसरी आत्मा—तब, उस समय, मैं करुणा से आर्द्र हो आया। अपनी तपस्या तथा व्यक्तित्व की परम इच्छा के अनुसार मैंने उस बालक को ज़िन्दा कर दिया।

पहली आत्मा—मैं ऐसा नहीं कर सका। मैंने उस महिला से, किसी घर से ऐसे चावल के दाने लाने के लिए कहा, जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। वह प्रत्येक घर में भिक्षा माँगने गई, पर उसे ऐसी कोई जगह नहीं मिली, जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो!

दूसरी आत्मा—जब मैंने बालक को जिन्दा कर दिया तो उस स्त्री का हृदय आनन्द से भर गया। उसने कृतज्ञता सहित मुझे नमस्कार किया। पहला बार उसने मृत्यु का यह स्वरूप देखा था।

पहली आत्मा—उस महिला को जब सहज सत्य का ज्ञान हो गया, तो मुझे बड़ा संतोष हुआ।

कुछ समय तक वे दोनों मौन रहे। इसके पश्चात् सूर्य के गहरे प्रकाश में दोनों आत्माएं विलीन हो गईं।

मैंने ओस की दो सुन्दर बूँदें देखी। एक फूल पर मुसकरा रही थी। दूसरी पौधे की जड़ के समीप नृत्य कर रही थी!

कहानी

अँधेरे की आँखें

श्रवणकुमार दिव्य

मैं उसकी व्याकुलता को क्या जानूँ! उसके और मेरे बीच 'पशु' और 'मानव' होने की खाई जो है।

सुबह उठते ही देखा कि डाक-बंगले के बरामदे में एक बकरी ठिठुरी हुई, निरीह-सी, एक कोने में सिमटी बैठी है। पहाड़ी इलाक़ा था, शायद इसी से अपने रेवड़ से छुट गई थी। बाहर जोर की वर्षा हो रही थी पार्श्व में नदी घोर गर्जन कर रही थी और इससे उस जीव की ठिठुरन निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

मुझे देखते ही वह सहम गई। चाहती तो यह थी कि उसी कोने में समा जाए, पर मजबूर थी। दोवार उसे जगह नहीं दे रही थी। लेकिन फिर भी वह सिमटी ही जा रही थी। मानो, उसको मुझसे कुछ आशंका थी, भय था, त्रास था और वह उसका अतीन्द्रिय मन से अनुभव कर रही थी। फिर मेरे सामीप्य का अभास पा वह एकाएक उछल कर उठ खड़ी हुई। अपने काल्पनिक व्याघ्र के प्रति अनादर से बैठे रहने में उसका कोई बचाव नहीं। आँखें उसने घुमाकर सफ़ेद कर ली थीं, लेकिन भागे तो कहाँ भागे? टाँग उसकी टूटी हुई है, वातावरण पर उसका वश नहीं, और उस पर उसका कोई सहचर नहीं, कोई रक्षक नहीं।

कुछ देर यों ही छिटपिटाने के बाद एक क्षण आता है जब अकस्मात सारी दृष्टि बदल जाती है। न जाने कैसे, वह पङ्गु जीव मुझे ही अपना सहचर, अपना रक्षक समझ बैठा और सहानुभूति पाने के लिए मेरे पास सहज ही आ खड़ा हुआ मैं उसे कहता तो क्या कहता? हाँ, उसकी नरम-नरम, रोएँदार, गरदन को सहलाते हुए मैंने उसे मन ही मन सांत्वना दी—"भई, तुम्हारे मन में मेरे प्रति यह अविश्वास क्यों?" और जैसे कि मेरे मूक शब्द उसके अन्तस् तक अनायास ही पहुँच गए हों, वह उनका अनुमोदन करने के लिए धीरे-से मिमिया उठी।

ऐसे ही खड़े-खड़े मैं उसे एकटक देखता रहा। उसके काले रूप में वह जो चमक थी, मुझे बहुत प्रिय थी। उससे मैं कहना तो बहुत कुछ चाहता था, लेकिन किस भाषा में कहूँ? वह, जो उसके और मेरे बीच अगम्य है, उसे कैसे पूरा जाए? मैं उससे पूछना चाहता था कि अरे, क्या तुम सारी रात ऐसे ही ठिठुरती रही? क्यों नहीं तुम मेरे पास आ गई? तुम्हें इस अँधेरे में डर नहीं लगता? और तो कुछ नहीं कर सकता, लाओ तुम्हारी टाँग रूमाल से बाँध दूँ। और अपनी जेब से रूमाल निकालते हुए मैंने उसे पुचकारा। लो, वह तो मेरी भाषा समझती है! क्योंकि रूमाल को को देखते ही उचक-उचक कर वह मेरे आलिङ्गन में आ जाने के लिए व्याकुल होने लगी। उसके मन का आदिम भय भाग गया।

दूर, मानो अन्तरिक्ष में, कोई व्यक्ति अपनी धोती का लङ्गोट बनाए उस व्यग्र, पहाड़ी नदी की शिलाओं में से अटकी हुई लकड़ियाँ निकाल रहा

है। वह अपने कार्य में बड़ा दक्ष मालूम होता है, क्योंकि ऐसी नदी से ऐसा खिलवाड़ करने के लिए असाधारण साहसिकता आयोजित है। वह बड़ी स्फूर्ति से इस शिला से उस शिला पर छलाँग लगाता है। जरा-सी असावधानी उसकी मृत्यु का कारण हो सकती है।

व्यक्ति ने शायद देख लिया कि कोई यात्री डाक-बंगले में ठहरा हुआ है। पास आकर, उसने झुक कर, मेरा अभिवादन करते हुए पूछा—

"साहब इधर ठहरेंगे ?"

"हाँ, पैदल चलते-चलते बहुत थक गया हूँ; इसलिए आज रात यहाँ आराम करने का ख्याल है।" मेरे स्वर में कुछ रूखापन था।

लेकिन वह इसके तनिक भी अप्रतिभ न हो गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"तो साहब, बन्दा ताबेदार है। वह सामने मेरा होटल है। जिस चीज की जरूरत हो, फौरन् हुक्म दें......हाँ, तो आज दोपहर को क्या खाएँगे ? सब्ज़ी, दाल, शिकार—जो आपका हुक्म हो ?"

मैंने संक्षिप्त में बताया कि मुझे साधारण भोजन चाहिये। इससे शायद उसे कुछ निराशा हुई, लेकिन फिर भी अपने आन्तरिक भाव को छिपाते हुये बोला—"खैर जो भी आप चाहें ! अच्छा, अब चाय लाऊँ ?"

मेरी 'हाँ' सुनकर वह जल्दी से चलने को हुआ। लेकिन मैंने उसे एकाएक टोका—"दरिया से इस तरह लड़कियाँ निकालते तुम्हें डर नहीं लगता ?"

"डर !" उसने ईषत्-सी हँसी हँसते हुए उत्तर दिया—"डर किस बात का ? उस भगवान् को जो मंजूर है वह तो हो कर ही रहेगा !"

"कहाँ के रहने वाले हो तुम ?" मैंने अपनी प्रश्नावली आरम्भ की।

"पञ्जाब का।"

इस पर मैंने उसका साहस बढ़ाने के विचार से पञ्जाबी में ही बोलना शुरू किया, लेकिन उसके ढङ्ग में कोई परिवर्त्तन न आया।

"तो इधर, इस इलाके में, तुम्हें कोई खास फायदा है ?"—मैं देख रहा था कि मेरे विश्राम-गृह और उसके होटल के अलावा वहाँ और कोई

सिर छिपाने की भी जगह न थी। हाँ, पास ही हेसी लोगों के (कुल्लू घाटी की खानाबदोश जाति) एक-दो खेमे जरूर थे।

"फायदा क्या होगा ? इधर आते-जाते मुसाफिरों की सेवा हो जाती है !" उसकी भाव-भङ्गिमा से निर्लिप्तता टपक रही थी।

"बेटा है तो चालाक !" मैंने मन-ही मन कहा।

लेकिन इस वार्तालाप के बीच हम उस बकरी को तो भूल ही गए थे। मानो वह हमारे वार्तालाप में एकाग्रचित्त हो अपने भविष्य का निर्णय सुन रही थी क्योंकि उसके कान तो खड़े थे और आँखें उसकी टुकुर-टुकुर हममें कुछ कौतुक देख रही थीं। होटल वाले का हिलना था कि वह छपाक से उछल कर एक तरफ हट गई। होटल वाले का कौतूहल जागा—"अरे, यह बकरी किसकी है ?"

"पता नहीं ! रात से यहीं पड़ी है। बेचारी की टाँग किसी ने तोड़ दी है।"

होटलवाला कुछ-एक क्षण असमंजस में पड़ा रहा फिर एकाएक बोला—"ओ हाँ, इसको तो मैंने वहाँ बाँध रखा था, यहाँ कैसे आ गई ? कल ही तो इसे एक कुआल (गड़रिया) से दस रुपये में खरीदा है।"

और यह कह कर वह जिस से तीव्रता नदी से मेरी ओर लपका था, उसी तीव्रता से उस भीरु जीव पर लपका, और उसे दौड़ाता-धमकाता अपने होटल की ओर ले गया।

चाय पीने मैं होटल स्वयम् ही गया ! देखता हूँ सामने वाली उच्च श्रेणी की छाया में एक छोटी सी दुकान है जिसके मस्तक पर कोई बोर्ड तो लगा नहीं है, और न ही उसमें चोरी-डाके से बचने के लिए कोई दरवाज़ा ही है। हां दरवाजे के नाम पर एक झाँझर टाट का टुकड़ा ज़रूर लटका हुआ है। दुकान का नक़्शा तैयार करने के लिए किसी ड्राफ्टसमैन की जरूरत भी नहीं पड़ी। खुद ही सुविधानुसार पत्थरों के छोटे-बड़े टुकड़े चुन कर उसे तैयार कर दिया गया है।

यह असल में दुकान होटल है, क्योंकि इसमें खाने-पीने से लेकर सूई-धागे तक, प्रत्येक वस्तु प्राप्य है। इधर कढ़ाई से धुआँ उठ रहा है, तो उधर एक कोने में रस्सी पर गोश्त सूख रहा है। यहाँ एक खूंटी से नाड़े

लटक रहे हैं, वहाँ गठरी में कपड़े के थान बँधे पड़े हैं। आपको क्या चाहिए, रात काटने के लिये दो-गज़ जगह? वह भी आपको दो आना देने पर मिल सकती है। यदि गरम कपड़े नहीं हैं तो आप चूल्हे के पास, उस की गरमाई तपते-तपते सो सकते हैं। ख़ैर!

दुकान में प्रवेश करते ही मेरी आवभगत में दो-एक स्वर उठे। उनमें उदात्त स्वर एक युवक का था। वैसे वहाँ एक श्मश्रुधारी, सुदृढ़ संन्यासी भी बैठे थे, जिनके चेहरे पर मेरे वहाँ होने से कोई प्रकाश-भाव परिलक्षित नहीं किया जा सकता था, क्योंकि वे आँखें मूँदे भजनगान कर रहे थे। मुझे भूमि पर आसन लेते देख वह युवक बड़ी उत्कंठा से बोला—"क्या दूँ महाराज?" और फिर मेरा संकेत पा बड़े अन्दाज़ से एक गिलास चाय बनाने लगा। मुझे समझते देर न लगी कि यह उस प्रौढ़ व्यक्ति का सहकारी है।

"साथ खाने को क्या दूँ, पंडत जी?" उसने उस प्रौढ़ व्यक्ति से परामर्श लिया।

वास्तव में, वह 'पंडित जी' नामधारी व्यक्ति उस समय भागवत-परायण कर रहा था, और यह प्रश्न शायद उसके 'मनन' में बाधा था। इसलिए इसे सुनते ही पार्श्ववर्ती नदी की गर्जना को अपनी गर्जना में डुबाता हुआ बोला—"देख नहीं रहे, मैं पाठ कर रहा हूँ? ये कुछ खाएँगे भी?"

मैं समझ गया कि परोक्ष रूप से यह आक्रोश-शर मेरी ओर ही छोड़ा गया है। अपनी भूल सुधारते हुए मैंने कहा—"नहीं जी, जो तुम खिलाओ, खा लूँगा।" सुनते ही उस 'पंडत जी' की पूरी बाछें खिल गईं और अपने हाथ की जीर्ण पुस्तक को एक तरफ़ रख पूरे मनोयोग से मुझ में रुचि लेने लगा।

"हाँ, आप कह रहे थे", उसने बखान करना शुरू किया, "कि दरिया से लकड़ी निकालते वक्त मुझे डर नहीं लगता! बात असल में यह है साहब, कि जान को जोखों में डाल कर ही सब कुछ किया जाता है। पेट का मामला तो ठहरा। इधर ये लकड़ियाँ बहती आती हैं। इनका कोई वाली-वारस तो है नहीं, सो हम..."

वह बात खत्म भी न कर पाया था कि किसी ने उसे टोक दिया। तीन-चार बच्चे बारी-बारी से सिगरेट का एक टुकड़ा पीते दुकान के बाहर खड़े कुछ कुनमुना रहे थे। संकोच और भोलापन उनके चेहरों की गुलाबी

से मिलकर एक निराली छटा ला रहा था। पंडत जी ने उनको देखते ही पहले तो उसने दिखावे की लोरी भरी, और फिर मुझे उनके भुनभुनाने का अभिप्राय बताते हुआ बोला—"दो जी, इनको एक-एक पैसा; ऐसे ये जान छोड़ेंगे !"

मैंने पूछा—"बच्चों, क्या चाहिए ?"

"हाँ, पैयसा"—उनका समवेत स्वर सुनाई दिया।

मैंने सबको एक इकन्नी दे दी !

उनके हाथ में इकन्नी देखकर 'पंडतजी' को रोमाँच हो आया। झट से अनुरोध हुआ—"लाओ बच्चो, तुम्हें मिठाई दें।"

सहकारी युवक बाहर लकड़ियाँ फाड़ रहा था। उसने साधारणतः 'पंडत जी' की ओर देखा और चुप हो रहा।

'पंडत जी' अन्तर्यामी के समान कह रहा था—"जाएंगे कहाँ ! लाएंगे तो यहीं न !"

मैंने उसके मन की थाह लेनी चाही। व्यंग्य किया—"तुम तो पंडत जी, यहाँ के सेठ हो। नहीं, सेठ की तिजोरी हो !"

पर वास्तविकता उसे कटु न लगी। अपने दंतहीन मुँह को खोलते हुए बोला—"मैं ठीक कहता हूँ—ये जाएंगे कहाँ !—लाओ, लाओ बच्चो, मिठाई नहीं खाओगे आज ?" उसने अपना रुख उधर मोड़ लिया था।

बच्चे विमूढ़-से, ना-नुकर करते हुए बड़ी सरलता से मेरी ओर देखने लगे।

मैंने कहा—"क्या तुम्हें गाना आता है ? गाओ। और पैसे मिलेंगे !"

"'पंडत जी' ने समझा, शायद मध्यस्थता की जरूरत है, बोला—"अरे साहब, इनसे क्या सुनना। इनकी बड़ी बड़ी बहनें हैं..."

"अच्छा !" मेरा कौतूहल जागा। "ये लोग काम क्या करते हैं ?"

"काम ?" मेरे कौतूहल को बनाए रखते वह बोला—"ये हेसी लोग हैं। काम इनका यही है—बस, नाचना, गाना, और जब देखा कि आपकी जेब में कुछ है तो यूँ हो जाना—" और उसने अपनी अंगुलियों से एक अश्लील संकेत किया।

मैं कुछ सकुचाया भी, लेकिन वह कौतूहल जो जागा था—"तो जैसा सुनता हूँ, यहाँ की फिज़ाँ ही खराब है !"

"अरे, आप तो सब कुछ जानते हैं।" उसने अपनी आँख मारते हुए झट से उत्तर दिया—"बन्दा आपका हर तरह से तावेदार है!"

इस समय तक के श्मश्रुधारी संयासी अपना भजन-गान समाप्त कर चुके थे, और इस स्थिति का अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोले पर्यवेक्षण कर रहे थे। एक दो बार इस पर उन्होंने अपना मतामत प्रकट करना चाहा भी, लेकिन चुप हो रहे।

इसी बीच कहीं से बकरी ज़ोर से में में कर उठी। दुकान का वातावरण एकाएक स्तब्ध हो गया। 'पंडत जी' अन्दर ही अन्दर आवेश में आ गया, सहकारी युवक एकदम सतर्क हो गया; सन्यासी की बड़ी-बड़ी आँखें फैल कर और बड़ी हो गईं और मुझमें भी एक प्रकार की दृढ़ता आ गई। क्या हुआ? सबके चेहरों पर यह प्रश्न-सूचक चिह्न था। "वोह! वोह!" बाहर खड़े बच्चों में हलचल सी मच गई, और वे बार-बार ऊपर एक चट्टान की ओर इशारा करने लगे। देखा—बकरी, रस्सी से बंधी, गले में फंदा लिए, एक बड़े से पत्थर से लटक रही है।

'पंडित' जी दौड़ा, सहकारी युवक दौड़ा, मैं दौड़ा और मेरे पीछे-पीछे सन्यासी भी द्रुत गति से चले आए।

बकरी के गले से रस्सी खोलते ही 'पंडित जी' में, काठिन्य का उद्भव हुआ। तुरन्त अपने सहकारी को आदेश दिया—"दौड़ कर नीचे से छुरी ले आओ, इसको अभी बना लें, नहीं तो—"

यह सुनते ही मेरे अन्दर कुछ हौल-सा उठा। सन्यासी ने अपनी आँखें मूँद लीं।

सहकारी युवक ने धीरज से काम लिया—"इसको ज़रा होश में लाने की कोशिश तो करो!"

वह मुमूर्षु जीव। उसकी रुकी-रुकी साँस फिर चलने लगी। आँखों में उसके नीर था, और वह अपनी व्यथा को कई प्रकार से व्यक्त करना चाहती थी!

संध्या समय।

ग्रीष्म ऋतु है। शरद ऋतु होती तो यहाँ बरफ़ की कई-कई परतें जमीं होती। फिर भी मेरे जैसे मैदान से आए व्यक्ति के लिए यह शरद ऋतु

ही है। उतरती संध्या के साथ-साथ ठंड क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती चली जा रही है। आकाश को देखकर सहज ही आशंका होती है कि आज रात वर्षा फिर होगी।

इधर देसी लोगों के खेमों से जो धुआँ उठता है, वह वहीं ऊपर जम जाता है। पास ही खड़े उनके खच्चर कभी-कभी हिनहिनाते हैं, और कुत्ते भौंकते हैं, लेकिन यह सब नदी की गर्जना में विलीन हो जाता है। 'पंडित जी' की बकरी भी इन खेमों के पास अपनी तीन टाँगों पर लँगड़ाती घास चर रही है।

एक खेमे के अन्दर डफ पर नृत्य का पूर्वरंग आरम्भ होता है। नूपुर ठुनठुना उठते हैं। भारी-भारी कदमों की थाप सुनाई देने लगती है। फिर एक साथ दो आवाजें उठती हैं। स्पष्टतः वे स्त्रियों की हैं। एक और आवाज़ उनका अनुसरण करती है। इसमें न सोज़ है, न गद्गद् भाव, केवल एक लय है। वह एक देसी युवती है। गाना गा कर किसी को बार-बार प्रेम का उलाहना दे रही है। अब यह नाच और गाना पराकाष्ठा की ओर पहुँच रहा है। 'पंडित जी की' आँखों में लाल डोरे खिंच आए हैं। वह भर-भर लुगड़ी (स्थानीय नशीला पेय) के कटोरे पी रहा है। उसके सामने उसका एक समवयस्क देसी बैठा है जो उसको पीए जाने के लिए उत्तेजित जा रहा है। घनी हैं, छोटे-से चेहरे की गालें पिचकी हुई हैं, और एक आँख में सफेदी आई हुई है। इस पर जब वह हँसता है तो एक अजीब कैफ़ियत पैदा होती है। उसकी बगल में दो बुड्ढी औरतें कानों में बालियाँ डाले डफ बजा रही हैं, और उनके साथ, आपस में सट कर कुल्लू की दो नवयौवनाएँ बैठी हैं। सन्यासी और सहकारी युवक दुकान में बैठे सुल्फा पी रहे हैं।

डफ बजे जा रही है, नूपुर ठुनठुनाए जा रहे हैं, और कोई ऊँचे-नीचे स्वर से एकरस हो गाए जा रहा है।

नदी यह सब कुछ देख रही है, और सुन रही है और ज़ोर-ज़ोर से अट्टहास कर रही है!

विश्राम-गृह के बाहर अंधकार घनीभूत हो गया है, लेकिन इस अंधकार की भी मानों आँखें हैं।

वे आँखें मेरी ओर बढ़ती ही चली आ रही थीं! मैं अपने बिस्तर पर

लेटे-लेटे सहसा चौंक पड़ा। यह क्या ? वे आँखें कुछ कहती भी नहीं, बस निर्निमेष देखे ही जाती हैं। उनमें वे ही लाल-लाल डोरे ! मैंने पहचाना। 'पंडत जी' ! हाँ ! क्या चाहिये ? कोई जवाब नहीं ! फिर प्रश्न किया। इस बार टार्च के अपसारी प्रकाश की वर्द्धमान रेखाएँ तीन चेहरों पर क्रमशः रुकीं। कौन ? वही हैसी नर्तकी ? वे ही दो नवयौवनाएँ ? मुँह से कुछ बोलती नहीं, यंत्रचालित-सी खड़ी हैं।

बोलो, बोलो, क्या चाहिए ?

गुफाओं और कन्दराओं से प्रतिध्वनि करता एक दयार्द्र, करुण स्वर— पैयसा !

बोलो, बोलो, क्या चाहिए ?

गुफाओं, कन्दराओं से प्रतिध्वनि करता एक दीर्घ स्वर—पैयसा !

फिर सन्नाटा ! नदी में अपूर्व उफान उठा, मानो उसमें सब कुछ समा जाएगा। 'पंडत जी' में भी उफ़ान उठा और उसके साथ एक चीख़।

"देख क्या रही हो !"

और जैसे कि एक दो तीन शरीरों की नग्नता ने मुझे घेर लिया।

"पंडत", मैं काँपता हुआ उठ खड़ा हुआ। लेकिन ये अंधकार की आँखें जो थीं, जरा भी न झपकीं, किन्तु विरत होकर पीछे हट गईं। मेरी कंपकपी बढ़ती गई, और साथ-साथ इसके मुझमें दृढ़ता जागी।

"ठहरो !" मैंने कड़क कर कहा।

लेकिन वह जो भागा तो सीधे होटल ही जा कर रुका।

मैं प्रकृतिस्थ हुआ, पर इस दशा में नींद असंभव थी। अनिष्ट की आशंका थी। उसके पीछे-पीछे हो लिया।

दुकान पहुँचाते ही उसने टाट तान लिया। मैं दम साधे बाहर ही खड़ा रहा।

सहकारी युवक शायद सन्यासी के लिए सोने की व्यवस्था कर रहा था। उसने 'पंडतजी' का चेहरा देखा और सब कुछ समझ गया।

'क्यों, काम नहीं बना ?' उसने धीरे से पूछा।

बादल जो देर से बरसना चाह रहे थे, एकाएक वेग से बरस पड़े। "तेरी जो शक्ल देख कर गया था !"

"मेरी शक्ल ?"

“हा मरदूद, तेरी शकल !”

“धैर्य धरो बेटा !” सन्यासी अपने अधिष्ठान से बोले

“आप ही रक्षा करो, नारायण !” ‘पंडत जी’ ने याचना की।

“आप को यहाँ कुछ दिन ठहरने के लिए इस लिए प्रार्थना की थी कि आप के प्रताप से......”

“यह पाप कब तक फलेगा, महाराज ?” युवक तन गया था।

सन्यासी ने अपना वरदहस्त उठाया—“धैर्य धरो, बच्चे !”

“नहीं बात कुछ जरूर है महाराज,” ‘पंडतजी’ अपनी पराजय का कारण ढूँढ़ रहा था—‘या यह बकरी ही मनहूस है।”

और जैसे कि उसने कारण ढूँढ़ ही निकाला, उसी क्षण उछला, कोने में एक ओर सिमटी बकरी को आ दबोचा। कुछ क्षण बकरी की अनवरत में! में! अन्धेरे को चीरती रही। फिर एक हृदय विदारक स्वर—वैसा जो सिर्फ मृत्यु के क्षण पर ही कोई पशु निकाल सकता है। पहाड़ चुप सुन रहे थे, उनमें कोई हरकत न थी। पेड़ निस्पन्द थे...

देसी लोगों ने इसे जरूर सुना और वे बेतहाशा दुकान की ओर दौड़े। टाट खींचकर अलग फेंक दिया गया, और खून से लथ-पथ ‘पंडत जी’ को देख कर आपस में कुछ कानाफूसी शुरू हो गई। ‘पंडत जी’ के समवयस्क देसी ने, जो संध्या समय उसे लुगड़ी के कटोरे भर-भर दे रहा था, बकरी के सिर से जुदा हुए, तड़पते शरीर से फूटती खून की धार देख कर जबान से चटखारे मारने शुरू कर दिए। ‘पंडत जी’ ने अवसर हाथ से न जाने दिया, बोला—“दो आने !” और दाम तय हो जाने पर खून से एक बर्तन भर दिया गया।

‘पंडत जी’ का होटल।

एक खूँटी से पिछली टाँगों से बंधी बकरी लटक रही है, और ‘पंडत जी’ बड़ी होशियारी से धीरे-धीरे उसकी खाल उतार रहा है।

सुबह हो गई थी और मैं होटल के पास चलने को तैयार खड़ा था। ‘पंडत जी’ मुझे देखते ही सकपका गया, और खाल उतारते उतारते एक

क्षण के लिए रुक गया, मानो उसकी गति में मैंने बाधा डाल दी हो। फिर उसे याद आई और वह झट से मेरे पास पिछले दिन का हिसाब चुकाने आ खड़ा हुआ। पर जहाँ उसने छोड़ा था वहीं उसके सहकारी ने संभाल लिया। यात्री को प्रस्थान करते देख हेरी भी अपने खेमों से बाहर आ गए। सन्यासी बाबा शीतल स्नान में मग्न थे।

देखते ही देखते सहकारी के चेहरे पर कसमसाहट घिरने लगी, छुरी चलते-चलते उसके हाथों से गिर पड़ी और वह शोकातुर-सा चिल्लाया- "पंडत जी, यह क्या ? यह तो गाभिन थी !"

एक साथ सब की नजरें उठीं। पहले बकरी के कटे हुए पेट पर और फिर 'पंडत जी' के चेहरे पर। लेकिन वहां तो कोई भाव नहीं था। केवल जड़ता थी। नितांत जड़ता।

लमसेना

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

आदिवासियों के जीवन पर आधारित
एक मार्मिक ध्वनि-नाट्य

भरिया, मुण्डा, कमार, परजा, आदिवासियों में शादी के समय लड़के वाले लड़की वाले को दहेज देते हैं। जो लड़का गरीब होता है और दहेज़ नहीं दे पाता तो वह शादी के पूर्व लड़की के पिता के घर नौकरी करता है और इस नौकरी से दहेज़ चुकाता है। शादी के पूर्व जो इस प्रकार घरजमाई बनते हैं उन्हें लमसेना कहते हैं।

पात्र-परिचय

बैदी	एक आदिवासी युवती
पाकली	बैदी की सखी
माला	नगर की सभ्य तरुणी
मोदी	लमसेना
मासा	बैदी का पिता

(दूर से संगीत का स्वर उठता है और धीरे-धीरे मोदी के पौरुषमय स्वर में बदल जाता है।)

बमुर कांटा तोला हेरेला बैया
बोलाये रहेव तोला बैठेला
बैया बोलाये...रहेब...बमुर कांटा...

बैदी : (हंसकर) बस खतम भी कर अपनी ददरिया। बबूल का कांटा निकालने के बहाने तू मुझे बुलाकर बैठा रहा है...यही कहना था तो साफ साफ कह देता, गाकर क्यों कहता है।

मोदी : मुझसे अच्छा गाते कहाँ बनता है। अच्छा तो तू गाती है। (रुककर) ये ददरिया मन की बात कहती थी...इसलिये तुझे सुना दी।

बैदी : मैं समझ गई तेरे मन की बात। अब जाने दे मोदी।

मोदी : मत जा न।

बैदी : जाने दे। बहुत देर हो गई।

मोदी : देर हो गई तो क्या। तू किसी की नौकरी थोड़े ही करती है।

बैदी : नौकरी करती तो हूँ। (हंसकर) अपने मोदी की। (चुलबुलेपन से) अब छुट्टी दे दे न। माला मालकिन राह देखती होगी।

मोदी : माला...जंगल साहब की लड़की, तेरी राह क्यों देखती होगी।

बैदी : मुझे माला मालकिन को हिरसे का ब्याह दिखाना है।

मोदी : रुक जा कुछ दिन, अपना ब्याह दिखा देना।

बैदी : (हारे स्वर में) पता नहीं कब होगा अपना ब्याह। मोदी तू जानता तो है मेरे तापे[1] को। कितना गोनोम[2] चाहता है। कहता था कि अपनी बैदी के ब्याह में डेढ़ सौ रुपया लूँगा। और...

मोदी : और मैं इतने रुपये कहाँ से लाऊँगा। बैदी इतने रुपये में तो मुझे कोई खरीदेगा भी नहीं। गुनिया कहता था कि मेरा भाग ही खोटा है। (सोचकर) पर बैदी अगर मेरा भाग खोटा होता तो तू मुझसे बोलती भी नहीं।

बैदी : मोदी, मेरा तापे बड़ा जिद्दी है। रुपये के पीछे तो पागल है। आवा[3] ज़िन्दी होती तो उसे समझाती, मेरी तो सुनता ही नहीं।

(याद करते हुये) हां मोदी, तेरे तापे की दो भैंसे और चार सुअर थे न ।

मोदी : पर अब तो वे काका के हो गये हैं। लेने के लिए पंचायत कराना पड़ेगा और मैं पंचायत भी तो नहीं करा सकता। कहाँ से लाऊँगा पंचों के लिये लांदा[४]। (हर्ष के स्वर में) बैदी! अगर तेरा तापे मुझे लमसेना बना ले तो सारा काम बन जाये, खून पसीना एक कर गोनोम की पाई पाई अदा कर दूँगा।

बैदी : मोदी !

मोदी : हां बैदी! फिर तू मुझे मिल जायेगी न ! (रुक कर) तू सामने रहेगी तो अंगारों पर भी वैसा ही नाचूंगा जैसा तू महुये के फूलों पर भीमुल पांडुम[५] में नाची थी।

बैदी : मोदी मेरा तापे बड़ा चिड़चिड़ा है। मन पर भी मार करता है।... तू कैसे सहेगा।

मोदी : तुझे देखकर। बैदी, तेरी एक ददरिया सुन लूँगा तो उसकी सब गालियाँ भूल जाऊँगा।

बैदी : (सोचते हुये) पर मोदी तापे से कहेगा कौन कि तुझे लमसेना बनाये। मुझे डर लगता है और...

मोदी : लाज भी लगती है। (मुग्ध भाव से) बैदी, जब तू लजाती है तो और अच्छी लगती है। (शीघ्रता से) अपनी माला मालकिन से कहना कि वह तेरे तापे से मुझे लमसेना बना लेने को कहे। (बनावटी गंभीरता से) बैदी, माला साहब की बेटी है, तेरा तापे मान जायेगा।

बैदी : तू क्यों नहीं कहलाता किसी से।

मोदी : बढ़ई[६] से कहूँगा कि वह तेरे तापे से कहे।

बैदी : बढ़ई क्यों कहने लगा मेरे तापे से।

मोदी : उसके लिये मैंने फरसी बनायी थी और कुछ नहीं लिया था। दूसरा कोई बनाता तो दो हांडी लांदा जरूर लेता।

बैदी : (शरारत से) तू क्या करेगा लांदा का। बिना लांदा पिये ही तो तुझ पर नशा चढ़ा रहता है।

मोदी : (बैदी की मुद्रा में) गायता[७] मुझ से कहता था कि बैदी में तांदा से ज्यादा नशा है।

बैदी : धत् !

मोदी : मैं बदई से कहूँगा कि बैदी के तापे मंगरू मासा पर मन्तर मारो तो जानूँ।

बैदी : अच्छा अब मुझे जाने दो। उधर बैठकर अपनी किकिर[८] बजाना, मैं दूर से सुनूँगी।

मोदी : किकिर तो तब बजती है जब तू सामने रहती है। (रुककर) हां, मैं तो भूला जा रहा था। कल तड़के हुर्रा के मुर्गे से मैं अपना मुर्गा लड़ाऊँगा। नलवा किनारे, महुआ के नीचे देखने आना। तू न आई तो मेरा मुर्गा हार जायेगा।

बैदी : तुझसे तेज़ है तेरा मुर्गा। हारेगा कैसे ? (प्रसन्नता से) आऊँगी देखने। महुआ बीनने के लिये घर से टोकना लेकर चलूंगी।

मोदी : जिससे तापे कुछ पूछे भी नहीं !

बैदी : (लजाकर) तू बड़ा नटखट है। अच्छा अब मैं चली, तू भी जा।

(ध्वनि-लोप)

माला : कहां भाग गई थी बैदी। मैं तो थक गई तेरी राह देखते देखते।

बैदी : मोदी के पास गई थी।

माला : मोदी कौन।

बैदी : मेरा मोतियारा[९]। रोज मिलता है। मैं भी तो बिना मिले नहीं रह पाती। वो मुझे अच्छा लगता है।

माला : ऐसा क्या अच्छा है तेरे मोदी में।

बैदी : तोता, मैना, तीतर, मुर्गा सबकी बोली बोलता है। एक बार चौपाल में मुर्गे की बोली बोला तो मैं सोते सोते चौंक पड़ी। मैं समझी सबेरा हो आया। बाहर आई तो देखा चंदा आकाश में चढ़ा था, आधी रात थी, और मोदी सामने खड़ा हंस रहा था।

माला : तुझे बुलाने के लिये मुर्गा बना होगा।

बैदी : (अपनी धुन में) एक बार जंगल में शेर की बोली बोला था तो मैं डर गई थी। (सोचकर) और मालकिन एक हांडी तांदा मिल

जाये तो रात भर टिमकी[10] टिनका टिनका कर ऐसा नाचता है कि सब दंग रह जाते हैं।

माला : जब मोदी तुझे इतना अच्छा लगता है तो फिर तू उससे शादी क्यों नहीं कर लेती।

बैदी : चाहती यही हूँ पर कैसे करूं। मेरा तापे डेढ़ सौ रुपये चाहता है और मोदी के पास, अपने आपको छोड़कर और कुछ नहीं।

माला : (कुछ आश्चर्य से) दहेज मोदी देगा, तुम्हारे तापे को ? उल्टी बात है।

बैदी : बात तो बिल्कुल सीधी है मालकिन। मोदी को गोनोम देना होगा। मेरी कीमत मेरे तापे ने डेढ़ सौ रुपये लगाई है।

माला : और दूसरा उपाय नहीं हो सकता।

बैदी : मोदी हमारे घर लमसेना बन जाये तो कुछ नहीं देना पड़ेगा। लमसेना बनकर मोदी हमारे घर काम करेगा तो गोनोम चुक जायेगा। पाकली का ब्याह ऐसे ही हुआ था।

माला : तो तू मोदी को लमसेना बना ले। (हँसकर) फिर तो वह घर में ही में आ जायेगा ! छिप छिप कर मिलने की झंझट जाती रहेगी।

बैदी : ये झंझट बुरी नहीं लगती मालकिन। (रुक कर) पर मोदी लमसेना तभी बन सकता है जब मेरा तापे चाहे। मैं तापे से कहूँ (लजा कर) मालकिन तुम...

माला : मैं समझ गई। मैं और बाबू जी मिलकर मासा को समझा लेंगे...

बैदी : (हर्ष से) मालकिन (रुक कर) जब मोदी लमसेना बनकर आ जायेगा तो मैं उससे कह दूंगी कि वह तुम्हारे घोड़े के लिये अपने से घास काट कर लाया करे। मालकिन मोदी बड़ा अच्छा है।

माला : (भावुकता से) हां मोदी बहुत अच्छा होगा तभी तो तेरा यह भोलापन उस पर न्यौछावर है। अच्छा अब चल बैदी, हिरमे की शादी देख लें।

(गीत और नृत्य की धीमी शान्त ध्वनि सुनाई पड़ती है।

धीरे धीरे यह ध्वनि बढ़ती और स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित स्वर में गीत स्पष्ट हो जाता है...

ए ए ए ए ए......

जय महामाई, जय कालिका, जग माय दन्तेसरी

तुमो नमो धरि पद चालिबों, गीत गाइबि कंठे तू बस मोहरी।

ए ए ए ए.....................।

गीत का स्वर कुछ क्षण बाद फिर धीमा हो जाता है)

माला : बैदी हिरमे बारात लेकर कब आया था।

बैदी : हिरमे, सुगिया के तापे के घर लमसेना था और लमसेना बारात नहीं लाता। सारा खर्च दुलहिन का तापे देता है।

माला : शादी में सिर्फ नाच ही होगा, या कुछ और।

बैदी : मुर्गा और सुअर कटेंगे, लांदा की हाँडियां खुली होंगी, पेज[1] बनेगा, सब खायेंगे और नाचेंगे। मालकिन ब्याह के पहले यही होता है।

माला : और उसके बाद।

बैदी : दूल्हा और दुलहिन को दरवाजे में खड़ा करके छत पर से उन पर पानी डाला जायगा।

माला : पानी।

बैदी : हाँ घड़ा भर के। और उसके बाद दूल्हा दुलहिन को एक कोठे में बन्द कर दिया जायेगा। बस ब्याह खतम।

माला : बस इतना सीधा तरीका। (रुककर) बैदी तुम्हारी हर चीज,तुम्हारे हर रिवाज तुम्हारे समान ही सीधे हैं। और हमारे यहाँ...।

बैदी : तुम्हारे यहाँ ऐसा नहीं होता मालकिन ?

माला : नहीं बैदी। हमारे यहाँ शादी एक स्वांग होता है, जिसे पूरा न करने पर रिवाजों का दम घुटने लगता है। एक पक्ष, दूसरे को निचोड़ कर संबधों का ढोंग रचता है। (अचानक रुककर) तू नहीं समझेगी बैदी।

बैदी : मैं नहीं समझी मालकिन। (हंस कर) तुम्हारा ब्याह देखूंगी तो समझ जाऊँगी।

माला : (उदासीनता से) पता नहीं कब तू देख पाती है।

बैदी : क्यों मालकिन।

माला : तू क्या जाने बैदी कि हमारे यहाँ एक लड़की की शादी करने के लिये लड़की के बाप को बिक जाना पड़ता है। (साँस लेकर) कई डेढ़ सौ लगते हैं।

बैदी : यह उल्टा है मालकिन। जो लड़की ले जाय सो पैसा दे।

माला : होना तो ऐसा ही चाहिये बैदी, पर ऐसा नहीं होता। हमारे यहाँ लड़की की शादी में पिता को अपनी इज्जत तक देनी होती है। सच मान बैदी, गरीब घरों में तो लड़कियों के पैदा होने पर जो खुशी मनाई जाती है वह ऊपरी अधिक होती है, मन की कम। (अपने भावको रोकते हुए)......खैर,......छोड़ इसे। तेरी खुशी पर मैं अपनी चिन्ता क्यों लादूँ।

बैदी : मालकिन जब मोदी से मेरा ब्याह हो जायेगा, तब हम दोनों तुम्हारे लिये काम करेंगे।

माला :(मुग्ध भाव से) कितनी भोली है तू बैदी ! (रुककर) अब आ थोड़ा नाच देख लें।

बैदी : (प्रसन्नता से) मेरा तापे भी नाचने आया है मालकिन। वह देखो।

माला : हाँ ! (रुककर) अच्छा नाचता है। और उसके सिर पर लगा वह सींग वाला मुकुट भी सब से अच्छा है।

बैदी : मालकिन ! मेरा तापे ये सींग एक जोड़ी बैल देकर लाया था क्योंकि उन बैलों के सींग नहीं थे। नाचने के पहले घंटा भर तो उसे बाँधने संवारने में लगता है।

माला : तेरे तापे के लिए बाबू जी से कहकर मैं एक जोड़ी अच्छे सींग और मँगवा दूँगी।

बैदी : क्यों।

माला : जिससे कि वो मेरी बात मान जाय। मोदी को लमरेना बनवाना है न। (हँसकर) घर पहुँचते ही बाबूजी से तेरी बात कहूँगी।

बैदी : (हर्ष से) सच, मालकिन सच। (तेजी से) मालकिन देखो पाकली नाच रही है। और वो चँदिया कैसा निसान[१२] बजा रहा है। मेरा मन भी नाचने को करता है।

माला : (चिढ़ाते हुये) चंदिया का निशान भा गया, या मोदी की याद आ गई। नाचना है, तो नाच ले, मैं भी देखूँगी।

बैदी : (दूर होते हुये) तो देखो मालकिन आज बैदी कैसा नाचती है। पर जाना नहीं जब तक मैं नाचूँ।

माला : (साँस छोड़ते हुये) चली गई। (भावुकता से) कौन कहता है कि असभ्यता अभिशाप है।

(ध्वनि-लोप)

मोदी : (भारी स्वर में) बैदी, भीमुल पांडुम को मुझे तेरे घर लमसेना बने तीन बरस हो गये। और आज नुका नोरदान पांडुम [13] हैं...चार बरस हुआ चाहते हैं (हारे स्वर में) एक वर्ष से ज्यादा है, ब्याह के लिए।

बैदी : वो भी कट जायेगा मोदी। तूने ही तो कहा था कि तू सब कुछ सहेगा।

मोदी : कहा था मैंने। पर अब तो बस के बाहर की बात हो गई। तू देखती है कितना काम करता हूँ मैं। फिर भी तेरा ताप ताने मारने से बाज नहीं आता। गाँव छोड़कर अगर चाय के बगीचे में काम करने चला जाता, तो इतने दिनों में तेरे गोनोम के बराबर कमा लेता।

बैदी : पर तेरी याद में, मैं जो मर जाती। (धैर्य बँधाते हुये) फिरकोइदेव काट देंगे एक बरस।

मोदी : बैदी गुनिया कहता था कि सब देव मुझ से नाराज़ हैं। मैं उन्हें मुर्गा नहीं चढ़ाता न। (रुककर) चढ़ाऊँ भी कैसे। कहाँ से लाऊँ। बैदी, मैं खुद ही उनकी बलि चढ़ जाऊँगा।

बैदी : मोदी अपनी बलि चढ़ाने के पहले मेरा गला घोंट देना।

मोदी : (भावुकता से) बैदी, तुझे पाने के लिए इतने दिन काम करते करते जिन हाथों में छाले पड़े हैं, उनसे तेरा गला कैसे घोटूंगा। मेरे लिये तो तेरी इस पगिया के दो छोर बाकी है।

बैदी : ऐसा न करना मोदी। मैं तेरे लिए यह पगिया जगदलपुर से लाई थी। संभाल के बाँधा कर।

मोदी : यही तो मेरा साथ देती है। इसी से पूछ कितने आँसू मैंने इसमें

सुखाये हैं। कितनी हिचकियाँ इसमें छिपाई हैं। (सांस लेकर) आखिरी हिचकी भी इसी के साथ होगी।

बैदी : मोदी। पता नहीं आज तू कैसी बहकी बहकी बातें कर रहा है।

मोदी : बैदी जब मन बातों के बान खाकर बहक जाता है तो और कुछ सूझता ही नहीं (रुककर) बैदी कितना निकम्मा हूँ मैं। तू अपनी हमेल देकर मेरे लिए पगिया लाई, तेरे गले की शोभा चली गयी। मुंदरी देकर मेरे लिए टिमकी लाई, तेरा हाथ कङ्गाल हो गया और मैं तेरे लिए एक टिकली भी न ला सका।

बैदी : तो क्या हुआ मोदी। तू मेरे पास रह, मुझे कुछ नहीं चाहिये। (समझाते हुये) मैं जानती हूँ, तू ला कैसे सकता है...तेरे पास है ही क्या देने को।

मोदी : ऐसा मत बोल बैदी।...मेरे पास सब कुछ है देने को। उसके बदले तेरे लिए सुख चैन तो ला सकता हूँ।

बैदी : (रोकर) मोदी मुझे अपना नहीं, तेरा सुख चैन चाहिये।

मासा : (दूर से आते हुये) रो रही है बेटी। कुछ कह दिया क्या इस कलमुँहे ने। सच बेटी, मैं तो बददई और जङ्गल साहब की बात मानकर पछता रहा हूँ। उन्हीं के कहने पर मैंने इस कामचोर को लमसेना बनाया......नहीं तो कोई इसे दो कौड़ी को भी न पूछता।

बैदी : (हिचकियाँ लेते हुये) नहीं तापे। मोदी ने मुझ से कुछ नहीं कहा ...कुछ नहीं कहा।

मासा : (क्रोध से) वह तुझ से क्यों बातें करने चला। लाट साहब का बेटा है न। पेट भर पेज मिलता है खाने को। लोटा दो लोटा लांदा मिल जाता है पीने को......तभी ये ऐंठ है। काम के नाम पर इधर की सींक उधर नहीं होती। (डांट कर) क्यों रे लकड़ियाँ काट लाया।

मोदी : (चिढ़कर) आंगन में पड़ी हैं...देख लो।

मासा : गीली लाया होगा...जिस चूल्हे में लगेगी, उसे ही बुझा देगी। (रुककर) मछलियाँ पकड़ी हैं आज।

मोदी : नहीं।

मासा : (गुस्से से) नहीं । फिर क्या किया......चार लकड़ियाँ काटने में दिन बीत गया । मुर्गों की लड़ाई होती तो दिन भर नदी के किनारे खड़ा रहता ।

बैदी : जाल मेरे पास था तापे ।

मासा : तो माँगने में इसे शरम लगती थी । अभी आ रहा था तो कबरी गाय रम्भा रही थी पता नहीं, उसे चराया है या नहीं ।

मोदी : अभी तो लाया हूँ चराकर ।

मासा : झूठा कहीं का । चरा लाया होता, तो गाय रम्भाती क्यों । अरे जानवरों पर तो दया करना सीख । पैदा होते ही अपनी आवा को खा गया, फिर अपने तापे को चाट गया और अब हमें चूसने आया है । हत्यारा ।

बैदी : तापे । ऐसा न कहो उसे......

मोदी : कह लेने दे बैदी ।

मासा : (व्यंग्य से) आहा, बड़े आदमियों जैसी बात कर रहा है । (बैदी की सिसकियाँ) बैदी तू अन्दर तो जा । पिजा लांदा दे गया है संभाल कर रख दे । लोटा भर बाहर रख लेना...आकर पिऊँगा । (पायल की आवाज़ दूर होकर थम जाती है)

मासा : क्यों रे कौन सा टोना कर दिया है इस भोली पर ।

मोदी : मैंने कुछ नहीं किया ।

मासा : (क्रोध से) मोदी, तू मासा को नहीं जानता । मासा पर जो जीभ चलती है...मासा उसे खींच लेता है । जो आँखें उस पर उठती हैं, वह बाहर निकाल लेता है ।

मोदी : (क्रोध से) मासा, मोदी भी तेरे गांव का है ।

मासा : (चालाकी से) मैं जानता हूँ और दुःख तो इस बात का है कि तू मेरा लमसेना है । लोग क्या कहेंगे मुझे ।

मोदी : कहो तो मैं चला जाऊँ ।

मासा : किसी और को फांसे देना । जाकर हरजाने के लिये पंचायत करायेगा और...

मोदी : नहीं मैं ऐसा नहीं करूँगा । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे घर में सुख-चैन बना रहे । मुझे क्या । किसी तरह दिन काट लूँगा ।

मासा : (व्यंग्य से) यदि हमारे चैन की फिकर है, तो फांसी लगाकर किसी...महुए से लटक क्यों नहीं जाता।

मोदी : फांसी लगाकर महुए से...।

मासा : (हंसकर) हां, हां, फाँसी लगाकर महुए से। मैं भी छुटकारा पा जाऊँगा और बैदी भी।

मोदी : (व्याकुल होकर) मासा...मासा...

माला : (प्रवेश करती हुई दूर से) क्या बहस चली है मासा। मोदी तो तुम्हें देखते ही सूख जाता है। उससे क्या बहस करते हो।

मासा : मैं तो तंग आ गया इस निकम्मे से। तुम्हारे बाबू जी के कहने से ही इसे रखा था...मैंने नहीं तो ऐसी फांस मैं अपने गले न डालता।

माला : मासा, जिसे तुम गले की फांस कह रहे हो, उसे मैं तुम्हारी साफ़ी और बैदी की हमेल कहती हूँ (रुककर) मैंने देखा है... मोदी कितनी मेहनत करता है।

मासा : दिखाता है ज्यादा...करता है कम। चालाक बहुत है, तुम नहीं जानतीं मालकिन।...(सांस लेकर) और जब कोई इसकी तारीफ़ कर देता है तो इसका दिमाग़ और चढ़ जाता है।

माला : मासा, न जाने क्यों तुम इससे चिढ़े रहते हो। इससे अच्छा लड़का तो तुम्हें खोजे नहीं मिलेगा।

मासा : इससे अच्छा लड़का नहीं मिलेगा तो मेरी बैदी कुँआरी ही रहेगी। जानकर तो मैं उसके गले पर फरसा नहीं मार सकता।

माला : शायद तुम नहीं जानते मासा कि...खैर, तुम अभी जाओ, मैं मोदी को समझाती हूँ।

मासा : पक्के घड़े पर मिट्टी नहीं चढ़ती मालकिन। (दूर होते हुये) पर तुम पढ़ी लिखी हो न, कोशिश जरूर करोगी।

माला : मोदी, मैं नहीं जानती थी कि तुझे इतनी तकलीफ होगी।

मोदी : भाग का लिखा कैसे मिटेगा। (टूटे स्वर में) अब नहीं सहा जाता मालकिन। सोचता था कि बैदी सामने रहेगी तो हंस-कर सब कुछ अपनाता रहूँगा। पर बैदी भी हमेशा मेरे सामने नहीं आ सकती। मासा का रुख देख कर उसे काम करना

पड़ता है। मालकिन, मासा ने शरीर से अधिक मन पर मारा है। मन कहता है भाग जाऊँ।

माला : कहाँ जाओगे भागकर। मोदी, दुनिया में ऐसे आदमी हर जगह हैं। कहाँ तक बचोगे।

मोदी : तो मैं वहाँ चला जाऊँगा, जहाँ कोई न होगा। मालकिन, मासा कहता था...कि मैं उसके गले की फांस हूँ...(सांस लेकर) गले की फांस मुझे सब से अलग ले जा सकती है।

माला : क्या बकते हो मोदी। कहाँ का पागलपन सवार हुआ है तुम्हें।

मोदी : पागलपन तो उस दिन सवार हुआ था, जिस दिन मैंने मासा के घर लमसेना बनने का निश्चय किया था। मालकिन, मैं अपनी बैदी की, मासा की, सबकी शांति चाहता हूँ...सबके सुख-चैन की मुझे चिन्ता है (गुंजता है...)—यदि हमारे सुख चैन की फिकर है, तो फांसी लगाकर किसी महुए से लटक क्यों नहीं जाता। (उद्वेग से) मालकिन...मालकिन...महुए का पेड़...कितना नशा होता है उसकी छाँह में, और ये बैदी की लाई पगिया...कितना प्यार है उसके डोरे डोरे में।

माला : मोदी आज तुझे कहाँ का पागलपन सवार हो गया है। बैदी कहती थी, कि तू बड़ा समझदार है।

मोदी : बैदी कहती थी न, भोली, बड़ी भोली है बैदी। (रूखी हँसी) गायता कहता था कि मुझ पर बैदी के भोलेपन का नशा चढ़ा रहता है जैसे बैदी कोई महुए का चुआ फूल है।

माला : बैदी महुए का ऐसा फूल है जो कभी नहीं चुएगा। याद है तुझे, जनवरी में जब महुए फूले थे तभी तू लमसेना बना था।

मोदी : (कुछ दुख से) हाँ मालकिन, उस दिन भीमुल पांडुम था। बस बस वही एक पांडुम सुख में बीता। उसके बाद हर पांडुम इसी तरह बीता है। जैसे आज का यह नुका नोरदान पांडुम बीत रहा है।

माला : अभी कुछ ही दिन तो हुये हैं जब हमारी दीवाली आई थी, और दीवाली के दिन ही बैदी ने मुझ से कहा था कि मासा अब तुम्हें चाहने लगा है।

मोदी : मालकिन मासा मुझे नहीं, मेरे प्राण चाहता है।

माला : मोदी किसी के बारे में ऐसा नहीं सोचते। हर आदमी में हमें अच्छाई खोजनी चाहिये।

मोदी : तीन बरस से ऊपर हो गये मुझे अच्छाई खोजते। अब सोच लिया है मैंने कि शांति खोजूंगा। सबकी आँखों से ओझल हो जाऊँगा।

माला : आज ज्यादा लांदा पी गया क्या।

मोदी : आँखों से पिया है लांदा...(हँसकर) बैदी के रूप का।

माला : अच्छा जा, सज के आ, जा...तुझे अपने घर ले चलूंगी। बाबूजी एक तमाशा दिखाने वाले हैं। देख पगिया अच्छी बाँधना।

मोदी : पगिया ही तो बांधना है आज। ऐसी बांधूंगा कि देखने वाले चौंक उठेंगे। बैदी की लाई पगिया है...मेरे आँसू पी पीकर मतवाली हो गई है...आज महुए की छांह में इसके साथ भी नाचूँगा। जुहार [१४] मालकिन...(दूर से)...बैदी से कहना मुझे नाचता देखने...आ जाये। मासा से कहना मैं वहाँ नाच नाचकर उसे सुख चैन बाँटूँगा।

(ध्वनि-लोप)

माला : बैदी, तू समझाती क्यों नहीं अपने तापे को। कितना सताता है उसे।

बैदी : कैसे समझाऊँ...देखती हूँ और अपने भाग्य पर रोती हूँ। (रुँधा कंठ) तापे ने कई बार मोदी को मारा भी है, पर मोदी ने कभी कुछ भी नहीं कहा। गाँव भर में मोदी के बराबर बोझा कोई नहीं उठाता, ..इतनी ताकत है उसमें, पर वह मेरे तापे से कुछ नहीं बोलता।...(रोकर) मालकिन, मोदी मेरे लिये सब कुछ सहता है और...(रो पड़ती है)।

माला : बैदी, रोने से जिन्दगी नहीं चलती, रोने वाले कभी नहीं जीतते। तुझे जीतना है अपने तापे की कठोरता को। तुझे अपना प्रेम पाना है। आँसू अपने साथ सब कुछ बहा ले जाते हैं...लाते कुछ नहीं। अपने तापे से साफ-साफ कह...मैं भी कहूँगी।

बैदी : जितना तापे ने मोदी से कहा है, उतना तापे से कोई न कह

सकेगा। मेरे सामने कितना कहा आज...और मेरे जाने के बाद न जाने क्या-क्या कहा होगा।

मासा : (दूर से आते हुये) कुछ नहीं कहा तेरे जाने से बाद। बस एक ही बात कही, अगर जरा भी शरम-हया होगी तो बात असर करेगी।

बैदी : (व्याकुल होकर) क्या कहा तापे ?

मासा : जब बहुत मुंह लगा और हमारे सुख चैन की बात करने लगा तो मैंने कह दिया कि अगर हमारे सुख चैन की फिकर है तो फांसी लगाकर लटक क्यों नहीं जाता किसी महुए से।

बैदी : तापे-तापे। क्या कह दिया तुमने।

मासा : सच तो कहा है। ऐसे निकम्मे धरती का बोझा होते हैं। देखता हूँ उसमें कितनी लाज बाकी है।

माला : (क्रोध से)...मासा, उसके लाज हो या न हो...पर तुममें आदमियत नहीं।

मासा : मालकिन, आदमी वो है जो मान से जीता है और शान से मरता है। मोदी आदमी है (हंसकर) आदमियत आदमी के साथ बरती जाती है।

बैदी : मालकिन, मोदी सीधा है। तापे की बातें उसे लगी होंगी... कहाँ-कहाँ...मालकिन कहां गया वो...मैं जाऊँगी...उसके पास जाऊँगी...बोलो...बोलो...

माला : हुर्रा खेत की तरफ।

बैदी : हुर्रा खेत की तरफ। मालकिन, वहाँ महुए के पेड़ है...तापे .. कहीं...मोदी...मुझे न मिला तो बैदी भी तुम्हें नहीं मिलेगी। मैं मोदी के...मैं मोदी के पास जाऊँगी। तापे तुम्हारे लिये पिज्जा के घर का लांदा रखा है। पीना और नाचना...मैं...(रोकर मैं मोदी के पास जाऊँगी। (दौड़ने की आवाज, फिर शांति)

(नृत्य के साथ स्त्रियों के सम्मिलित स्वर में एक गीत सुनाई देता है)।

राई फूलै रे केर बुमिया रे।
गेंदा फूलै रे छतनार।

बेहली के फूल रस फूल डोहरी रे
देखनी मा लगत है सुहावन रे।
धरती ते निकरै केकरिया रे वाचक धरे अनुहार।

(नृत्य और गीत के स्वर को रौंदता किसी के दौड़ने का शब्द सुनाई देता है।

और नृत्य और गीत का स्वर अचानक थम जाता है।)

पाकली : बैदी री, रुक तो। कहाँ भागी जा रही है। थोड़ा नाच तो ले हम लोगों के साथ। देख मुँगिया है, हिरमे है और...

बैदी : (हांफते और भरे स्वर में) नहीं पाकली मैं अभी नहीं नाचूंगी।

पाकली : क्यों क्या हुआ है अभी।

बैदी : (अचानक) मोदी...

पाकली : ओ। तेरा मोदी रूठ गया क्या।

बैदी : (भरे स्वर में) हाँ। रूठ गया है। तूने देखा है उसे।

पाकली : अभी थोड़ी देर पहिले यहीं से गया है। मैंने रोका तो बोला कि बैदी के लिए महुए लाना है।

बैदी : (घबरा कर) महुए।

पाकली : तू घबरा क्यों रही है। तेरे ही लिये तो महुए लाने गया है। (हंस कर) वो बेचारा तेरे लिए महुए पर चढ़ेगा, महुए तोड़ेगा और तू कहती है...

बैदी : (दूर होते हुये) मुझे महुए नहीं चाहिये पाकली...मुझे मोदी चाहिये।

पाकली : आँचल में बाँधकर रख ले...कहीं जाने भी न पाये। (स्त्रियों के हंसने का सम्मिलित स्वर) जा दौड़ के पकड़ ला। और देख यहाँ से लौटना। तू भी नाचना...मोदी भी नाचेगा...। सुना।

बैदी : (दूर से) तू मेरी राह ताकना पाकली।

(नृत्य और गीत फिर प्रारम्भ होता है...राई फूलै रे...)

माला : (हांफते स्वर में) पाकली...ओ...पाकली...बैदी को देखा है।

पाकली : हाँ मालकिन! अभी गई है इस तरफ। पर तुम मत जाओ

वहाँ। वो मोदी को मनाने गई है। मोदी भी रूठ कर इसी तरफ गया है।

माला : (दूर होते हुये) इसी तरफ गई न।

पाकली : हाँ। (रुककर) मालकिन भी वहीं चली गईं। बेचारी बैदी मन भर मोदी को मना भी नहीं पायेगी। (स्त्रियों की हंसी) (गीत का स्वर फिर बढ़कर...धीमा हो जाता है)

बैदी : (हांफते और रोते स्वर में) मोदी रे...मोदी रे। कहाँ छिप गया। मेरी सौगन्ध। निकल आ। मैं तापे से लड़कर आई हूँ अब उसके घर कभी नहीं जाऊँगी...तेरे साथ ही रहूँगी। मोदी तू ने मेरे लिये बहुत दुख सहे...पर अब मुझे कोई दुख नहीं होगा। (पुकारकर) मोदी रे आ जा...कहाँ छिपा है निकल आ न रे। तेरी बैदी तुझे बुला रही है। (हिचकियां लेकर) रूठ गया निर्मोही। कहता था कि तेरे इशारों पर नाचूंगा...आज मेरे पुकारने पर भी नहीं आ रहा है। (पत्तों की खरखराहट) मोदी... आ गया...

माला : (दूर से थके स्वर में) बैदी, अब मोदी नहीं आयेगा...कभी नहीं आयेगा। (रोकर) देख ..उस महुए की तरफ देख मोदी ने तेरी दी पगिया से फाँसी लगाकर...(रो पड़ती है)

बैदी : (चीखकर, दौड़ते हुए) मोदी...मेरे मोदी रे। ये क्या किया तूने... क्या किया तूने मोदी ! (रोने का स्वर)

(दूर से स्त्रियों के नृत्य और गीत का स्वर सुनाई देता है... जो धीरे धीरे थम जाता है।

कंकरा चुनरे महला बनाव, जेकर पूरब दुआर,
या डेरि दानी मा बेरी जूझत है रे...
राई फूले रे......

(ध्वनि-लोप)

कुछ विशिष्ट शब्दार्थ—

१. तापे = पिता २. गोनोम = दहेज ३. आबा = माँ ४. हांड़ा = शराब

५. भीमुल पांडुम = जनवरी में आने वाला एक त्यौहार ६. बद्दई = झाड़ फूंक करने वाला ओझा, ७. गायता = मुखिया ८. किकिर = एक बाजा ९. मोलियारा = प्रेमी १०. टिमकी = ढफली के समान एक बाजा ११. पेज = एक पेय जो चावल से बनता है १२. निसान = एक प्रकार का ढोल १३. नुका नोरदाना, पांडुम = नवम्बर में आने वाला एक त्यौहार, १४. जुहार = प्रणाम।

स्टिल लाइफ़

फणीश्वरनाथ रेणु

अस्पताल में दाखिल होते ही आप का नाम बदल जाता है। आप अपना नाम खोकर किसी नम्बर के नाम से मशहूर हो जाते हैं। बेड नं० ५ को 'सीपी डायट' चलेगा, नं० ३ को एनिमा देना है, नं० १२ का 'ब्लड' लेना है। नं० ६ को 'बैक रेस्ट' लगा दो।

माँ बाप का दिया हुआ, राशिचक्र और भृगुसंहिता द्वारा प्रमाणित आप का नाम अथवा आप का प्यारा साहित्यिक नाम-उपनाम यहाँ नहीं चलेगा।

मैं बेड नं० १ था। लगातार चौदह महीने तक अस्पताल में पड़े रहने के कारण मेरा यह नाम परमानेन्ट-सा हो गया था। आज भी कभी किसी काम से अस्पताल जाता हूँ, तो वार्ड कुली हँस कर सलाम करते हुए कहता है—बहुत दिनों के बाद इधर आना हुआ एक नम्बर बाबू!

और जब-जब अस्पताल जाता हूँ, मुझे बेड नं० ४ की याद आ जाती है। दीवाल पर अंकित अक्षर को ध्यान से देखता हूँ—बेड नं० ४!

चौदह महीने में बहुत से रोगी आए, अपना नाम खोकर किसी बेड नम्बर से पुकारे गए। आराम होकर घर गए अथवा । बेड नं० ४ पर भी बहुत से रोगी आए, आकर चले गए। लेकिन, उस बार चार नम्बर बेड पर एक ऐसा रोगी आकर अपनी याद छोड़ गया—जिसे अभी तक भूल नहीं सका हूँ।

'आउटडोर' से स्ट्रेचर पर लेट कर आया, कुलियों ने बेड पर लिटा दिया और वार्ड नर्स ने बुखार जाँच कर ९८$\frac{2}{5}$ पर एक गोल बिंदी लगा दी। ९८$\frac{2}{5}$, एक स्वस्थ शरीर का तापमान!

वार्ड में दाखिल होते ही नये रोगियों की चीख पुकार तेज़ हो जाती है, रोना-धोना बढ़ जाता है। नये वातावरण की प्रतिक्रिया बहुत तेजी से होती है। बुखार तेज हो जाता है, दिल की धड़कन बढ़ जाती है और आँखों की रोशनी कुछ ऐसी हो जाती है कि हर आदमी की सूरत भयावनी मालूम पड़ती है। यह अवस्था प्रायः चौबीस घंटे तक रहती है। अस्पताल की भयावनी रातों में कभी पूर्णिमा का चाँद नहीं आता। बारहो महीने—तीसों रात अमावस्या की अँधियारी छाई रहती है!

दिन के उजाले में, जब वार्ड का कोई नम्बर मरता है, उसके रोने वाले सगे संबंधियों को वार्ड के डाक्टर से लेकर कुली तक डाँट कर चुप कर देते हैं—बाहर जाकर रोना-पीटना करो। हल्ला नहीं। ऐ बूढ़ी, छाती क्यों पीटती है जोर-जोर से।'

किंतु, रात में तो सारे अस्पताल में मरने वालों की संख्या का अनुमान बेड पर पड़े-पड़े ही लगाया जा सकता है! यह आवाज 'बेबी वार्ड' की ओर से आ रही है। किसी का फूल जैसा सुकुमार बच्चा चल बसा। माँ छाती पीट-पीट कर रो रही है—तोता रे तोता! लाली-लाली ओठ तेरे काले क्यों पड़ गए रे-बेटा-आ-आ-आ। अरे कोई मेरे तोता को पकड़ कर ला दे रे दैवा-आ-आ!! दाहिनी ओर टी० बी० वार्ड में भी रोना पीटना चल रहा है—खून की कै करता हुआ कोई जर्जर शरीर ठंढा हो गया।—अच्छा हुआ, आखिर आदमी खून कै करता हुआ कब तक जिन्दा रहने की कोशिश करेगा?

और यह पतली-तीखी आवाज 'विमेन्स हॉस्पिटल' से आ रही है।

लेबर रूम में ही प्रसव पीड़ा से छटपटाती हुई कोई होने वाली माँ मर गई, शायद !...

ऐसी मनहूस रातों को जिसने करवटें लेकर काट दीं—बस समझिये कि उसका दिल मजबूत हो गया। सुबह को उसकी हालत 'नार्मल' हो जायगी। और तभी रोग का निदान भी सही हो सकता है, इलाज भी कारगर साबित हो सकती है।

लेकिन, बेड नं० ४ को लाकर 'आउट डोर' के कुलियों ने जिस तरह लिटा दिया—लेटा रहा ! न रोया, न चिल्लाया। कराहने की आवाज भी नहीं सुनाई पड़ी उसकी !

उसके आने से वार्ड में कोई 'हड़कम्प' भी नहीं मचा !...कभी-कभी किसी रोगी के आते ही वार्ड में बड़ी सरगर्मी शुरू हो जाती हैं। रोगी सम्बन्धी बार-बार ड्युटी रूम से नर्स और डाक्टरों को बुला ले जाते हैं। नर्स की चाल तेज हो जाती है—खुट-खुट-खुट-खुट ! डाक्टर की आवाज गंभीर हो जाती है—सिस्टर ! आइस-कैप।...कोरामिन।

रोगी के संबंधी, डाक्टर से हर पाँच मिनट के बाद जाकर पूछते हैं—डाक्टर साहब, एक बार बड़े डाक्टर को 'कॉल' दिया जाय...?

रोगी के दूसरे आदमी—वार्ड के मेहतरों और कुलियों को धमकी देते हैं—पेशाबदानी साफ़ करके जल्दी दे जाओ।...यह मत समझो कि ऐसा वैसा आदमी का रोगी है। ननकेसर बाबू को नहीं जानते ? मिनिस्टर साहब के साले को अपने भतीजा हैं ! सो समझ लो।

वार्ड कुली बड़बड़ाता है—हाँ भाई, राज ही तुम लोगों का है।

कभी-कभी उत्पात मचाने वाले रोगी आते हैं। आते ही सबसे पहले पलंग की टूटी हुई स्प्रिंग की शिकायत करते हैं, तुरत 'स्पंजिंग' माँगते हैं, गर्म पानी का थैला उठाकर फेंकते हैं—एकदम ठंढा है। सिस्टर ! यह गर्म पानी का थैला है ? जरा छूकर देखिये, एकदम बर्फ की तरह ठंढा है।

नर्स 'हॉट वाटर बैग' को छूकर देखती है—और कितना गर्म चाहते हैं आप ?

इसके बाद रोगी और उसके साथ आये हुए दोस्त, न जाने क्यों, हँस पड़ते हैं एक साथ। और नर्स ड्यूटीरूम में जाकर दूसरे नर्सों से

कहती है—अरी प्रमिला। सोलह नम्बर पर एक 'पार्टी-पेशेन्ट' आया है।...बड़ा कानून बघार रहा है। होशियार रहना—दिलफेंक...।दूसरी नर्स जवाब देती है—ये पार्टी वाले रोगी बड़े उत्पाती होते हैं, लेकिन किताबें बड़ी अच्छी-अच्छी लाते हैं साथ में। फ़िल्म-फ़ेयर...

बेड़ नम्बर चार ने ऐसा कोई उत्पात नहीं किया। उसने डाक्टरों को परेशान नहीं किया, नर्सों को सरपट नहीं दौड़ाया और न वार्ड के कुलियों को कॉल बुक लेकर बड़े डाक्टर के पास भेजवाया। ६८३ डिग्री बुखार अपने टेम्परेचर चार्ट पर लेकर वह लेटा रहा—लाल रेखा से नीचे एक काली बिंदी!!

मैं अपना टेम्परेचर चार्ट खोल कर कभी-कभी देखता था। मिस दास हाथ से मापती थी, मानो कपड़ा माप रही हो—बाप रे, साढ़े नौ हाथ!...जन्म-पत्तरी है यह तो।

बेड नं० ११ का टेम्परेचर चार्ट देख कर कोई भी कह सकता है—हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियों का रेखांकन है। बेड नं० २ के टेम्परेचर चार्ट और किसी विदेशी संगीत की सिम्फनी में क्या अंतर है। किसी सिम्फनी आर्केस्ट्रा का कंडक्टर इस कम्पोज़िशन को सामने रख कर—फर्स्ट वायलिन ग्रुप से कहेगा—मोस्ट टेंडर नोट... !

लाल रेखा पर तीन काली बिंदियां—फिर रेखा से नीचे एक बिंदी। फिर लाल रेखा से ऊपर दो बिंदियां !!

बेड नम्बर चार के टेम्परेचर चार्ट पर सिर्फ एक काली बिंदी पड़ी हुई है। लाल रेखा से नीचे एक काली बिंदी।...वार्ड में घूमते हुए डाक्टरों की आँखें, लाल रेखा से नीचे पड़ी हुई बिंदी को देख कर जरा भी चंचल नहीं होतीं कभी—नॉट सिरियस !

चार घंटे के बाद, डाईरेक्शन बुक हाथ में लेकर वार्ड नर्स कोई टेबलेट बांटने आई ! टेबलेट और दवा बाँटने के समय, नर्स की पगध्वनि छंद और ताल में बँधी हुई सुनाई पड़ती है—खुट, खुट, खुट, खुट, बेड नं० दो...मुँह खोलो—आँ करो...निगल जाओ...ठीक है...खुट खुट खुट खुट, बेड नम्बर तीन...मुँह खोलो...। बारी-बारी से एक एक-एक रोगी का मुँह खुलवाती है—मुँह खोलो। रोगी चित्त लेटा हुआ चिड़ियों की तरह मुँह खोल देता है। मिस साहिबा. मुँह में टेबलेट देकर, छोटे गिलास से

एक घूँट पानी डाल देती हैं—निगल जाओ। फिर—ठीक है—के बाद—खुट खुट, खुट खुट!

छंदभंग हुआ!...बेड नम्बर चार! अजी ओ...उठो। मुँह खोलो...बेड नम्बर चार?

बेड नम्बर चार न हिला, न डुला। चुपचाप लेटा रहा। मिस साहिबा विरक्त हुईं।...ललाट पर रेखायें खिंच आती हैं जब इस नर्स के...बड़ी भली दिखाई पड़ती है...अरे ओ सोनेवाले।

मिस साहिबा ने टेम्परेचर चार्ट पर नजर डाली—नार्मल तो है बुखार!

फिर उसने बेड नम्बर चार के मुँह पर से कपड़ा हटा दिया—घोड़ा बेंच कर सोया है। मिस साहिबा ने पलंग के पाँव में अपनी जूती का ठोकर दिया—बेड नम्बर चार।

और अंत में उसने कलाई पकड़ी। छूते ही न जाने क्यों, नर्स के ललाट पर खिंची हुई रेखायें बिला गईं...। उसने नाक के पास हाथ रख कर परीक्षा की, छाती पर तलहथी डाल कर देखा—'अरे, एक्सपायर्ड?'

खुट खुट खुट खुट खुट खुट...मिस साहिबा ड्यूटी रूम की ओर तेजी से दौड़ी—अरे बाबूलाल, 'ओ० डी०' ऑफिस जाते हो? जरा एक स्लिप लेते जाओ। बेड नम्बर चार एक्सपायर्ड कर गया।...अभी नहीं सर्टिफाई करेंगे तो फिर चार घंटे लग जायेंगे...।

ऑफिसर ऑन ड्यूटी—ओ० डी० आये। स्टेथस्कोप की थुथनी को छाती पर लगाया। फिर कान से निकेल के 'एयरपीस' को निकालते हुए, नर्स की किताब पर कुछ लिख दिया!

बेड नम्बर चार—एक्सपायर्ड!...मर गया चार नम्बर। वह सिर्फ मर गया। किसी का सुहाग नहीं लुटा और न किसी की आँख का तारा ही टूटा। उसके मरने के बाद किसी प्रकार के सामूहिक रुदन का भी कोई आयोजन नहीं हुआ। वह सिर्फ मर गया।...सिर्फ मरने में अंतर है।

अस्पताल के नियमानुसार उसका 'बेड-हेड टिकट' और टेम्परेचर चार्ट बना दिया गया था। उसने अपनी ओर से कोई प्रार्थना नहीं की थी। न दवा के लिए रोया-रिरियाया, नही फल के लिए वार्ड कुली से झगड़ा, न दूध का गिलास बढ़ाते हुए बोला—जरा लगा के देना, बाबूलाल भाई।

और न मेम साहब से पलंग के खटमलों की शिकायत की।...ठंडे होते हुए 'हॉटवाटर बैग' की तरह धीरे-धीरे वह ठंडा हो गया!

अस्पताल में दाखिल हुआ—इनडोर रोगियों के रजिस्टर के एक कोष्ठ को भरने के लिए एक बूंद रोशनाई खर्च हुई। वार्ड में आया—टेम्परेचर चार्ट पर रोशनाई का दूसरी बूँद खर्च हुई। वह मर गया, मरे हुए रोगियों के रजिस्टर की खानापूरी में तीसरी बूँद...!

बर्फ-घर के कुलियों का जत्था आया—मेम साहब! लीजिये 'साइन' कर दीजिये कागज पर जल्दी से।...बड़े साहब बैठे हैं। इम्तहान चल रहा है।

दूसरे ने कहा—बहुत मार्के से ताज़ा 'डेडबौडी' मिल गया। क्यों नन्दू!

स्ट्रेचर को उठाते हुए नन्दू नाम के कुली ने रसिकता की—चल भैया कदज-कदम बढ़ा के। हटो भाई, जरा निकलने दो—'सेकेन्ड पार्ट' के बाबू लोगों का 'कोसन्चैन' जा रहा है।

एक मेडिकल स्टुडेंट हड़बड़ाता हुआ आया और वार्ड नर्स से पूछने लगा—मिस दास।...प्लीज़। बेड नम्बर चार का 'बेड हेड टिकट' जरा दिखाइयेगा...क्या केस था कह सकती हैं?' नर्स मिस दास अपनी मुस्कुराहट को रोक कर बेड-हेड टिकट और टेम्परेचर चार्ट निकालने लगी।...तीन चार और परीक्षार्थी आये। कम-से कम केस की हिस्ट्री मिल जाय तो समझो पोस्टमार्टम में...।

मेडिकल स्टुडेंटों ने 'बेड हेड टिकट' को इधर-उधर उलटा कर देखा—रोगी के नाम की जगह लिखा था—एक रोगी—अचैतन्यावस्था में! पता—लावारिस !...टेम्परेचर चार्ट पर, लाल रेखा के नीचे एक काली बिन्दी पड़ी हुई थी।

सभों ने एक साथ हँसकर कहा—धत्तेरे की जय हो।

खुट खुट खुट खुट। मिस साहिबा मुस्कुरा कर मिक्सचर बाँटने चलीं।

और मैंने करवट लेकर दीवाल पर अंकित अपने नम्बर को देखा, बेड हेड टिकट मेरा काफी मोटा हो गया है—पचासों क़िस्म की रिपोर्ट ...!

तकिये पर अजाने ही दो तीन बूँद आँख का पानी गिर गया—बेवजह, बेकार, जिसका कोई अर्थ नहीं।

बँधे बिखरे छन्द जीवन के

कविताएँ : आत्मकथ्य : कविताएँ

शाम, एक थकी लड़की

धर्मवीर भारती

ओस भरी, तरलायित. बड़री, कटावदार आँखें मूँद
शाम—
एक सफ़र में थकी हुई लड़की सी
आयी और मेरे पास बैठ गयी :

बैठी रही गुमसुम : धीमे
से उठी,
और कसे हुए अंग ढीला
उतर गयी
गुनगुनी धूप की नदी में

साँवला सलोना जिस्म
कुछ क्षण लहरों के हिलकोरों पर
काँपा
फिर घुलने लगा—
घुलने लगा पानी की लपटों में
नीली मोमबत्ती सा !

ओ जल-निमग्ना !
ओ लहर-विह्वल !
अपने को थामो, सम्हालो—

मैं हूँ नदी-तल की रेत ।
अर्पित हूँ,
लेकिन किसी भी क्षण पाँवों तले से
बह जाऊँगा

प्रवाह

रामदरश मिश्र

एक महकती हुई लहर
साँसों से सट कर
हर क्षण निकल निकल जाती है

एक गुनगुनाता स्वर हर क्षण
कानों पर बह बह जाता है

एक अदृश्य रूप सपने सा
आँखें तैर तैर जाता है

एक वसन्त द्वार से जैसे
मुझको बुला बुला जाता है

मैं यही सोचता रह जाता हूँ
लहर घेर लूँ
स्वर समेट लूँ
रूप बाँध लूँ
औ' वसन्त से कहूँ —
रुको भी घड़ी दो घड़ी द्वारे मेरे
फिर होकर निश्चिन्त
तुम सभी को मैं पालूँ
पर यह तो प्रवाह है
रुकता कहाँ !
एक दिन इसी तरह मैं चुक जाऊँगा
कहते हुए —
आह ! पा सका नहीं
जिसे मैं पा सकता था......

तट पर

प्रमोद गुप्त

●

लहरदार सीढ़ियाँ
सीपी के छोटे दो पैर
बड़े बड़े बाल
भोली आँखड़ियाँ
वह किलक
खुली तालियाँ

तट पर
बालू का घर
द्वार द्वार
पथ
उपवन

एक लहर आई सब मेट गयी

मेट गयी
लहरदार सीढ़ियाँ
सीपी
शैवाल
बिखरे
घर
द्वार

●

पर्वत-संध्या

मलयज

ज्योति-पुरुष चले गये !

निर्निमेष तकती हताश घाटी के वक्ष पर
सिन्दूरी चरण धर
निर्मोही गौतम से !

किरनों की प्रत्यंचा झटके से टूट गयी
झुकी हुई धनुही से सहमे थे बादल
उस चोटी पर
        अटक गये

हवा संग वृक्षों की लुका-छिपी शेष हुई
पत्तों के उठे मुँह कातर हो
        लटक गये

दिन की जिज्ञासा
पगडण्डी सी मोड़ पर
कुहरे में डूब गई !

        अब भी, पर
        घाटी के वक्ष से
        झुके झुके बादल से
        वृक्षों से
        पत्तों से
        आती है एक ध्वनि—
आह हम छले गये !
    छले गये !!

वही नदी है

सुरेन्द्र दीक्षित

वही नदी है, रात उजेली, सब जाना-पहिचाना
मैं एकाकी हूँ औ' मुश्किल है मन को समझाना।
तोड़ रहा लहरों का स्वर खामोशी का ताना-बाना;
नरसल के झुरमुट में फिरता पवन बना दीवाना।

मूर्च्छित वातावरण पड़ा है, सूँघ गया है अजगर
गहन उदासी का। अंकित तट की गीली रेती पर
लहरें, लौट गईं जो कब की। प्यार तुम्हारा अन्तर-
तम में; बही जा रही धार व्यथा की मन्थर।

गीत

रवीन्द्र भ्रमर

एक पल निहारा तुम्हें
एक युग रीत गया—

वारी तुम्हें एक दृष्टि
मिली अमित सुधा-वृष्टि
एक क्षण दुलारा तुम्हें
एक युग बीत गया—

बंशी के पहले स्वर
गूँज गये भू अम्बर
एक शब्द वारा तुम्हें
सुन एक गीत गया—

सब के मन के अपँख
बने प्रीत के सपँख
एक दाँव हारा तुम्हें
एक जनम जीत गया—

एक पल निहारा तुम्हें
एक दुख रीत गया।

●

बौछार पे बौछार

भुवनेश्वर

●

बौछार पे बौछार
सनसनाते हुए सीसे की बारिश का ऐसा जोश

गुलाबों के तख़्ते के तख़्ते बिछ गए क़दमों में
क़ायदे से अपने रंग फैलाए मेंह से कुम्हलाए हुए

आग आवश्यकता से अधिक पीड़ा का बदला चुकाने को
पीड़ा निर्बीज करने वाली उस आग से भी अधिक

दल के दल बादल
कि हौले-हौले कानाफूसियाँ हैं अफ़वाह की
जो अपशकुन बन कर फैली हैं
किसी.. दीर्घ आगत भयानक यातना की

फ़ौजी धावा हो जैसे, ऐसा अन्धड़
बादलों के परे के परे बुहार कर एक ओर कर रहा
ऐसी ऐसी शक्लों में छोड़ते हुए उनको
कि भुलाए न भूलें

आदमी पर आदमी का ताँता
और हरेक के पास
बड़े ही मार्मिक जतन से अलगायी हुई अपनी
एक अलग कहानी
उसी व्यक्ति को लेकर
जो सदा वही एक कुर्ता पहने
उसी एक दिशा में चला जाता रहा

रहम पर रहम की मार
मरदूद क़रार देने उसी व्यक्ति को
और साथ उसके मठ के पुजारी को भी
जो शपथ ले-ले के जीतों और मुर्दों की
कम से आधे पखवारे में एक बार तो
झूठ बोलता ही है।

[अनु० शमशेर बहादुर सिंह]

सीधे अपने पाठक से

शमशेर बहादुर सिंह

तो साहब यह ज़रूरी समझा गया कि मैं अपनी कविता के बारे में कुछ कहूँ। क्योंकि, कहीं-कहीं—जहाँ मेरे बारे में दिलचस्पी दिखाई गई है—यह ख़याल किया गया है कि मैंने कुछ नयी चीजें हिन्दी कविता को दी हैं। मुझे नहीं मालूम; दरअस्ल मुझे नहीं मालूम। उनमें कुछ नयापन-सा हो सकता हो शायद, मगर 'नया' नहीं। बाज़ मेरे दोस्तों को मेरी कुछ रचनाओं से लुत्फ़ उठाने में दिक़्क़त महसूस हुई है, जहाँ मैं समझता हूँ कि न होनी चाहिए थी या जितनी हुई उससे बहुत कम होनी चाहिए थी। मैं ऐसा क्यों समझता हूँ, इस बारे में मैं कुछ कहना चाहता हूँ।

इस संग्रह[१] में मैंने अपनी अच्छी से अच्छी चीजें जो मैं पेश कर सकता था, अपने पाठकों की ख़िदमत में जमा की हैं। यह कह देना दुरुस्त होगा कि जब ये रचनाएँ लिखी गयीं, उस वक्त मुझे किसी पाठक की दिक़्क़त का ख़याल नहीं था (जो कि अब मुझे रहने लगा है।) सिवाय शायद अपने उस पाठक के जो मेरे हँसी-ख़ुशी और दुख-दर्द की आवाज़ सुनता और समझता है—शायद उसी ख़याली पाठक के, जिसके सामने मैंने अपनी बातों को खास अपने लहजे में, खास अपने मन के रंग में, अपनी लय, अपने सुर में, खोल कर, एक ख़ाब की तरह, एक उलझी हुई याद के बहुत अपने छायाचित्र की तरह, रखने की कोशिश की है: कोशिश क्या—बल्कि बात को बस रख दिया है (मगर) अपने उसी पाठक के समझने के लिए।

१ अप्रकाशित भूमिका : ४६। (अप्रकाशित कविता-संग्रह "उदिता" से) जिसमें सन् ४७ से सन् ४६ तक की कुछ कविताएँ संग्रहीत हैं।

क

बात की भूमिका

खैर ! आपने शामों की झुरमुट में, जब पच्छिम के मैले होते हुए लाल पीले बैंगनी रंग हर चीज़ को लपेट कर अपने गहरे मिले-जुले धुँधलके में खोने-सा लगते हैं—आपने उस वक्त ध्यान दिया है कि कैसे हर चीज़ एक ही खामोश राग में डूबने लगती है...वक्त के बहते हुए धारे में एक ठहराव-सा आता महसूस होता है...उस अजीब से शान्ति के क्षण में कहीं दूर उदासी की घंटी-सी बजती हुई सुनाई देती है ।

अब मान लीजिये

अब मान लीजिए कि यह पृष्ठभूमि आपके दिल की किसी खास चोट की है, वह चोट साधारण है या असाधारण, इससे बहस नहीं : तो यह बताइये—यह सच है या नहीं कि वह सारी पृष्ठभूमि, सारा मंज़र आप के ही अन्दर के दबे हुए ही घाव-सा उभर उठेगा और चुपचाप मुमकिन है वह शाम आपको अपनी ज़िन्दगी का एक टुकड़ा लगेगी...अपनी ही ज़िन्दगी, जिसका फैलाव आप पश्चिम से पूरब तक और ज़मीन से आसमान तक—एक अपने बहुत प्यारे खयाल की तरह देख रहे हैं, कि सीमाहीन फैला हुआ चला गया है। आप अकेले किसी बटिया के मोड़ पर खड़े हुए देख रहे हैं ।

कोई आपसे पूछे, आपने आखिर क्या देखा वहाँ जो आप ऐसे बुत से एक जगह जमकर खड़े रह गए ?

—अरे कुछ नहीं, भइ, यों ही एक खयाल-सा कुछ आ गया था...

ख

जो कुछ देखा और पाया,
उसी की कविता

बस, इसी खयाल के सुर, ताल, और रंग और नक्श और लहर मेरी कविता है। वह फिर जैसी भी है। मैं अपने आपसे बातें करता हूँ। हम सब एक न एक क्षण में करते हैं, बेमानी बातें—खामखयालियाँ—बे सिर-पैर के कुलाबे :—उनका कोई छन्द होता है ? उस सब में कहाँ ठहराव और फैलाव—और थाप, और गिराव होता है; कहाँ स्टैंज़ा बनता और कहाँ पैरा ?...हाँ, छन्द होता है, और ठहराव भी; और ताल और

सुर की चोटें और थाप और गिराव भी होता है, और स्टैंजा बनते और पैरे भी शुरू होते हैं—लम्बे-लम्बे और छोटे-छोटे विरामों पर मौज़ूं छन्दों में : जिनको हमारे दिल की लहर ही नाप सकती है और नापती ही है, (फिर आप क़बूलें या न क़बूलें ।)

फिर यह अजीब क्यों है ?

वाह ! तब तो इस कविता में कहीं ग़लती हो ही नहीं सकती । न शब्दों के चुनाव में, न छन्दों की गति में, न रंगों के मेल में, न असर की सही धड़कन में।

ऐसी बात नहीं है । नहीं, अगर ऐसी कविता खामख़ाह लिखी जाएगी, तो सभी तरह की ग़लतियाँ उसमें पैदा होंगी, और दरअसल कविता लिखी ही न जा सकेगी । अगर कविता (जिसे कहते हैं) "जीवन से फूट कर" निकलती है, तो उसमें जीवन की सारी बेताब उलझनें और आशाएँ और शंकाएं और कोशिश और हिम्मतें कवि के अन्दर की पूरी ईमानदारी के साथ अपने सरगम के पूरे बोल बजाने लगेंगी । क्यों साहब, वैसे ही अजीब तरह से, जैसे आपकी कविता में, शमशेर साहब ?

तीन वजहें

अजीब तरह कुछ नहीं है । शमशेर साहब अव्वल तो शागिर्द निराला के हैं । [हिन्दी कविता में निराला और पन्त के बाद कुछ भी 'नया' जिसे कहें, नहीं आया है, सिवाय कुछ थोड़ा सा अज्ञेय के यहाँ । और दूसरे कवियों के अन्दर जो कुछ 'नया' मालूम होता है, वह या तो अधकचरा है, या साहब 'विलायती बैंगन' है । (मुझे माफ़ किया जाय : आखिर मैं भी इसी ज़ुमरे में आ जाता हूँ ।]—वह अस्ल में निराला और पन्त की ही टेकनीक का ज़रा खास ढंग से 'निखारा' और 'आगे बढ़ाया हुआ' रूप है । वस्तुगत प्रयोग और रूपगत प्रयोग दोनों—जो कि हर अच्छी रचना में अन्योन्याश्रित रूप से ही सफल होते हैं—के यथासम्भव निर्दोष शिल्प के उच्चतम स्तर पर आज भी मेरा उतनी ही कठोरता से आग्रह है (कम से कम अपने लिए : हाँ, सिद्धान्त-रूप में ही !) जितना पहले था। बल्कि अधिक ही है ।

यह ज़रूर है कि मैं शायद अब उस सीमा तक निर्मम मार्क्सवादी

आलोचनात्मक दृष्टिकोण को नहीं अपनाता, जिस सीमा तक कि... मसलन्, मोटे तौर पर, 'टूटी हुई, बिखरी हुई' के (पिछले साल) प्रकाशित होने से पहले तक...अपनाता था। अब एक हद तक अपने आपको बख़्श ही देता हूँ, 'चलो ठीक है म्याँ, कोशिश किये जाओ!' अब यद्यपि अपने कवि के प्रति पहले से अधिक आश्वस्त हूँ, पर इस 'आश्वस्तता' की जड़ मैंने अच्छी तरह से अभी टटोली नहीं है, कि वास्तव में यह कहाँ से पैदा हुई और क्या है, और आया कि यह इतनी महत्वपूर्ण है कि इसकी जाँच करूँ।
—लेखक, १९५६]

दूसरे, मौजूदा अंग्रेज़ी कविता के टेकनीक को, जिसकी हिस्ट्री इलियट, पाउंड, कमिंग्स, एडिथ सिटवेल, ऑडेन, डायलन टामस वगैरह ने बनायी है—जिनको वह हज़रत इधर-उधर से ही जानते हैं—कविता की भाषा के लिए, जो आज हमारे मिडिल क्लास जीवन का चर्बा उतारना चाहती है, बहुत स्वाभाविक, मुनासिब और मौज़ूँ समझते हैं; और अपनी समझ से क़ामयाब और पुरअसर भी।

तीसरी वजह एक और है। शमशेर साहब की कविता सच पूछिए तो मजबूरी और लाचारी की कविता है। (सच-सच कहा जाय तो लोगों को यक़ीन न आएगा :—) बिचारों को हिन्दी की परम्परा से वाक़फ़ियत कम है, और संस्कृत बिलकुल जानते नहीं। सिर्फ़ अपनी ज़बान से प्यार है, कहते हैं। (या शायद प्यार होने का घमंड है। आख़िर उनके घर की, प्रान्त की ज़बान है।)[1] इसलिए ठेठ अपने बोलचाल के लहजे में—हाँ पंडिताऊ शब्दों का पुट फिर भी आ ही गया है इधर-उधर और बिला तकल्लुफ़ अपने मन की मौज में बह कर अपनी भाषा का अपने भावों के साँचे में इस्तेमाल किया है। आँखों में जो बसा, कानों में जो समाया और दिल में जो रम गया, उसी को झलकाया, उसी को गुनगुनाया, उसी को उजागर किया : जहाँ तक अपने बस में था। अपने बस में बहुत नहीं था—वह आर्ट; यह सही है।

ऐसी कविता की क़ीमत क्या है?

अनोखी और अजीब और नयी चीज़ें ज़रूरी नहीं कि बेशक़ीमती भी हों। वह परखने पर हलकी और घटिया, बल्कि सुबह की शाम बासी भी हो

[1] 'हम भी एक अपनी हवा बाँधते हैं'—बक़ौल ग़ालिब।

सकती हैं—एकदम बासी। कविता हो चाहे कढ़ी, कला की मूर्ति हो, चाहे कोई बूझ-बुझौवल की पहेली।

और जो सबक़ या सवाल या गल या राजनीति का मसाला या कोई योगक्रिया की सिद्धि या जागते जीवन में कला की पहचान, गूढ़ या मुश्किल हो, वह ज़रूरी नहीं कि बेमानी और बेमसरफ़ ही हो, सिरे से!—या आखिर में कुछ भी आनन्द देने वाली साबित न हों।

कला में नई पहचान

नई टक्करों से बहुत सी दोस्तियाँ भी कायम हुई हैं। ऐसी दोस्तियाँ जो कलाकार और उसके पाठक के बीच कायम हो जाती हैं। गो उन्हें शुरू में कुछ अर्सा लगा है। और जरूरी नहीं कि वह बहुत गहरी हों, वह नई लगावटें। हाँ सच्ची हों यह शर्त है।

ग

इन्क़लाब और यह कविता

इस (मेरी) कविता में जो कमज़ोरियाँ हैं; वह चरित्र की हैं। यानी कवि के चरित्र की। मध्य-वर्ग का कैरेक्टर है। और फिर आज का, नया, भी नहीं। ज़रा पिछला है।—(आज की साम्प्रदायिक भावना के उभारों को देखकर तो इसे बहरहाल ग़नीमत ही समझता हूँ; जैसा भी है यह)—यानी, जो हिन्दी कविता में छायावाद के बाद आनेवाला, नरेन्द्र और बच्चन के 'अभाव' और सोशल घुटन, और एक हद तक पलायन के अलावा जिन्दगी का कुछ ज़्यादा टूटा-फूटापन और उखड़ा हुआ बहाव-सा लिए हुए है। उस बिचले तबक़े की ज़िन्दगी के भँवर—खामोश, तेज़ होते हुए भँवर के चक्कर इस और ऐसी कविता में मिलेंगे जिससे निकलने के लिए एक तिनके का सहारा सिर्फ़ सोशलिज़म ही आड़े आया। जी, वही 'प्रगतिवाद' का आन्दोलन। जो कि दरअस्ल आज की ज़िन्दगी की सच्ची परख का आन्दोलन है; कला को ज़िन्दगी की गहरी नीवों पर ऊपर उठाने का आन्दोलन है। वह गहरी नीवें मार्क्सवाद के विज्ञान की हैं। (वह चीज़ जो कि मेरी कविता में आते आते भी नहीं आ पायी है।)

समाज के विज्ञान की नींवें

इस गहरी नींवों के नक़्शे पर जो फ़सीलें उठ रही हैं, जो इमारत उभरती आ रही है, उसी पर दुनिया की आँखें लगी हुई हैं। ईंट और गारे के रङ्ग में चमकते हुए मजदूरों के जिस्म पूँजी की बेरहम चिलचिलाती धूप में चिउटों की फ़ौज की तरह जुटे हुए हैं।

आगे का कलाकार मेहनतकश की ओर देखता है।

यह भविष्य का नया घर इन्हीं मेहनतियों का होगा। इन्हीं लाल गोरे काले पीले सुखी आज़ाद इन्सानों का होगा, जिनकी दुनिया भर में एक बिरादरी है; जिनके एके से "मानवतावाद" का झूठा भद्दा राग अलापने वाले दिल में घबराते हैं।

पूँजी के साझेदार, कला के पुजारी

"विश्व-मानव" की इस नई, सुन्दर, शिव और सच्ची एकता का अमर मन्त्र कला के उन पुजारियों को अच्छा नहीं लगता, जो अपने बुनियादी हक़ों के लिए सीना अड़ा कर लड़ने वाले मानव की इस पुकार से चिढ़ते हैं कि 'दुनिया के मज़दूर एक हो जाओ!' जो मज़दूर की उस सच्ची परिभाषा का विरोध करते हुए भी—जिसमें यह कहा गया है कि अगर मैं एक क्षण के लिए भी कर्म करना बन्द कर दूँ तो यह सारे विश्व का जीवन ही रुक जाय।—अपने आपको उस सोलह कलाओं वाले अवतारी देव-पुरुष का परम आस्तिक भगत समझते हैं, जिसने कर्म करने वाले को ही ज़िन्दा रहने का हक़ दिया है।... क्या खूब!

संस्कृति का मतलब

हमारी संस्कृति ज़िन्दगी के हर मोड़ पर अगर हमारा साथ नहीं दे सकती, हमारी आँखों को आगे का रास्ता पहचानने की रोशनी और दुनिया के कोने कोने तक शान और वैभव और प्रेम के जनतन्त्र, डेमोक्रेसी, का भोग करने की शक्ति हमसे छीनने लगती है, तो समझ लीजिए हमारे पुरखों का सत् हमारे खून से निकल गया, और यकीन कीजिए कि हम अपनी सन्तान को उन नीचाइयों में पीछे ढकेल देना चाहते हैं; जिनसे उठ कर हमारे पुरखे ऊपर आये थे।

अमरीकावादी पुराण-पन्थी और...
जनता के धर्मयुद्ध का कलाकार

आज जो विराट संघर्ष संसार भर में चल रहा है, कलाकार—

हर सच्चा कलाकार—आदि अमर जनशक्ति के उस विराट-रूप का दर्शन कर रहा है जिसके जबड़ों में आज के हज़ारों दुर्योधन और उनके सहायक अनगिनती कर्ण और भीम और उनके बल पर कूदने वाली भारी-भारी अक्षौहिणी सेनाएँ (चाहे वह चीन में हों या तुर्की और यूनान में), और एटमबम के खोखले धड़ाके—सब पुरानी ख़ुदग़रज़ी भरी डींगों के साथ ख़त्म हो रहे हैं। सब जगह ख़त्म हो रहे हैं।

"अर्जुन, जिनको तू अपने सामने गर्जन करता हुआ देखता है, उनका नाश तो पहले ही हो चुका है। आँखें खोल कर देख, इतिहास कहाँ से कहाँ पहुँच चुका है। दुनिया भर में एक समान, सुखी मज़दूर-किसान का राज है!"

आज की ज़िन्दा कला का मतलब

पुरानी संस्कृति का आज के जीवन में जो ज़िन्दा मतलब है वह यही है, वर्ना कुछ नहीं है। इस सच्चे मतलब को ढँकने वाली कला एक झूठा आडम्बर है; वह ऊपर से पहली नज़र में चाहे जितनी ख़ूबसूरत और मोहक लगे।

मगर यह बहुत ऊँचा, अगर्चे ऐन मुमकिन, और बहुत आनन्द और सुख देने वाला सपना है; जिसको नया कलाकर जीवन से, उसकी आन-बान और उसकी गरिमा के अन्दर से एक जौहर की तरह अपनी वाणी में खींचना चाहता है, और अपनी साधना और शक्ति के अनुसार खींचता भी है।...वह क्या खींचता है, स्वयं आन्दोलित मानव की हलचल उसकी बाँसुरी में अपनी यह दिव्य साँस फूँकती है।

यही काव्य-लोक है नये कवि के आगे।

[आधारभूत रूप से मेरा सामान्य दृष्टिकोण और मत अब भी बिलकुल यही है। मगर छोटी-मोटी बहुत सी बातों में मैं अब कुछ दूसरी तरह सोचने लगा हूँ। भाषा की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को देखते हुए यह सचमुच 'प्रयोग' का युग है : भाषा तेज़ी से अपने को बदलने के लिए नये मज़बूत साँचों की तलाश कर रही है। उसी की सरगर्मी का युग है यह। एक बड़ी भारी इमारत खड़ी करने के लिए एक बड़ी भारी ज़मीन साफ़ की जा रही है। मलवा हटाया जा रहा है। नयी 'भाषा' और नये साहित्य का निर्माण-

कार्य शुरू हो गया है। यह उसी का व्यापक शोर है। इस पूरे सीन का पर्यवेक्षण करते हुए सहसा यही मुँह से निकलता है—

"महवे-हैरत हूँ कि दुनिया क्या से क्या हो जायगी!" इक़बाल के गुरु ग़ालिब की उक्ति याद आती है, और बरबस याद आती है—

"हुई मुद्दत कि 'ग़ालिब' मर गया, पर याद आता है—
वो हर एक बात पर कहना कि यों होता तो क्या होता!"

यही प्रयोग की गहरी, और सच्ची स्पिरिट है।—लेखक, १९५६]

घ

अपनी पोल और छोटापन

मैं इसी काव्य के समन्दर के किनारे पर खड़ा हुआ अपने आपको पाता हूँ। यहाँ तक आने में जो राहें अब तक तय कर आया हूँ, वह चाहे जैसी ऊबड़-खाबड़ हैं, और बाज़-बाज़ जगह ग़लत मोड़ लेकर घूमी हैं, और चक्करदार अँधेरों से होकर गुज़री हैं, उन राहों की धूल और गर्द में लिपटे हुए ख़ाके कुछ ये आपके सामने हैं।

व्यंजना की परोक्षता।—जी!

इन ख़ाकों में कुछ हैं, जो महज़ इशारे हैं। जिनमें व्यंजना की परोक्षता ही केवल व्यक्त हुई है। जैसे रेखागणित की शक्लें होती हैं। उनका 'शाब्दिक अर्थ' कुछ नहीं है। मुमकिन है ऐसी कविताएँ बहुत मुद्दत बाद 'समझ' में आयें।[1] मगर कुछ पाठकों के दिल को वह अपनी तरफ़ ज़रूर खींचेंगी, मुझे पूरा यकीन है।

खिंचाव और पर्दे

इनके इस खिंचाव में ही इनकी कविता छिपी हुई है, शाब्दिक अर्थों में नहीं। शाब्दिक अर्थ सिर्फ़ इशारों के हलके पर्दे हैं। क्योंकि बाज़ दफ़ा हमें अपने जी का हाल सिर्फ़ इशारों की उलझी हुई दुनिया सा लगता है। अक्सर नहीं पता लगता कि आख़िर वह चाहता क्या होगा, वह

[1] मेरी इस प्रकार की कविताएँ सभी अप्रकाशित हैं। और भी कुछ प्रकार की।

अनमना सा क्यों है। उसके दुख या सुख या बेचैनी या खामोशी को, या खुशी या उम्मीद को, अगर मूर्त्त रूप में लगभग ज्यों का त्यों प्रकट किया जाय...उस तरह नहीं जिस तरह उपन्यास में कोशिश की जाती है, या जिस तरह संगीत की लय में, अलाप में हमको मिलती है।

यह कला! (आप इसे कहाँ तक समझेंगे !!)

बल्कि—उपन्यास और संगीत, कुछ दोनों के गुण लेकर (ज़िन्दगी के उस खास क्षण के अक्स में वह आ ही जायँगे) ऐसे शब्दों में उन्हें रख दिया जाय, जो अन्दर ही उमड़ते-घुमड़ते हुए राग के बोल की तरह आप ही आप फूट पड़ते हों। जो कमल-नाल की तरह चेतना की सतह को छूने के लिए ऊपर उभर कर आने को मजबूर हों और अपने प्राणों की ज़िद के साथ खिल पड़ते हों, और आप फौरन उन शब्दों को (जिस भी "लय" या "गति" या अपने "छन्द" में बँध कर वह आये हैं) उसी तरह रख देते हैं—तो इस रूप को आप कहाँ तक अपनी समझ से दूर समझेंगे ? और उसे अगर आप 'समझ लेंगे' तो क्या समझा भी सकेंगे ?

ज़रा सँभलकर

मैं मानता हूँ कि हमें (यानी अव्वल तो कवियों को ही) अपने इमकान भर ऐसी कविता से आम तौर पर बचना चाहिए। क्योंकि, सब कुछ होते हुए, आखिर तो एक उलझन वाली चीज ही ठहरती है यह। अन्तश्चेतना के बुदबुदों के इन कमलों को अन्दर ही अन्दर खिलने देकर, जब तक हमारी चेतन बुद्धि की रोशनी में वह अच्छी तरह खिलकर अपनी पूरी खुशबू न देने लगें, हमें उन भावनाओं की और ज़्यादा एहतियात से परवरिश करनी चाहिए। उनकी अपनी अजीब अछूती लय और छन्द भी जब तक एक सधी हुई ताल के साथ अपने आप खुलकर न बोलने लगें, हमें उनके मोह से बचना चाहिए।

गहरी मजबूरी

बहरहाल, मैंने इस संग्रह में ऐसी कविताओं में से सिर्फ उन्हीं को रखा है जिनमें इशारों के रंग और टोन काफी गहरी मजबूरी के साथ ज़ाहिर हुए हैं; गो कहीं-कहीं यह कितने ही अटपटे क्यों न लगते हों। और इसी संग्रह से कई पाठकों पर यह भी साबित हो जायगा, शायद, कि मैंने बग़ैर

अपना स्वाभाविक अन्दाज़ और लहजा छोड़े हुए, धीरे धीरे अपनी कविता को ज़्यादा से ज़्यादा ठोस बनाने की कोशिश की है।

कला की कोशिश का असली मैदान

यह कोशिश असल में ज़िन्दगी को समाजी संघर्ष के मैदान में ले आने पर ही क़ामयाब हो सकती है। क्योंकि यह कोशिश उस दौर की ऐतिहासिक कोशिश है, जिसकी मैं पैदावार हूँ।...इसलिए पाठकों को इस किस्म की कविता को, जैसी इस संग्रह में हैं, जरा सी हमदर्दी के साथ तो जरूर पढ़ना चाहिए (इसलिए कि वह एक खास दौर का आईना है। चाहे जैसा धुँधला या टेढ़ा-मेढ़ा और बुरा भी यह हो, इससे बहस नहीं) मगर उसको एक हद से आगे बहुत ज्यादा पसन्द के काबिल नहीं समझना चाहिए।......(अगर्चे मुझे डर है कि बुर्जुआ तबक़े का एक खास गिरोह कुदरती तौर से इसकी तरफ झुकेगा।—अगर ज़माना न बदला तो!)...... क्योंकि इस क़िस्म की कविता की असली पृष्ठभूमि घुटन और नाउम्मीदी और कर्म्मठ दुनिया से दूर भागने की पृष्ठभूमि है। हाँ, यह ग़नीमत है कि मुझ-जैसे जो दो-चार और अजीबो-ग़रीब कवि हिन्दी में हैं, वह क़रीब-क़रीब सब, जीवन के मौजूदा संघर्षों में, जहाँ तक मुमकिन है, हिस्सा लेना अपनी कला और अपने समाज की ज़िन्दगी की भलाई के लिए ज़रूरी समझते हैं। दरअस्ल उनसे अधिक इसका श्रेय खुद उस समाजी ज़िन्दगी को है, जो अपनी तमाम उलझनों से नजात पाने के लिए तेज़ी के साथ इस युग की काया-पलट कर रही है।

इसीलिए लोक-गीत, लोक-कला और आम बोलचाल के लहजे और संघर्ष के ज़िन्दा ड्रामे और समाजवादी दृष्टिकोण, सब मिलजुल कर अब कविता में आते हैं। अगर्चे इनमें से बहुत थोड़ी कविताएँ ही सच्ची और सुन्दर कविताएँ होती या हो पाती हैं। यों कला के इन नये मोड़ों पर आने से बहुत कम कवि बच सके हैं, नये हों या पुराने। लेकिन नये कवियों के लिए और उनके पाठकों के लिए तो इसकी माँग खुद ज़िन्दगी की ही माँग है, जिसको पूरा करने की कोशिश में, अपने-अपने दम-खम के हिसाब से, हममें से हर कोई लगा हुआ है।

प्रेत-सत्य

जगदीश

●

पल पल की साक्षी
तुमने नहीं बनाया
नहीं सँवारा
जो देखते
    प्रेत हैं
    उस सत्य का
            जो
            था
    आज होता
    बहुत देता
    किंतु,
तुम्हारे मोल-मानों के
वक्र साँचे में
        परम्परावश
रूप का विद्रूप होकर
        जड़ गया

और अब
  हो रहा है द्रूह
अपना भी
तुम्हारा भी

●

'फ़ादर ! वी थैंक द्दी'...

राजेन्द्र माथुर

व्यथा और दुस्साहस और
नियति दारोग़ा के मुख पर थूक देना
और कुंठा अकर्मण्यता
बेरोज़गारी और परमप्रिया
लेखनी और जलन और सदा
दुनिया को दूसरों को ग़ैर मानना
प्रतिद्वन्दी समझ कर क्षुद्र
संघर्ष में रहना रत और

कहना मत
कि रास्ता साफ़ है सूझता
कि मैं नहीं पहेलियाँ बूझता,
    लेकिन, यह, मेरे भाई ! मैं तो
    दुनिया के चक्कर से नहीं जूझता—
    नहीं जूझता ।

विसर्जित कुंठा

दुष्यन्त कुमार

मेरी कुंठा
रेशम के कीड़े सी ताने-बाने बुनती
स्वर से, शब्दों से, भावों से
और, वाणी से कहती-सुनती
तड़फ तड़फ कर बाहर आने को सिर धुनती
गर्भवती है—
मेरी कुंठा क्वारी कुन्ती ?
बाहर आने दूँ तो लोक-लाज मर्यादा
भीतर रहने दूँ तो घुटन
सहन से ज्यादा
मेरा यह व्यक्तित्व
सिमटने पर आमादा

प्रसव-काल है— सघन-वेदना
मन की चट्टानों, कुछ खिसको,
राह बना लूँ,
ओ स्वर-निर्झर बहो कि तुममें
गर्भवती अपनी कुंठा का कर्ण बहा लूँ
मुझको इससे मोह नहीं है
इसे विदा दूँ ।

यह कुंठा का पुत्र
अभागी, मंगल-नाशक
इसे उठा कर जो भी पालेगा

इसके हित कष्ट सहेगा
बुरा करेगा, द्रोही ! घातक !!

......प्राप्य सत्य के लिए
महाभारत सा जब जब युद्ध छिड़ेगा
यह कुंठा का पुत्र हमेशा
कौरव-दल की ओर रहेगा
और लड़ेगा—

रात का मसीहा

मार्कण्डेय

हर रात को
जब पीपल की पत्तियाँ
प्रेत की फूँक से सहम कर खड़खड़ा उठती हैं,
जब फूल भय के पसीने से भीग जाते हैं,
जब फल थरथरा कर डालियों से चू पड़ते हैं,
जब रात साँसों के डोरे बीनने लगती है,
जब जानवर जम्हुआइयाँ लेने लगते हैं,
मसीहा का उदात्त वन्य-स्वर तब सुन पड़ता है,
बड़ा साहसी है,
जैसे पत्थर का कलेजा है उसका
और इसीलिए तो वह इन्सान से ऊँचा है,
इस कमज़ोर कलेजे वाले आदमी पर,
उसके सहमे हुए तन पर, टूटे हुए मन पर,

उसके खंडित विश्वासों पर,
टूटे हुए तार की आवाज़ सी साँसों पर
उसकी रात सी खामोशी पर,
उसकी जानवर सी सीधाई पर
मसीहा हँसता है।

हर सुबह
जब कमल के होठों में
भोले बालक-सी मासूम हँसी बिखर जाती है,
जब किरण नये रास के सुनहरे नूपुर बाँध लेती है,
जब फल जवानी के रंग में महक उठते हैं,
जब सवेरा भौंरों के पंखों पर गुनगुना उठता है,
जब गायें थनों में दूध कसे रम्हाने लगती हैं,
तब मसीहा डरता है:
युद्ध से भागे हुए सिपाही-सा दिल है उसका,
और इसीलिए तो वह इन्सान से छोटा है
इस मुट्ठी बाँधे चलने वाले आदमी पर
उसकी फल-सी महक पर
फूल सी हँसी पर
उसकी चिड़ियों जैसी चहक पर
उसके सुबह-से जागरण पर
मसीहा रोता है।

अगहन की रात

नित्यानन्द तिवारी

ठण्डी बदबूदार हवा
अंधेरे का अजगर औंधा पड़ा
खामोशी जैसे कोई

आसपास भर गया,
कोल्हू की चरमर औ,
खखार भरी खाँसियों
के तीर
सन्नाटे की छाती में गहरे भिद जाते हैं।

पोर-पोर पिसता रहा ऊख का
चलता रहा कोल्हू रात भर
एक निचुड़ी खोइये सी
मायूस ज़िन्दगी की छाँह
बैलों को हाँकती रही सारी रात
रस कड़ाहे पर चढ़ गया
झोंकते अलाव रहे चुपचाप
ठंडक से सिकुड़ी देह
जैसे सारा अस्तित्व सिमट कर
आग की गर्मी के सामने नतमस्तक हो।

सुबह हुई, सूरज की किरनें
तराज़ू की डोरी बन
तोल गईं सारा श्रम
अस्तित्व अपना सिमटा रहा नतमस्तक।

अस्तित्व ओ मेरे !
चीख़ो मत
अभी और चढ़ने दो पानी
आत्मा की धार पर !

भाऊ समर्थ के तीन रेखाचित्र

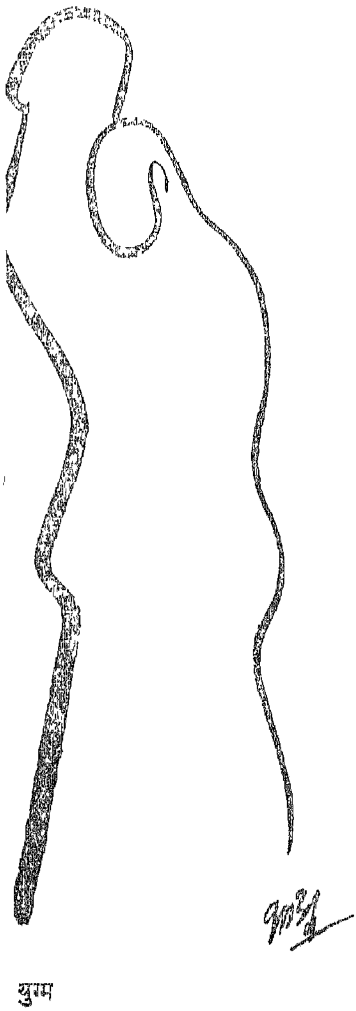
पहली दृष्टि में आप देखेंगे ...कृश शरीर, मँझोला कद और फीका गेहुँआ रंग का एक व्यक्ति भाऊ समर्थ अब तक अट्ठाइस वसन्त देख चुका है। ... वसन्त नहीं, सत्य तो यह होगा कि उसने तीव्र संघर्ष और कटु निराशाओं के अट्ठाइस पतझर देखे हैं, खुशहाली का बसन्त तो विरला ही कोई देखा हो। इन पतझरों ने उसके शरीर को क्षीण कर दिया है, उसके चेहरे का रंग चुरा लिया है। आज भी, जब कि उसकी तलिका के हुनर को स्वीकार कर लिया गया है, वह रूखी, बेरौनक ज़िन्दगी बसर कर रहा है। उसके पास इतने भी साधन नहीं कि वह अपनी कला-साधना के लिये आवश्यक उपकरण जुटा सके।

भाऊ एक रूढ़िद्रोही कलाकार है और निश्चय ही वह सब रूढ़ियों का विरोधी है। उसने न केवल अपनी कला के क्षेत्र में पुरानी मान्यताओं के 'नट बोल्ट्स' ढीले किये हैं, बल्कि उसने अपने निजी जीवन में भी तथाकथित रूढ़िवादी असामाजिक मान्यताओं को खुली चुनौती दी है।

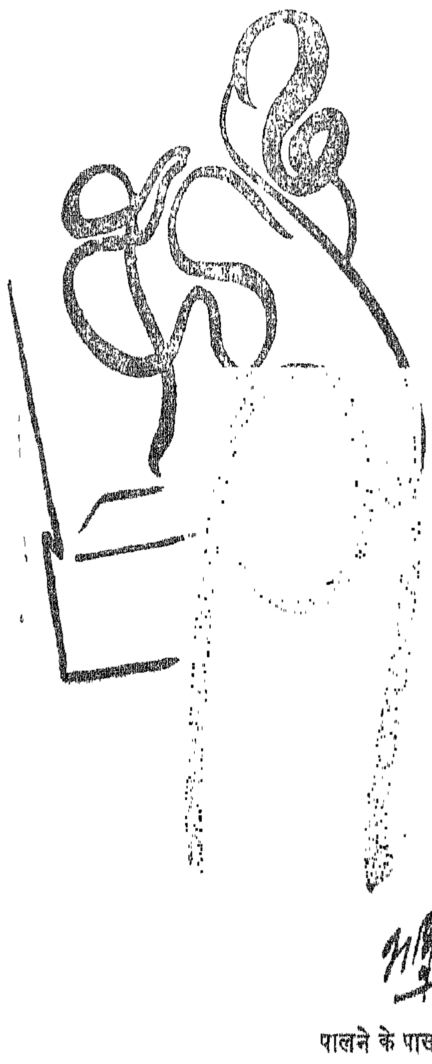
श्री विनायक मासो जी ने इस कलाकार के बारे में कहा था—"नवीनता की अनवरत खोज ने कला की अधुनातन प्रवृत्तियों से उसका सम्पर्क करा दिया। माध्यम, शैली और शिल्प के विविध प्रयोगों के फल-स्वरूप उसने कई मेधा, कौशल और सौन्दर्य-युक्त कृतियों का सृजन किया है, जो उसके शिष्यों की रुचि पर छा गई हैं और सामान्यजन तथा कला प्रेमियों की प्रशंसा की भाजन हैं।"

यहाँ भाऊ के तीन रेखाचित्र दिये जा रहे हैं। अपना परिचय स्वयम् देंगे।

—अनिल कुमार



युग्म



पालने के पास



मत्स्य-कन्याएँ

तसल्ली

उपेन्द्रनाथ अश्क

जानता हूँ—तुम न आओगी मगर फिर भी निरन्तर
देखता हूँ राह
कैसी बेबसी है ?
जानता है मन वचन के सत्य को, पर
चाहता है यह
भरम क़ायम रहे,
दायम रहे—यह झिलमिलाती शाम,
चलने को रुकी गाड़ी;
झुका सिगनल,
घिरे पशुओं सरीखी भीड़,
फैले बत्तियों के दाम ?

भीड़ का सागर लहर लेता
उमड़ता, मन्द हो जाता
कि पुल की ओर से लहरें नयी
तूफ़ान की गति से चली आतीं
नयी हलचल मचा देतीं ?

मगर मैं इस किनारे
(है सुरक्षित सीट, हैंडल हाथ में, फुटबोर्ड पर हैं पाँव)
देर से वंशी लगाये लोचनों की
सोचता हूँ—
अभी झटका सा लगेगा

झलक मुख पर कौंध उठेगी तुम्हारी
दीठि की डोरी तनेगी—
औ' तुम्हारी स्मिति,
तुम्हारे गाल का डिम्पल
तुम्हारे अधर-कोनों पर लरजते बोल
बन रहे अनगिन बहाने नेत्रों में—
आ मुखर होंगे अचानक पास मेरे
हल्की हल्की चुटियाँ
मीठे ठहाके
गूँज उठेंगे

—घड़ी सहसा रुक गयी थी; समय का...
—नहीं टैक्सी मिली...

—ट्रेन चलते वक्त आ पहुँचे हमारे ..

पर श्रवण मेरे बन्द हैं।
मैं सुन रहा कुछ भी नहीं
बस देखता हूँ—

अधर-कोनों को सिमटते-फैलते औ' लाल ओठों को
अजब सौंदर्य दे देते;
किलकती साँस फूली
वक्ष-सागर को उमड़ते औ' उतरते
देह की वह बेल हँसने में कभी झुकती, कभी तनती,
कभी फिर लोट सी जाती!
अजब आकांक्षाएँ
रात के गहरे अँधेरे में छिपी
अतृप्त रूहों सी,
निकल मन से
अजाने पंख अपने खोल—
मस्तक के उजाले को

नज़र की रोशनी को
वारुणी के घन अँधेरे सी
अचानक घेर लेतीं !

कि बजती है अचानक रेल की सीटी
हरी झंडी किसी निष्कलुष नौका-पाल सी हिलती
नहीं झटका लगा पर तन गयी है दीठि की डोरी
सिमट आये अनेकों युग
सिमटते एक इस क्षण में --

न जाने कौन, कब मेरी तरह
लटका सरकती रेलगाड़ी से
पँजा फूटे बचन से देखता होगा उसे,
जिसको न आना था ।

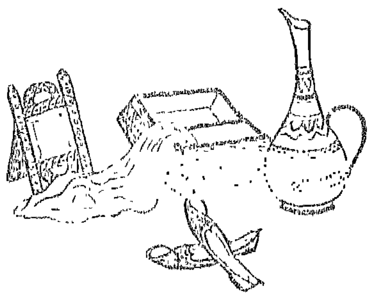
न जाने कौन कब मेरी तरह
लटका सरकती रेलगाड़ी से
निरन्तर बाट जोहेगा
किसी की जो
न आयेगी — न आयेगी !

मगर, खुद ही बहाने सोचता उसके
निगाहें भीड़ में गाड़े
तसल्ली दे रहा मन को
सरकता चला जायेगा


डार से बिछुड़ी
कृष्णा सोबती

सौ साल पहले

पंजाब की एक मार्मिक कथा



निकष के इस संकलन की

विशेष कथाकृति

जियें ! जागें

सब जियें जागे। जो मेरे कुछ लगते थे, अच्छे बुरे, अपने पराये, सब जिएं।

घड़ी भर पहले चाहती थी कि कहूँ सब मर खप जायें। न कोई जिये, न जागे। मैं मरूँ तो सब को ले मरूँ। मुझ अभागी के ही जीने के लेख बिसर गए तो कोई और क्यों जीये ? क्यों जागे ?

पर कौन होती थी। मैं अपने दुर्भाग्य से हरी भरी बेलों को जला देने वाली ? कौन होती थी मैं दूध-भरी झोलियों को सुखा देनेवाली। कौन होती थी मैं भरी भराई, लाड़ सनी झोलियों को सहमा देने वाली।

उस मालिक के किए जब भरी रही मेरी झोली—हरी रही मेरी झोली—तो क्यों न लोक जहान फले फूले। क्यों न अपने पराये जियें जागे।

जियें उनके अगले पिछले जिनसे बिछुड़ कर मैं अलग जा पड़ी थी। जियें उनके सगे सम्बन्धी जिनसे छुट कर मैं दूर जा गिरी थी। जियें उनके नैन प्राण, जिन्होंने मुझ कर्मजली को उठा गले से लगा लिया। जिएँ जागें उनकी भरी पूरी गृहस्थियाँ, जिन्होंने बाहें थाम मुझ कर्मजली को अपनी डार से मिला लिया।

सब जियें...सब जागें।

जो मैं थी...वह क्या फिर से लौट आई हूँ ? राह में भरे उठान से अकड़ कर...आँखों से रंगीन डोरे बिखेरते हुए चली जाती थी। ठहरने को न कपड़ा ठहरता, न नजर। और बाँहें किन्हीं प्यासी गलबहियों की तरह हर अँगड़ाई के साथ उठतीं-फैलतीं और सिमट कर रह जातीं। शाहआलमी से जब तिल्ले की नोक वाली जूती पहरे लम्बा 'परान्दा' झुलाते हुए निकलती तो आवाज़ें सुन सुन कर मुस्कराती। माँ क्या मुझ से कम रही होंगी ? खोजो के घर में पटरानी बनकर बैठ जाने वाली नानी की बेटी कैसी लगती होंगी वह, बार बार सोचती और सोच सोच कर और भी इठलाती।

चाहती कि किसी दिन चुपके से खोजों की हवेली की ओर जाऊँ और किसी झरोखे में से अपनी माँ कहलाने वाली की एक झलक तो पाऊँ। पर अपने छोटे बड़े मामू का कठोर चेहरा याद कर पाँव ठिठक जाते। बहाने बहाने शाहआलमी तक निकल जाती और कुम्हारों के घर तक होकर वापिस लौट आती। कभी नानी के साथ ठाकुरद्वारे जाती तो नानी तेवर चढ़ा कर सिर ठोंकती और कहतीं—"रब्ब तुझे सम्भाले, अरी कपड़ा नीचे रखा कर।" नीचे कुएँ में से पानी की गागर भर कर लाती तो बड़ी मामी तरेर कर देखती और फिर क्रोध से बाँह में अटकी गागर खींच कर कहती...

"पसार को छूने लगी। न शर्म न हया। ओढ़नी अब तेरी गले तक से उठने लगी..." मैं अपनी गोल गोल आँखों से देखती रहती। न पलक झपकती, न कुछ कहती, बस छिपी छिपी नजर से अपने चांदी के बीड़ों वाले कुरते को निहारने लगती।

तन्दूर तपा कर, परात में से आटा ले ले कर पेड़े बनाती थी कि छोटे मामू सीढ़ियाँ चढ़े। चूड़ियों की छनकार सुनकर जैसे ठिठक गए। हाथ पर पानी लगा झुक कर तन्दूर में हाथ डाला, सेंक न सहार सकने से उछल कर पीछे हुई कि मामू ने निर्दयता से चोटी घुमा दी और धक्का दे कर कहा—

"यह कुलच्छनियों वाले हाव-भाव!"

आवाज सुनकर नानी बाहर आई। एक बार मामू की ओर देख कर तिरस्कार से बोली—

"अरी कुएँ में डूब मरी थी तेरा बीज डालने वाली, अब तू सम्भल कर साँस भर!" एक बार तो आँसू छलके पर भरसक अपने को रोक ढिठाई से दोनों का सामना किए रही। उठी, फिर जलती रोटी निकाल चंगेर में डाली और पहले पूर में रोटियाँ लगाने लगीं। नानी कान की बड़ी बड़ी मुरकियों को हिलाते-हिलाते बोलीं—

"जा बेटा...कुछ शरबत पानी पी..."

पैर उठाते मामू फिर ठिठके और बाँह फैला कर बोले—

"तन्दूर लगाने को क्या यही चुड़ैल रह गयी है? इसे बर्तन भाँड़े मलने को दया करो..."

मामी लपक कर अन्दर से आईं और अपनी ओर चंगेर सरकाती हुई बोलीं—

"तुम्हें सौंह सगों की जो तुम फिर कभी परात छुओ..."

उस दुपहर खाना नहीं खाया गया। नीचे कुएँ पर जा झीनी सी ओढ़नी ओढ़ मल मल कर नहाती रही। कभी गोरे चिट्टे पाँव मलती, कभी बाँहें, कभी गर्दन। बैठे-बैठे ही कुएँ में डोर लटकाती और भरी गागर खींच अपने ऊपर उड़ेल लेती। पानी से भीग भीग कर न मामू की जलती निगाहें याद रहीं...न, नानी की, न मामी की। ऊपर गयी तो पड़ोसियों के घर से लगी कोठरी में जा लेटी। लेटे लेटे यही सोचती रही कि क्या है जिसके लिए आये दिन फटकार पड़ती है। सिर पर बाँहें फैला अँगड़ाई ली और दोनों ओर के ऐन बीचों बीच लटकती चाँदी की जंजीर देख कर एक बार फिर मुस्करा पड़ी।

दुपहर ढलते उठी। बाहर आई। ओसारे में नानी कशीदा लेकर बैठी थी। पीढ़ा खींच, चौके के बाहर लगे जूठे बर्तनों का ढेर साफ़ करने लगी। सूखी राख से कटोरे मल मल कर एक दूसरे पर टिकाती जा रही थी कि छोटी मामी बाहर से आईं और नानी को सुनाकर बोलीं—

"लाडो के नखरे तो देखो...पीढ़ी ले कर भाँडे मलने बैठी है। अरी बुरों की पीढ़ी पर बैठती है भले घर की बहू-बेटियाँ।"

सुनते ही मन जल गया। गुस्से में मामी को कुछ कहने को ही थी कि हाथ काँस के कटोरी पर गया और पूरे ज़ोर से माथे पर आ पड़ा। सम्भलती कि ओढ़नी पर टप-टप खून गिरने लगा। मामी भौंचक्की रह गयीं। नानी काँपती सी पास आईं और कुछ बड़बड़ाते बड़बड़ाते रुक गयीं। पास बैठ कर ठोड़ी छूकर मुँह उठाया, जैसे डर गयी हों और कंधों से घेर कर उठाते हुए छूते से गले से कहा—

"उठ बेटी, क्या पागल हुई हो—"

और अपनी कोठरी के सामने बिछी चारपाई पर जा लिटाया। नानी के घाव पोंछ कर ऊपर कुछ लगाने से न कराही, न रोई, न हिली-

डुली। बस आँखें मूँदे पड़ी रही। रात देर गए नानी घी डला दूध का कटोरा ले कर आई तो ऊपर झुक हौले से बोली—

"उठ बेटी यह पी डाल—"

हाथ के संकेत से इन्कार किया तो नानी ने झुक कर कहा—

"सिर फिर गया है री तेरा। इतना खून गया है, कल कैसे उठेगी?"

इस बार आखें खोलीं और हाथ से कटोरा नीचा उलट कर कहा—

"मेरी ओर से इसे चूल्हे में डाल दो।"

हौले से नानी ने, खाली बर्तन चारपाई के नीचे रखा और बाँही पर बैठते हुए बोली—

"सुन लेंगे तो चूल्हे में भून डालेंगे—समझीं—?"

सिरहाने पर से बँधा सिर उठाया, अँधेरे में ही नानी की ओर ताकती रही और फिर उसकी झोली में मुँह डाल रोने लगी। अपनी सिसकियों में ही नानी के गले की घरघराहट सुनी। जो नानी औरों के साथ मिल कर मुझ पर बरसती है, वह अकेले में मेरे साथ रोती भी तो है। दुपट्टे से मेरी आँखें पोंछ, नानी ने पुचकारते हुए सिर के नीचे सिर-हाना दिया और दुःख से बोली—

"इस मुँह से उसका नाम न लूँ बिटिया—उसी की करनी तुझे भरनी थी। नास हो उसका मुँह काला कर गयी घर भर का—मेरे दोनों बेटे उसको कितना मानते थे, यह लोक जहान जानता है—"

बीच में ही टोक कर कहा—

"नानी खोजों की हवेली—"

मुँह पर हाथ रख नानी ने घृणा से घुड़की दी। "वहाँ का नाम न लेना लड़की, कभी उस ओर नजर भी की तो लड़के तुझे जीता न छोड़ेंगे।"

●

उस रात बन्द आँखों में शहर भर में सब से ऊँची खोजों की हवेली घूमती रही। दिखा कि जलालपुरी दरवाज़े की ओर खुलता झरोखा एका-एक गुलाबी झलक मारने लगा है। मुँह उठाकर ऊपर किया तो तस्वीर सा मुखड़ा जल्दी से दिवार की ओट हो गया।

अगले कई दिन चारपाई पर पड़ी रही। सुबह सुबह फज़ल नाई आता और नानी के सामने मरहम पट्टी कर जाता। दोनों मामू और मामियाँ किसी भी दिन मेरे पास नहीं आये। जाने नानी ने उन्हें क्या कह कर मना किया होगा।

उस दिन ठीक हो जाने पर पहली बार उठी थी। नहा धो साफ सुथरे कपड़े पहने। तेल डाल बाल गूँथे। आले में रखे छोटे से शीशे में मुखड़ा देखा तो दंदासे वाले चमकते दाँतों से हँस पड़ी। क्या मामा मामी की कड़ुवी निगाहों से ही यह उजला रूप मैला हो जायेगा। बालों के पास माथे पर का दाग़ अभी लाल सा दीखता था। कसे बालों में से एक लट निकाल उस पर छितरा ली। उस पल पहली बार तहसीलदार की बहू का जड़ाऊ टीका आँखों में घूम गया। नाक की लौंग उँगली से छू कर कई बार मन ही मन दुहराया—वैसा ही टीका इस माथे पर सजेगा! वैसा ही...

मेरा उस दिन का बनाव-सिंगार पहले नानी को खटका था या मामी को, नहीं जानती पर शाम को नाइन को बुला नानी बोली—

"रांबया—लड़की के सिर में तेल डाल पूरा सिर गूँथ जा—यह रोज़ का टंटा अच्छा नहीं—"

बड़ी मामी अटेरन पर सूत चढ़ा रही थी—हाथ रोक मेरी ओर देखने लगी कि नानी को जवाब में क्या कहती हूँ!—

"मैं यूँ ही अच्छी, मुझे सिर को सूली पर नहीं चढ़ाना है—"

"क्या कहा—?" नानी कमर पर हाथ रख पास आ खड़ी हुईं और खा जाने वाली आँखों से फटकार कर बोलीं—

"आग लगे तेरी जवानी को—बैठती है कि नहीं—रांबया खोल इसका फुनगियों वाला परांदा—"

मन में आया रांबया समेत तीनों को रौंदती हुई इस घर से बाहर हो जाऊँ। पैर उठाने को ही थी कि नीचे सीढ़ियों पर छोटे मामू की आवाज़ सुन पड़ी। सहम कर रांबया के आगे जा बैठी।

सिर गूँथ रांबया ने पीठ पर होले से धौल लगाते हुए कहा—

"उठ री, बड़ों के कहने में रहा कर, पराये घर में बात उलटाने से कैसे गुजर होगी तेरी—"

मामी ने सुनकर बोली मारी—

"भली कही रांबया, इस चलते पानी का ठौर कहाँ ?"

सुन कर नानी को जैसे अच्छा नहीं लगा। अपने को सम्हाल कर कहा—

"जाने दो बहू—अभागिन न होती तो—"

एक साथ तीन मटके उठा कर पानी भरने नीचे उतर गयी। कस कर गुँथा सिर दुखने लगा था। कुँए की मुँडेर पर खाली घड़े को हाथ दिए दिए जाने कब तक बैठी रही। चौंक कर पीछे देखा तो कड़ी आंखों वाले बड़े मामू खड़े थे। एकाएक अंखियाँ छलछला आईं, जी हुआ मामू से लिपट कहूँ—"इस घर के लिए मैं भार हूँ मामू! मुझे कहीं छोड़ आओ! कहीं भी!

मामू ने पहली बार सिर पर हाथ रखा और जल्दी से खींच लिया। रुखाई से कहा —

"यहाँ बैठी बैठी क्या करती है ? चल ऊपर"—

भरी भरी आँखों से डोर बाँध घड़े नीचे बहा दिए और गज गज भर का हाथ दे जल्दी जल्दी ऊपर खींच लिए। एक सिर पर और दो बाहों में थाम ऊपर चली तो मामू मेरे पीछे हो लिए। अन्धेरी पतली सीढ़ियों में न झुकी न रुकी और चौके में तीनों मटकों की कतार लगा दी। मामू की ओर मैं देख नहीं पाई पर मन ही मन लगा कि मामू के माथे पर बल पड़ते चले आ रहे हैं।

चाहा नज़र बचा कर इधर उधर हो जाऊँ पर नहीं रुकी। भरी गागर का पानी उठा कर देग में उलटा दिया और बाहर चली। पहली सीढ़ी पर पांव रखा ही था कि मामू की आवाज़ सुन मुड़ गयी। चेहरे पर डरावनी तरेर थी।

"गागर रख, इधर आ!" जी धड़कने लगा। गागर रखने को झुकी तो शलवार का पांयचा पैर में अटक गया। गिरते पड़ते मामू के सामने जा खड़ी हुई।

"फतेहअली के घर गयी थी ?"

सिर हिलाया—"नहीं ।"

"गयी थी करीम से मिलने ?"

"नहीं मामू, नहीं !"

मामू की आँखें लाल हो आईं—"नहीं की बच्ची। तेरा दिया चमकी का रूमाल बाज़ार भर में दिखाता फिरता है —मौत आये तुझे —कहता है माँ शेखों के घर जा बैठी —अब लड़की इस दिल में रहेगी"—

दाँतों तले ओढ़नी दबा कर बार बार बेबसी से सिर हिलाने लगी —

"नहीं —नहीं——"

मामू को मेरी आवाज़ में, मेरे चेहरे पर कहीं सच नहीं दीखा। गुस्से में काँप कर नानी को फटी आवाज़ दी और फिर भँभीरा की तरह चुटिया घुमा कर पसार की दलहीज़ पर दे मारा।

आधी अन्दर पड़ी थी आधी बाहर और छम छम रोती थी।

"पखवारे से ड्योढ़ी की दलहीज नहीं लाँघी और मैं......मैं उसे रूमाल दे आई।"

......मामू को नीचे भेज मामी ने लानत फटकार दी और कुरता खींच उठाती हुई बोली—

"उस शोहदे से आँखें लड़ाने चली, जैसी कुलच्छनी माँ थी—"

नानी ने पास आ मामी को रोक दी। पड़ोसियों की छत को ओर इशारा कर के बोलीं—

"जहान खड़ा सुनता है ! कोठरी में डाल इस डूब जानी को—"

किवाड़ भिड़ा दोनों मामियाँ और नानी खा जाने वाली निगाहों से पास आ बैठीं।

"बुरे चलन की—रूमाल कब दे आई थी उस मरजाने को ?"

रो कर कहा—"मामी यह झूठ है,झूठ है"—

मामी हाथ मटका कर बोली—"अरी कालिखपुती, तेरी माँ भी यही कहती थी।"

नानी ने हौले से बाँह हिला कर कहा—

"कुछ और तो नहीं कर आई ?"

सिसकियाँ लेते लेते ठिठक गयी। जाने कैसी होऊँगी। नानी साँस रोके कुछ क्षण मेरी ओर तकती रहीं। जबाब न पा माथा पीट कर बोलीं—

"किन पापों का फल इस उम्र में मुझे पाना था। इसे मौहरा दो बहू, मौहरा।"

रात भर कोठरी में पड़ी रही। दिवार लग कर बैठी बैठी बहुत बार याद करती रही कि कब मिली थी करीम से, कब दे आई थी रूमाल उसे! शाहआलमी से जाते हुए तनिक एक नज़र उसे देख मुस्करा ही तो देती थी।

ठंड से सिकुड़ कर नीचे ही लेट गयी तो आँख लग आई। नींद में देखा—लाल जोड़ा पहने डोले में बैठने लगी हूँ और ओढ़नी के संग लटकता वही गठबन्धन का पीला चमचमाता रूमाल है।

नींद खुली तो आँखें मलमल कर अपने को देखा। सरदी में अकड़ जाने पर भी बदन हल्का फुल्का लगा। लाल जोड़ा—लाल-जोड़ा—

राह देखने लगी कि बाहर से कब किवाड़ खुलें। उठ कर नहाऊँ-धोऊँ और छोटे से दर्पण में अपनी छवि देखूँ।

पर संध्या से पहले कपाट नहीं खुला। बाहर किन्हीं पाहुनों की सी आवाज़ें आती थीं। जतन करती रही कि पहचान में आयें, पर बोल कहीं चौके के आसपास ही गूँज कर रह गये।

छोटी मामी ने साँकल उठाई। हाथ में लालटेन थी। पास आ कर मिजाज़ से बोली—

"उठ री मेरी लाडो-बहुत हो चुकी रुसवाई" बाहर आई तो नानी ने ढीले स्वर से कहा—

"पाशो, जा चौके में बड़ी मामी से लेकर कुछ खा पी"—

कड़ाई के समय यह ढिलाई समझ में नहीं आई। चौतरे पर हाथ टेके पत्थर सी बनी खड़ी रही। बड़ी मामी चौके से उठ आई और पीठ पर हाथ रख प्यार से बोली—

"आ पाशो—मामू का का कहा बुरा मानेगी! घर के खसम ने कुछ कह ही लिया तो जी को लगाने बैठी! चल टुक्कर मुँह में डाल"—

मामी ने रोटी तवे पर डाली—सैंक साँक कर खुला घी लगाय और थाली परोस दी।

मामी के लाड़ से जी छलछला आया। घुटनों पर सिर झुका भर भर आँखें रोने लगी।

छोटी मामी और नानी चौके की दहलीज पर आ खड़ी हुईं। नानी बोलीं—

"जिगरा कर बिटिया। खा पी नींद ले। कल प्रभाती जोड़ मेले जाना है"—

हिचकियाँ पल भर को रुक गयीं। रात भर कोठरी में बन्द रहने की सजा के बाद त्यौहार का चाव जैसे चौंका गया? उसी जोड़ मेले में जाऊँगी जहां के लिये सौ सौ मिन्नतें करतीं थीं और मामू हामी न भरते थे।

बेमन से कुछ कौर निगले और पानी पी उठ आई। नानी की कोठरी में चारपाई पड़ी थी। लेटी तो नानी ने लोई ओढ़ा कर कहा—

"अब जो न भटका, तड़के आवाज दूँगी तो उठ जाना।"

कहते कहते नानी का कण्ठ भर आया सा लगा। करवट ले आँखें मूँद ली। नानी ने बत्ती की लौ धीमी की और कुछ देर को बाहर जाकर लौट आई। पड़े पड़े ऐसा लगा कि कोई रह रह कर बाँह छूता है, सिर छूता है। बेसुधी की सी करवट ली और एक आँख की कोर से देखा—अपनी चारपाई की बाहीं पर उघड़ी बैठी नानी हाथ बढ़ा कर मुझे छूती है और रोती है। अज्ञात आशंका से जी काँप गया।

नीचे ड्योढ़ी में कुंडी उड़काने का खटका हुआ तो नानी हड़बड़ा कर बाहर चली गई। कान लगाए सुनती रही। मामू की मोटी आवाज की फुसफुसाहट थी और गली में घोड़े की टाप।

इस घड़ी न मामू का ऊपर आना नया था, न घोड़े की टाप, न नानी का बाहर ही जाना, पर डर से जी धड़कने लगा। जोड़ मेले के बहाने बाहर ले जा मेरी बोटी बोटी काट देंगे—सोचकर निढाल हो कर लेट गयी। चाहा कि एक बार नानी से पूछूँ तो पर मुँह नहीं खुला।

नानी के ऊँचे ऊँचे साँस उठ उठ कर गिरने लगे। मुँह पर से लोई उठाकर देखा नानी नींद में बेखबर थी। दिये की बत्ती बहुत नीचे जा लगी थी। पूरी आँखें खोल कर देखा, झरोखे की सीध पर लगे शहतीर पर दो पुराने लिहाफ़ लटक रहे थे। और उनमें से निकली रूई—एकाएक

नज़र दरवाज़े पर गयी। भिड़ा था पर कुंडी नीचे लटक रही थी। सोचकर घबरा गयी। चलो...चलो...नहीं...नहीं...

लोई अलग हो गयी। अब...पर...कहाँ...पीठ उठाई—छोटी सी चरमराहट—धुक...धुक नानी की सांस पहले की तरह ही बजती रही। सिरहाने पड़ी ओढ़नी से मुँह और सिर लपेटा और दहलीज की ओर बढ़ी। जान हथेली पर रख आधा कपाट सरकाया, पैर उठाया और होल पड़ते दिल से दबे दबे पाँव कोठे पर जा चढ़ी। बनेरे पर से—देखा सब ओर रात ही रात थी। दो चार ऊँची हवेलियों की की माऊन्तियाँ और अड्डे वाली मसीत के ऊँचे मीनारे दीखते थे।

धुकधुकी में देह गीली हो गयी। कह...कहाँ...मुंडेर फाँद पड़ोसियों की छत पर उतरी तो एक ही बात मन में आई...

खोजों की हवेली.........दौड़ चलो...दौड़ चलो...मामू जागते ही होंगे...

●

मामू कब जागे, कब घर में हाहाकार मचा, यह कैसे मैं जान पाती! तारों की लौ में, सराफ़े के पिछवाड़े जब लुकती छिपती खोजों की हवेली तक पहुँच गयी तो आगा पीछा सोच कर कंपकपी छिड़ गयी। ओढ़नी को दो बार सिर पर लपेटा और मुँह ढँक लिया।

छोटे बड़े मामू की आँखों की तरह किवाड़ के दोनों पाट जुड़े जुड़े मुझे घूरते थे। खड़े खड़े दाँत भींच कर रुलाई रोकती थी और दोनों हाथों हाथों से ड्योढ़ी का द्वार ठेलती थी। गली के कुत्ते भौंक भौंक जी दहलाते थे और हर साँस के साथ जैसे मामू पास आते जाते थे। मुक्कियाँ मारते मारते वहीं लटकी सांकल खड़क गयी। चाहा कि चिल्ला चिल्ला कर कहूँ—"खोल दो, जल्दी खोल दो! जल्दी खोल दो—मैं मर जाऊँगी"—पर घिग्घी बँध गयी। निढाल होकर मैं सिर से थाप देती होऊँगी कि तबेले से कोई ऊँची आवाज आई, "ओ खुदा की मार तुझे—इस कुवेले कौन है?"

हिचकियों के तार में से एक ऊँची चीख निकल गयी। चरमर...

चरमर करता वह दो जनों का सा ऊँचा कपाट खुल गया। खोलने वाले के पैर पकड़ कर रोते रोते बोली—"मुझे मार डालेंगे—मार डालेंगे।"

"आई कहाँ से ?" फटे फटे गले से इतना ही कह सकी—

"बढ़वाली हवेली......"

पलक झपकते मज़बूत हाथ कलाई पर पड़ा और खींच कर अन्दर कर ली गयी। दीवट की रोशनी मुँह पर डालते ही ऊँची लम्बी देह चौंक कर पीछे हट गयी।

"बुरी घड़ी तेरे सिर लड़की-आधी रात को तू शेखों के घर ?"

ड्योढ़ी में पड़े बाजरे के ढेर पर औंधी हो सिसकने लगी।

सीढ़ियों पर से ऊपर जाती इकहरी आहट जब दोहरी हो कर नीचे उतरी तो कानों में कुछ और सी हो कर लगी।

"निक्की, मुँह ऊपर उठाओ, इधर देखो..."

यह नया सयाना स्वर सुन कर और भी रुलाई आई। सिर पर हाथ रखा मुँह ऊपर किया तो ठिठके से इतना ही कहा—

"पीर फ़कीर खैर करें, पर इधर की राह कैसे ढूंढ ली..."

"मर जाऊँ-मैं मर जाऊँ—" सिसकियों को रोकते रोकते आँखें और बरसने लगी।

दूर गली में कहीं चौकीदार का खबरदार गूँज कर चौंका गया।

"दिल्ले, माँ जिन्दां से कह कर मेहरबी के पसारवाली सीढ़ियाँ खुलवाओ—"

और शेख मुझे घेर कर एक हाथ में लालटेन पकड़े बाहर वाले आँगन में ले आये। चुप रहने का संकेत कर, दबे पाँव ड्योढ़ी की साँकल देखी और लौटकर धीमे से कहा—"राह में कोई मिला ?"

"नहीं।"

"किसी ने देखा—"

सिर हिला दिया—नहीं।

ऊँचे लम्बे शेख झुक कर मेरे चेहरे पर की नासमझी देखते रहे और फिर बच्चों की तरह थपथपा कर बोले—

"जो होना था सो हुआ। कौन टालता इसे ? जिसके आसरे वहाँ से निकल आई हो अब वही कोई राह भी सुझायेगा।"

ऊपर पसार की अगली ड्योढ़ी में मुझे रोक शेख़ आगे बढ़े तो अन्दर घबराई आवज आई—

"खैर तो है...शेख जी......"

भारी गले से एक छोटी सी हँसी।

"खैर ही है मेहर—नीचे की ड्योढ़ी से तुम्हारी छोटी मेहर को लिवा लाया हूँ। आओ बच्ची, अन्दर चली आओ!"

"कौन शेख़ जी?" बोल घबराहट में अटक अटक गए।

"कौन इतनी रात गए........"माँ जिन्दा के साथ पहले मैं अन्दर पहुँची कि वह बाहर आई कुछ पता नहीं। किसी ने आँखों पर से ओढ़नी उठा मुंह देखा—

"नहीं—नहीं—शेखजी—नहीं"—और रोते रोते मुझे अपनी ओर खींच लिया।

शेख़ जी समझा समझा कर अलग करते थे—"सब्र करो मेहर! अब तो तुम्हारे पास आन पहुँची।" पर रेशमी ओढ़नी से लिपटी मेरी बाहें उस गले से अलग न होती थीं। "मैं भी ऐसी ही थी!...मैं भी ऐसी ही थी...!

नानी की बेटी बार बार यह कहती थी और रोती थी।

माँ जिन्दा आगे बढ़ आई। "जिगरा रखो मालकिन, अब लड़की और न रुलाओ।" उस चाँदी के ऊँचे पाये वाले पलंग पर जब लेटी तो ज़िंदा की मालकिन सिरहाने पर कोहनी टेके कई पल मुँह निहारती रही फिर बालों को छूकर गीली आवाज़ में बोली—"इतनी बड़ी हो गई और मैं जानती तक न थी?"

और मैं उस नर्म नर्म गर्म बिछौने में लेटी पट्ट के कुरते पर लटकती सोने की ज़ंजीर तकती रही... हाथ में लिश्कारा मारती आरसी तकती रही।

माँ ज़िंदा ने आकर नाले में की बत्ती नीची की और पास आकर कहा—

"मालकिन लड़की सरदी में भटकती रही है, इसे सोने दो, तनिक शेखजी बैठक में बुलाते हैं...मुझे अच्छी तरह कपड़ा ओढ़ा कर रानी सी

शेखों की घर वाली जब उठकर बाहर चली तो नीचे लटकता सुनहरा परांदा इन आँखों में बस गया।

माँ जिंदा ने सीढ़ियों में खुलता किवाड़ उड़का दिया और कटोरी में से घी ले हाथ मलने लगी। जरा सी हिली तो कहा—

"पहली रात बीत गई बेटी। अब नींद ले। जी को न भरमा, रब अच्छा करेगा।"

आँखें मूँदीं। मामू सामने आये, ठोड़ी पर हाथ रखे मामियाँ और सिसुक सिसुक कर रोती बूढ़ी नानी। फिर जी काँपा कि नानी की बेटी और उसके शेख जी दीखे। गह पलंग ऊँची हवेली, हवेली ड्योढ़ी और नींद में बेखबर हो गये।

तड़के जगी तो नये पसार में अपने को देख रात की रात सामने उतर आई। घबरा कर माँ ज़िंदा से यही पूछा—

"मामा तो नहीं आये ?"

"नहीं बेटी, निश्चिंत रहो, अब उठ कर नहाओ धोओ। मालकिन तुम्हारी राह तकती होंगी"—बहुत कुछ पूछना चाहते भी चुप रही। ज़िंदा की देख रेख में नहा धो कपड़े बदले। नर्मे का जोड़ा पहनते हुए कहा—"यह तो मेरा नहीं।"

"पहनो बेटी, मालकिन ही निकाल गई हैं।"

फ़ालसई रङ्ग के जोड़े पर मुँगिया ओढ़नी ओढ़ जब चबारे वाली बैठक में पहुँची तो मामू की बहिन रागंली पीढ़ी पर बैठी बीज छील रही थी। सिर पर गुलजड़ा दुपट्टा था, पैरों में सलमे सितारे वाली 'जुत्ती'। पास पड़ी पीढ़ी पर बैठी तो बिना पलक झपके यही देखती रही कि नानी की बेटी की शक्ल नानी से नहीं, मुझी से मिलती है। मुझ सा ही रङ्ग है, मुझ सा ही माथा है और......

"माँ—इस चबारे की सीढ़ियों पर ताला डाल जाओ-और शेख जी की छोटी बैठक की 'माऊन्टी' वाली सीढ़ियाँ खोल देना। तुम्हीं अन्दर आओगी। कोई और नहीं—"

माँ ज़िदा बाहर हो गयी तो चांदी का पानदान एक ओर सरका कर मुन्दरी और छल्लों वाला भरा भरा हाथ मेरे सिर पर रखा और हौले से पूछा—

"बेटी किसी ने कुछ कहा था?" मैं आँखों पर आती धुंध को रोकती रही।

कह बेटी—मुझ से तो कह—

नया-पुराना अगला पिछला सब याद हो आया। उस लाड़ भरी आवाज में बह बह कर जाने क्या कुछ सुनाती चली गयी। ठिठक कर देखा तो इस बार मैं नहीं—माँ रोती थी। रोते रोते बोली—

"बिटिया तेरा दोष नहीं—मैं ही इस सब की भागीदार हूँ—मेरे वीर तो सच्चे हैं—मुझ जैसी अभागी बहिन जिनकी लिशकती पगड़ियों का खरा पानी उतार फेंके, उन्हें उसकी जायी कैसे सुहायगी।"

सुन कर सोचने लगी कि माँ क्यों उनकी ओर से बात करती है। मुझे जो दिन रात की फटकारें मिलतीं थीं क्या कुछ नहीं। कुछ नहीं।

माँ ने जैसे मेरे मन की बूझ ली हो। ओढ़नी से आखें पोंछते हुए कहा—बिटिया—"तेरी माँ को इस घर में कोई कमी नहीं रही—पर जो अपनी पिछली ड्योढ़ी पर काला पल्ला डाल आये, वह किस मुंह से किसी को उलाहना दे।"

जो माँ कहती थी—वह मैं सुनती थी, पर समझती नहीं थी।

दुपहर रोटी के बाद मुझे लेटने को कह माँ जब बाहर गयी तो खोई खोई सी सोचती रही कि मैं उस घर से कैसे बाहर निकली हूँ कि दूसरे में बन्द हो गयी हूँ। अन्दर से कुण्डी चढ़ी है और बाहर ताला पड़ा है।

आज के दिन उस हवेली में क्या होता होगा? क्या सोचते होंगे मामू कि मैं कहाँ हूँ? उनके लिए क्या मर तो नहीं गयी हूँ?

एकाएक गागर उठा पानी भरने को मन हो आया। तन पर इतना बढ़िया जोड़ा—इसे कोई देखे तो......पलङ्ग पर से उठी। कोने में पड़ी चौड़ी डलिया में से माँ का कशीदा उठा कर देखने लगी। लाल फुलकारी पर पीले पट्ट की कलियाँ सोने की सी दीखतीं थीं। मन में चाव उमड़ आया।

एक दिन ऐसी ही नाग-फुलकारी ओढ़ कर किसी के पाँव जा लगूँगी।

दिन ढले सोकर उठी तो बन्द पसार से घबरा कर जैसे जी उचाट होने लगा। चाहा कि घूम घूम कर सारी हवेली देख लूँ। पड़ी पड़ी किसी के अन्दर आने की बाट जोहती थी कि पास ही कहीं खुले गले से उठते 'माहिया' के बोल गूँज उठे। लय के साथ हौले से लय मिलाने को थी कि खिड़की पर छोटे से कंकर के लगने से चौंक गयी। सांस रोके पलंग पर से उठ खड़ी हुई कि हाथ की थाप पड़ी। बांही पर पैर टिका किवड़िया खोली तो कोई लम्बी आकृति 'अम्मी' कहते कहते चौंक कर पीछे हट गयी।

माँ री.........धम्म से नीचे बैठ गयी।

माँ ज़िंदा हाथ में दूध-सेमइयों का कटोरा ले कर आईं तो खुली खिड़की देख मानो आसमान से गिर पड़ी।

"यह.........इसे क्या तुमने खोला बिटिया ?".........आवाज़ में रुखाई थी।

देखती रही और कुछ कहा नहीं। इतने में माँ आईं। ज़िंदा के हाथ से कटोरा ले बोली—"खा बेटी अब तक भूख लग आई होगी।"

माँ ज़िंदा ने आँखों ही आँखों में कुछ कहा तो माँ का चेहरा कुछ कड़ा हो आया, पर प्यार भरे गले से कहा—

"कुछ देखने को खोली थी बिटिया....?"

सिर हिलाया...नहीं।

"तो फिर..."

ढीठ सी होकर चुप बनी रही।

"माँ ज़िंदा ऊपर की माउन्टी तक हो आओ"—

माँ मेरे पास आ बैठी और घड़ी भर कुछ जाँच लेने को तकती रहीं।

"बाहर कोई दीखा था ? क्या कहूँ"...

ज़िंदा के आगे आगे किसी ने दलहीज पर खड़े हो कर कहा...

"अम्मी।"

माँ ने सिर घुमाया और आश्चर्य से इतना ही कह सकीं..."लाली।"

मैं अपलक वहाँ खड़ी रात वाले शेख जी की छोटी मूरत को देखती रही।

माँ ने हिलाकर कहा—"बेटी, कोई और नहीं तुम्हारा वीर है—लाली इधर आ बेटा—तुम्हारी बहन लगती है।"

माँ ज़िदा अपनी गोल गोल आँखें घुमा कर बोली "मालकिन, मालिक बेटे को पूछते थे—जरा साथ चली जाओ। सामने से आँखें लौटाईं तो माँ ज़िन्दा ने हाथ में कटोरा थमा दिया था और सामने न मां थी और न कोई और।

माँ ज़िदा ने फिर मुझे अकेले नहीं छोड़ा। रात के रोटी-पानी के बाद वहीं पीढ़ी डाल बैठी रही। बहुत देर हुए माँ आई। ओढ़नी उतार ज़िन्दा को दी और मेरे साथ बिछौने में लेटते हुए कहा—

"ज़िदा ऊपर सब पक्का है न? नीचे भी देखभाल आओ"—

ज़िदा चली गयी तो माँ सिरहाने पर कोहनी टेक मुझे गले तक कपड़ा ओढ़ा कर धीमे से बोली—

"सब कुछ उस मालिक की मर्जी से होता है बीबीरानी—पर यह अच्छा नहीं हुआ। बेटी! तुम्हारे मामूओं ने कल से कुछ मुँह नहीं लगाया और बहूएँ सास को पल पल धिक्कारती हैं कि लड़की के पहले वही क्यों नहीं मर गयी।"

धड़कते जी से पूछा—

"कौन खबर लाया है—?"

"गमदू नाई।" माँ चुपचाप देखती रहीं और मैं कभी माँ के गलहार को, कभी नाक में चमकती चमचम करती लौंग को बीच बीच में आँखें बन्द करतीं और खोलतीं तो यही पाती कि माँ की नज़र दीवार पर टिकी है। सोच में डूबे डूबे वह लम्बी साँस भरती थीं।

"बेटी!"—चौंककर आँखें खोलीं।

"यही पूछती थी बेटी—मामू तुम्हारे ने कहीं रिश्ते की बात चलाई थी"—

सुनकर लजा गयी। आँखों पर हाथ रख के सिर हिलाया—नहीं।

सोते सोते करवट ली तो चौंक कर देखा माँ पास नहीं। रात आधी होगी। सिकुड़ कर कपड़ा मुँह तक खींच लिया। अभी कच्ची ही नींद में थी कि शेख़जी की धीमी आवाज़ सुन पड़ी—

"जब उसने मन में ठान ही ली तो फिर आज नहीं तो कल"—

माँ ने रुलाई वाले कण्ठ से कहा—"सोचकर मेरा जी काँपता है शेख़ जी ! एक ही बैर क्या कम था"......

"मेहर, अजानी लड़की को क्या दर से मोड़ देते ? तुम्हारी ही तार उसे वहाँ खींच लाई"—

माँ का रोना फिर सुन पड़ा।

"अब हौसला करो मैं थोड़ी देर नींद ले लूँ। मैं अभी जगा ही दूँ—"

माँ ने हौले से कपड़ा उठाया और मेरे पास आ लेटी। ऊपर नीचे होतीं मेरी मुंदी पलकों को देख शायद माँ ने जान लिया कि सोई नहीं हूँ—पुकारा—"पाशो ! पाशो !—"

आँखें खोल उठ बैठी। "सच सच कहेगी बेटी", माँ के बोल सुन कर डर लगने लगा।

"करीमू के कहे घर से निकली थीं ?"

क्या कहूँ सूझ नहीं पड़ा।

माँ की कटोरी-आँखें झपकी नहीं।

"पहले पहर उसके पास थी ?"

ठीक ठीक समझ न सकने से टुकर टुकर देखती रह गयी।

मामू वाली तरेर थी माँ के माथे पर।

"हवेली तक छोड़ने आया था ?"

घबरा कर कहा—"नहीं तो"—

"देख पाशो—झूठ न कहा। या मेरा वीर नहीं था फतेहअली का लड़का ?"

दाँतों तले उँगली दबा कर रुलाई रोकने लगी। एकाएक माँ की आखें लाल हो आईं। "यहाँ तू आई किसके कहने से—" ओंठ हिले कि कुछ कहूँ पर गले से हिचकियाँ उठने लगीं।

"अन्धे कुएँ में जा गिरती—कहीं डूब मरती। अरी, तू अपने परायों की बैरिन बनकर घर से निकल पड़ी।"

माँ ने काँप कर माथे पर हाथ मार लिया। भर भर आँखें रोने लगी। आवाज़ सुन शेखजी उठ आये। झिड़क कर बोले——

"मेहर पागल हुई हो? अपने साथ लड़की को भी रुलाती हो।"

माँ ने रोते रोते कहा——

"शेख जी इसे वहीं छोड़ आओ, हम यहाँ सम्भालें नहीं...नहीं मुझे वे मार डालेंगे——"

माँ ने आँखों पर से पल्ला हटा कर कहा——

"जो चाहे सो करें। लड़की, इस घर में तेरा पाँव बुरा है——"

शेख जी ने टोक कर कड़ी आवाज़ में कहा——"मेहर, तुम्हारा चित्त ठिकाने नहीं——अब कुछ और नहीं सुनूंगा।" और माँ का हाथ पकड़ अपनी बैठक की ओर ले चले।

रो धो जब सुबह उठी तो माँ नहीं——शेख जी पास आये। पास बैठा प्यार से कहा——

"बच्ची, माँ की बात को मन में न लाना। और हाँ एक बात तो याद करो, हवेली से निकल कर यहाँ तक आते तो किसी ने नहीं देखा——"

कुछ घबरा सी गई——"नहीं"

"ढक्की पर कोई पहरू नहीं मिला?"

"नहीं तो——"

"याद करो, बेटी——"

"मैं तो कोठे लाँघ कर आई थी..."

शेख जी पल भर मेरी ओर देखते रहे फिर सिर को थपथपा कर जाते हुए बोले...

"अब नहा धो कुछ खाओ पीओ। बीबी रानी——"

"शेख जी——" पीछे से पुकार कर झिझक गयी। शेख जी मुड़े।

अटक अटक कर कहा——"नाई से पुछवा भेजें शेख जी——मामू राज़ी हों तो वहीं जा रहूँ..."

मन में उठते डर को जैसे अपने आप ही समझा कर बोली——

"बड़े मामू दो एक दिन पीट ही तो लेंगे——"

शेख़ जी सोच में डूबे, बड़ी देर भर मुझे देखते रहे फिर छोटी सी हँसी हंस कर बाहर हो गए।

आधी रात मुँदी आँखों में सपने देखती थी। ऊँची चिट्टी घोड़ी पर दौड़ती चली जा रही हूँ, दोनों हाथों से किसी को कस कर बैठी हूँ और सिर पर की ओढ़नी बार बार उड़ उड़ जाती है—

एकाएक किसी ने झकझोर कर जगाया—पाशो—पाशो—हड़बड़ा कर उठ बैठी। क्या देखती हूँ—माँ सिरहाने खड़ी है और माँ ज़िन्दा फुस-फुसा कर कह रही है—"मालकिन, शेख़ जी, जल्दी कर रहे हैं—"

बिछौने से उठवा कर माँ ने जब गर्म चद्दर ओढ़ाई तो ठिठकी सी देखती रही। क्या उसी घोड़े पर चढ़ने जा रही हूँ।

माँ ज़िन्दा ने घेर कर कहा—"आओ बच्ची..."

दलहीज़ तक न जाने किस नींद की बेसुधी में गयी होऊँगी कि माँ मुझ से लगकर रोने लगीं। मैं भी क्यों संग संग रोने लगी थी—समझ नहीं पाई पर माँ ने कंधे पर सिर डाल ऐसा लगा कि दो दिन पहले वाला कोई हाथ सिर पर से उठ रहा है और मैं...मैं...

किसी ने माँ को मुझ से अलग करते हुए कहा—"अम्मी।"

भरी भरी अँखियों से देखा...लाली। माँ ज़िन्दा ने सम्भालते हुए कहा—

"मालकिन, घूँट भर पानी पिलाओ और मालकिन का नाम ले लड़की को इस देहरी पर से—" "नहीं...नहीं...मुझे कहीं मत भेजो—कहीं मत भेजो—" कहते कहते फिर माँ से जा लगी। शेख़ जी अन्दर आये तो मुझे अपनी ओर खींच एक बार माँ की ओर देखा, लाली की ओर देखा और गहर गम्भीर गले से बोले—

"सब पागल हुए हो। आओ बिटिया कुछ ही दिन की बात है—सोच मत करो—माँ तुम्हें मिलने जायेगी।"

आँसू पोंछ ठगी सी देखने लगी। समझ नहीं पाई कि कहाँ ले जाई जा रही हूँ।

"लाली, अपनी अम्मी के पास रुको—अच्छा तो चले मेहर—"

माँ ने एक बार मेरा माथा चूमा और रोते-रोते बोली—

"जो तेरे भाग, जो तेरे भाग...बच्ची..."

६

और जब आँख खुली तो ठंडी रेती पर लेटी थी। पास ही कहीं घोड़ा हिनहिनाता था। उलटी हो—रेत में कोहनी टिका मुँह ऊँचा किया तो शेख़ जी नहीं—वही पहले दिन ड्योढ़ी पर मिली सूरत दीख पड़ी। दो लम्बे लम्बे हाथ सिर का साफ़ा सँवारते थे। आसपास ऊँचे ऊँचे सरूट खड़े थे। दरिया के किनारे का बिराना देख सहम गयी। छिटक कर उठी और पास जाकर बोली...

"मुझे कहीं मार डालने को तो नहीं ले आये..."

साफे का लड़ अच्छी तरह खोंस कर बाबा दित्ते ने मेरी ओर देख कर कहा—

"लड़की! जो शेख़ जी ने सोचा है, उसे रब्ब निभा दे तो है—वहाँ रहती तो दो घरों की ड्योढ़ी ख़ून से रँगती... मुँह गीलाकर लो—अभी बीस कोस और है..."

ओक भर घूँट दो घूँट पानी पिया और बाबा दित्ते का हाथ पकड़ घोड़े पर जा चढ़ी। इस बार आगे नहीं—पीछे थी और दोनों बाहों से आगे बैठे सवार को जकड़े थी।

सरदी का नीला दिन धीरे-धीरे खुलने लगा। दूर सामने सिर पर छतराले चौक-फूल की तरह उभरी पहाड़ियाँ चमकने लगी।

मन ही मन हैरान थी कि कहाँ जा रहे हैं, कहाँ पहुचेंगे कि बाबा दित्ते ने दाईं ओर के ऊँचे टिब्बे पर खड़े पुराने मज़ार की ओर हाथ फैला कर कहा...

"मुराद माँग ले बेटी...जहाँ ले जाता हूँ वहाँ की ड्योढ़ी जा चढ़ो तो पीर फकीरों के यहाँ चद्दर चढ़ा जाना।"

मन ही मन मनाने लगी...

"चद्दर चढ़ाऊँगी दीए जलाऊँगी पर...पर कहाँ पहुँच कर! कहाँ—?"

पेड़ों के झुरमुटे में एक कच्चा गाँव दीखने लगा था। बाबा दित्ते ने होले से कहा...

"किसी ने पूछ लिया तो यही कहना सासुरे जाती हूँ..."

उन्हीं छोटी चोर सीढ़ियों पर से उतर कर ड्योढ़ी में जा खड़ी हुई। लकड़ी का कपाट बन्द था। शेख़ जी ने हाथ से घेर कर बहुत धीमे से कहा—

"सम्भल कर बेटी, इधर..."

बीच का आँगन पार कर हवेली की पच्छिम वाली कोठरियों तक पहुँच गए। अँधेरे में ही शेखजी ने किनारे वाले तदरे का द्वार खोला और हाथ थामे नीचे उतर चले : कुछ सूझता नहीं था—चबूतरे पर से चढ़कर किन्हीं दूसरी अन्धी सीढ़ियों पर पाँव रखते रखते ठोकर खा गयी। हाय रे सम्भलूं कि शेख़ जी ने हाथ से छूकर चुप रहने का संकेत किया। इस बार सीढ़ियाँ किसी बहुत बड़े दलान में जा निकली। गल्ले ही गल्ले की गन्ध थी। माँ के पसार से यह जगह बहुत दूर लगी। सुनसान, चुपचाप, अन्धेरी। जी में आया यहाँ छिपी रहूँ तो मामू मुझे कभी ढूँढ़ न पाये। कभी भी नहीं...

शेख़ जी मेरा हाथ छोड़, दो कदम आगे बढ़े—ठीक ठीक तो दीखा नहीं पर आवाज़ से लगा कि सावधानी से कोई भारी चीज़ सरकाई हो, फिर एक छोटी सी टक अगली घड़ी में शेख़ जी के संग हवेली के बाहर खड़ी थी।

तारों की लौ में देखा वही मसीत सामने थी जिसके ऊँचे मीनारें अपने बढ़ घर की छत पर से देखा करती थी।

एकाएक किसी की खँखार और घोड़े की टाप! चौंक कर शेख़ जी से जा लगी कि फुर्ती से किसी ने उठा कर घोड़े पर बिठा लिया और अगले पल एक बाँह से मुझे समेट, दूसरी से रास सम्भाल घोड़े को हवा में भगा दिया।

कुछ सोचूँ कि देखूँ कि पेड़ों के काले मुँह आँखों पर से दौड़ दौड़ जाने लगे—गोल-गोल से चक्कर वल खाने लगे और...और...

नहीं...नहीं...

आँखों के आगे बाबा दित्ते की पीठ थी पर शरमा गयी। रुक रुक कर कहा...

"वहाँ नहीं...वहाँ नहीं...मैं तो...मैं तो..."

"अच्छा ! अच्छा !" बाबा दित्ते हँसे और सयाने गले से कहा--

"वहाँ नहीं तो किसी वीर के घर सही..."

लाली की याद हो आयी। झिझक कर धड़कते दिल से पूछा—

"बाबा, माँ लाली का ब्याह कब रचायगी ?"

बाबा ने लाड़ से मानों समझा कर कहा—

"बीबी रानी जब तेरे सुख की ठंडी खबर उस घर जायगी !"

गाँव की हाट के सामने से हो कर जाते थे कि किसी ने ऊँचे गले से पूछा—

"सज्जनों किधर...?"

बाबा सिर हिला ज़रा सा चौंके और फिर हँस कर कहा—

"यही अम्बरवाल तक जी, लड़की को पहुंचाने जाता हूँ।"

मैं फिर शरमाई।

शिखर दुपहरी जब धूप में चमकते गाँव के बाहर-बाहर हो कर ऊँची ढक्की तले बाबा ने घोड़े की रास खींच कर नीचे छलांग लगाई तो समझ गयी कि जहाँ से मेरे सुख की खबर माँ को जानी है वह जगह यही है ! यही है !

●

दिवानों के घर जब मुझे दूसरी रात आई तो सचमुच मैं ऊँचे पलंग पर जा चढ़ी और कुरते पर लटकती जंजीर सदा के लिए खुल कर एक ओर जा पड़ी। आँखें न खुली थीं, न बन्द थीं। पल पल सिमटती थी, पल पल उभरती थी। वहीं लेटी, वहीं बैठी और वहीं लड़का हो गया।

सुबह सिर पर पड़े घर की चद्दर ओढ़ जब डोले में बैठ दिवानों की बैठक से हवेली की ओर चली तो देह की देह किसी मीठे खुमार में ढीली हो हो जाने लगी। आँखें मूँदती और फिर चौंक कर खोल लेती कि पालकी में बैठी, पालकी में ! कहारों के कंधों से उतर पालकी डयोढ़ी में जा टिकी। परदा उठा। किसी ने अन्दर झाँका और सोने जड़ी दो बाहें मटका कर कहा—"आओ री ओ दूर की मालिन, तेरी झोली में हरी भरी छाँह।"

सुनकर डोले में से निकली और कहने वाली के पाँव जा लगी—

"ठण्डी रह, साँई जिए।"

आगे कुछ सुना नहीं गया। लजाकर आँखें ढाँपने के लिए आँचल का छोर ढूँढने लगी कि किसी ने सिर का पल्लू खींच घूँघट निकाल दिया।

खिलखिलाती आवाज़ आई—

"बड़ी मौसी, पूछ तो इस चम्बे सी मालिन को, किन बागों से आई है ?

मेंहदी रँगे बालों वाली बड़ी मौसी ने एक जलती निगाह फेंकी और झिड़क कर कहा—

"चुप री लड़की, खत्राणियों की जाई से यह पूछना ?? इसके वीरों की उजली पगड़ियों पर केसर।" सुन कर क्या हुआ...यह नहीं जानती ?

छम छम रोने लगी। पहले आँसू बहे...आँचल भीगा फिर गले से हिचकियाँ उठने लगीं। दास दासियों में से अलग ला कर मौसी ने मुझे छोटे से पसार में ला बिठाया फिर कपड़ा उठा मुँह देखा और ओटों में बोली—

"गई रात क्या बेटे के माथे लगी ?"

हाथों में मुँह छिपाये रही। पीठ पर हाथ रख मौसी समझा कर बोली—

"डोल न बेटी—छूना नहाना तो इस तन से लगा ही है। यह तो कह वहाँ का नाम क्या है..."

"पाशी......।"

"न...न......इस घर के लिए तो तू मालिन है। हाँ—अब नहा धो कुछ देर नींद ले फिर गहना कपड़ा..."

मन खुशी में हल्का हो आया। गहने.....,कपड़े......

दुपहर ढलते जागी तो मौसी गुलाबी गोटे जड़ा जोड़ा लाई और ढेर से लाई गहने। चूड़े से भरी बाँहें, गोखरू, मोती-जड़ी मुन्दरियाँ और आरसी, नाक में शिकारपुरी नथ, कानों में पीपल पत्ते और सिर पर चौंक-फूल और मोली। सजाव बनाव कर पीढ़ी पर बैठी तो मौसी पास खड़ी दासी से बोली...

"गोमा, जा ज़रा मेंहदी छोल ला। हाथ पर सगुण का टिमका तो दे दें...हाँ री मालिन—तेरी सगी सहेलियों को यह भी न सूझा......!"

सुन कर न जाने कैसे घबरा सी गई हो‌ऊँगी कि मौसी ने तीखी नज़र से गोमा की ओर देखा और झिड़क कर कहा...

"यहाँ खड़ी खड़ी क्या देखती है..."

फिर मेरे पास आ कर कहा...जी कड़ा रख, पीली हो हो क्यों जाती है ? जो कुरेद कर पूछेगा—उसे मैं बताऊँगी।" शाम तक मुँह दिखाई से झोली भर गयी। देखने वाली ठोड़ी उठा कहतीं...

"मौसी—ऐसा रूप कहीं देखा सुना नहीं..." और मौसी नखरे से सिर हिलातीं...

"यह मनौतियों की बहू है...नहीं तो बेटे की आँख कहाँ टिकती थी...!"

जी धक धक करने लगा, जिनकी बैठक में कल टिकी थी वह तो किसी के बेटे से नहीं दीखते थे। पका पका चेहरा था।

सिर पर रात फिर उतर आई। मौसी ने बादाम पिस्ते वाले दूध का कटोरा देकर कहा..."पली पलाई है री! मेरे बेटे को खुश करना सीख..."

दिवान जी अन्दर आये तो मैं मौसी के कहे लम्बा सा घूँघट निकाल पलंग के पैताने बैठी थी। पास बैठ दिवान जी हँसे और कपड़ा उठा कर बोले...

"बड़ी देरों से दिखा यह मुखड़ा...पगली यहाँ दिल लगा !"

ऐसा लगा कि जैसे शेख़ जी मुझ से यह पूछते हों। आँखें छलछला आईं। टप से एक बड़ी सी बूँद नथ की वाली में आ अटकी। दिवान जी कुछ पल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से देखते रहे फिर नथ को तनिक उठा हाथ से मुँह पोंछ दिया।

"मौसी ने कुछ कहा ?"

"नहीं। ...नहीं ...।" सिर हिला भर्राये गले से बोली...

"मैं तो पीछे के लिए रोती हूँ। कहीं मामू तो न ढूँढ़ने चढ़ आयेंगे ?"

दिवान जी ने गले से लगा कर कहा..."अरी भोली...यह तेरी चिन्ता करने की बात नहीं। जहाँ मैं और शेख़ हैं वहाँ क्या किसी की नज़र पहुँचेगी ?"

अगले दिन सुबह जब दिवान जी पास से उठ कर बैठक जाने लगे तो सिर पर लाड़ से धौल दे कर बोले...

"नन्हीं लाडो, आज क्या भेजूँ तुम्हारे लिए...?"

मैं खिलखिला कर हँस दी।

मौसी जान गई कि शेख़जी की उम्र के दिखने वाले उसके बेटे को भा गई हूँ। पास पड़ोस, दूर पास से नित ही औरतें मुझ नई नवेली को देखने आतीं और सराह सराह कर लौट जातीं। कई बार सोचती क्या कोई भी जानता नहीं कि मैं कैसे यहाँ पहुँची हूँ। फिर मौसी को यह कहते सुनती...

"अरे कब की बात चलती थी पर घड़ी को कौन आगे पीछे करे। नाई रुक्का लाया और बेटा दस पाँच सगों को लेकर इस भागवाली को ब्याह लाया।"

सुनने वाले इसे क्या सच ही सच मानते! पर किसी को मानों कुछ पूछने की जुर्रत न पड़ती। मैं गहने कपड़ों से खुश, दिन रात अपने दिवान जी के लाड़-चाव से इठलाती। शाम को दूज का चाँद देखने कोठे पर चढ़ी। साथ गोमा कूजों का थाल लिए पीछे खड़ी थी। खुले नीले आकाश पर रुपहली चाँदी का छोटा सा लिशकारा। हाथ जोड़ सिर निवा कर मुँह मीठा किया। आँचल सम्भालते नीचे उतरने को थी कि दिवान जी की आवाज़ सुन पड़ी। कपड़ा माथे तक कर लिया और हँसती आँखों से गोमा से पूछा...

"इधर तो न चले आयेंगे ?"

"गोमा ! थाल बहू को पकड़ा नीचे चली आओ"...मौसी ने वहीं से आज्ञा दी।

दिवान जी के पाँव की आवाज़ सीढ़ियों पर सुनते ही हँस पड़ी। हाथ में थाल लिए लिए खड़ी रही कि वह पास आयें। इधर मैं थी। मेरे हाथों पर टिका मिश्री का थाल बीच में और उधर ऊँचे लम्बे मेरे दिवान जी।

"मुँह मीठा करें जी—"

दिवान जी ने झुक कर मिश्री का एक टुकड़ा मुँह में डाला और सिर हिला कर मानो बार बार कहा..."सच ही में चाँद देखा...सच ही... मालिन..."

दिवान जी ने हौले से मेरे झूमते कर्णफूल को छू कर कहा... "मौसी जी कहती हैं क्या वह सच है ?"

दोनों हाथों में मुँह छिपा लिया। स्नेह से हाथ अपनी ओर खींच दिवान जी ने आँखों में देख एक बार फिर पूछा..."सच है मालिन ?"

घबरा कर सिर हिलाया..."मैं तो नहीं जानती...मौसी ही जानती हैं..."

दिवान जी बड़े सयानों की तरह हँसे।

"मालिन, एक बार शेख़ जी के यहाँ तुम्हारी माँ की झलक पाई थी। बस यहाँ लौंग के पास तिल नहीं—बाकी वही मुखड़ा है वही भोला-पन है वही रंग..."

दिवान जी के जामे के बीड़े टटोलते चुपके-चुपके खुशी में भीग जाने लगी। मौसी ने कैसे जान लिया यह समझ ही नहीं पाई। जाने क्या क्या कूट छान कर पिलाती। कभी दिवान जी पास बैठे देर तक हुक्का पीते रहते तो मौसी अन्दर आकर बरसती...

"उठो लखपत, बहू का जी अच्छा नहीं। तुम तो फिर से दस बीस साल पीछे लौट गए।"

दिवान जी मेरी ओर देखते और-और सी हँसी हँसते। उन्हें बाहर जाते देखती तो मन ही मन कहती

"यहाँ मेरे सिर की सरदारी है। यही मेरा भाग सुहाग है।"

बड़ा अच्छा दिन रहा होगा कि आँख खुलते ही मौसी के मुँह से सुना—"बहू—सुना है तुम्हारे पीहर से ऊँट आये हैं। जल्दी नहा धो लो। कोई तुम्हारी माँ की पाती भी तो लाया होगा. . ."

जी में धुकधुकी होने लगी कौन आया होगा। बाबा दित्ता, शेखजी, नहीं. . नहीं. . शेखजी क्यों कर आये होंगे। कहीं मामू तो नहीं?

बैठक से भर-भर सामान आने लगा। मीठा-मिठाई, कच्ची-पक्की रसद, बताशे, मखाने, मेवा-कपड़ा, लोड़ा. . ओसारे में कोई जगह न खाली दीखती थी। देख कर लगा कि आज ही ब्याह के आई हूँ। आज ही डोले से उतरी हूँ।

मौसी दास-दासियों को सुना-सुना कहने लगी—"लो देखो मेरे समधियों के चलन—सारा दिखावट यहाँ भेज दिया।" लाड की लड़की ठहरी-सुनकर फूली न समाई पर झट ध्यान मामू के घर भटक गया। किस लाड़ में दिन काटती थी वहाँ। क्या अब तक भी छोटे बड़े मामू तक खबर न पहुँची होगी।

दिवान जी किसी को साथ लिए हवेली में आये तो नीचे से ही मर्दानी बैठक में चले गए। कुछ देर बाद मौसी आई और बोली—

"ढंग का कपड़ा पहनो बहू—तुम्हारा वीर आया है।" उतावली से जल्दी से अंगूरी बेल की ओढ़नी ओढ़ी और मौसी के संग-संग बैठक की ओर चली। दलहीज पर कुछ रुकी, कुछ ठिठकी कि दिवान जी ने पुकार कर कहा—"चली आओ मालिन-तुम्हारा तो छोटा वीर है।"

अन्दर जाकर कुछ पल सुध बुध भूल गयी। लाली को देखते ही आँखें घिर आईं। बड़ी बहिन मान जब झुक कर उसने पैरी पौना किया तो सब के सामने सकुचाई सी खड़ी रह गयी।

मौसी ने हाथ से बढ़ा कर लाली के साथ जा बिठाया तो सामने बैठे दिवान जी हँसने लगे।

"मालिन, दरिया पार से तुम्हारा वीर आया है, कुछ बात करो। सुख सान्द पूछो। हाँ मौसी तनिक इधर तो आओ!"

दोनों को वहीं बैठा छोड़ मौसी और दिवान जी बाहर चले गए तो भी न नज़र उठी न कुछ कहने को मुँह खुला।

एकाएक अपनी ओर आता लाली का हाथ देख कर चौंक गयी। मेरे हाथ पर छोटी सी चाँदी की मोर-पंखी सुरमेदानी थी।

सम्भल कर बड़ी बहिन की तरह पूछा—"यह क्या माँ ने भेजी है?"

"नहीं! नहीं!" मेरे वीर का चेहरा लाल हो आया। रुक-रुक कर कहा—"यह तो...यह तो अपनी ओर से मैं ही..."

जाने कितनी ममता उमड़ आई। सुरमेदानी को चूम कर बड़ी बूढ़ियों की तरह बोली—

"वारी जाऊँ अपने वीर पर।"

यह कहते ही अब तब की झिझक दूर जा पड़ी। भाई के लहरिए-दार चीरे की फबत देख मान से मुस्कराई और कहा—

"कुछ खाया?"

"खाया, दिवान जी माने ही नहीं, अम्मी ने तो मना किया था।"

क्रोध से उलाहना दे बोली "माँ को यह क्या सूझी। बहिन का घर क्या पराया होता है?"

फिर जैसे सब कुछ याद आ जाने से कण्ठ को धीमा कर पूछा "वहाँ सब सुख तो है?"

लाली ने सिर हिलाया—हाँ!

इस छोटी सी हाँ को सुन के चिन्तित हो आयी। साँस रोके कहा—"बढ़वाली हवेली से तो कोई न आया होगा?"

लाली ने कुछ घबराई सी नज़र से इधर-उधर देखा फिर रुक-रुक कर कहा—

"नानी ने तो आँखें मीट लीं—बड़े मामा जुदाई से घूमते रहते हैं।" लाली की अटक देख सहम कर बोली

"कहे चलो!"

"छोटे तो गँडासा लिए..."

"लाली!!"

लाली ने मेरी ओर नहीं झरोखे की ओर देखते देखते हुए झिझकते झिझकते कहा—

"इलाके भर में खलबली मच गयी है कि पाशो...करीम के साथ जेहलम पार......"

जी धक धक करने लगा और सिर पर घड़ों पानी की शरम से आँखें नीचे हो गयीं। कुछ पल दो पैरों में चमकती तिल्लेदार जूती दीखती रही फिर घूम घूम कर जाने कहाँ खो गयी। जब होश आयी तो मौसी ऊपर झुकी सिर पर हाथ फेरती थी। एक संग दिवान जी और लाली को देख सिर के कपड़े के लिए हाथ फैलाया...मौसी स्नेह से बोली।

"क्या बात है बहू—इतना हल्का दिल। राजी रहें तुम्हारे सगे सम्बन्धी। वहाँ की खोज खबर वे तुम्हें क्यों न भेजेंगे। आज भागवाला तुम्हारा वीर आया है, कोई दिन त्योहार होगा तो फिर और सन्देसा आयगा।"

सुन कर पड़ी पड़ी रोने लगी। दिवान जी से मानो रहा नहीं गया। मौसी के हाथ से पानी का कटोरा ले, एक हाथ से मुझे सहारा देते हुए पुचकार के से स्वर में बोले......

"मालिन, अच्छी मिली हो भाई से, पगली कहीं की। उसे भी उदास करने चलीं"...

फिर अचानक हड़बड़ा कर कहा......

"मौसी तुम देख भाल करो, बच्चे को बैठक लिए जाता हूँ। मालिन का वीर ही नहीं...अपने तो पुराने सज्जनों का लाडला है।"

लाली के लिए दिवान जी जब बाहर गए तो अपने से लम्बे और दिवान जी से छोटे कद वाले लाली को पीछे से देखती रही।

"खुशी-खुशी रह। बहू मालिक से माँग कि जब फिर तुम्हारा भाई आये तो कर्मों वाली तुम्हारी माँ बधाइयाँ भेजे।"

और रुलाई आयी, और सिसकियाँ भरीं।

मौसी सहारा दे कर मुझे मेरे पसार में ले आई। पलंग पर कपड़े ढीले कर लिटाया तो पल भर को लगा कि यह जगह कैसे भरी हो गई। यह घर कैसे मेरा हो गया...फूट फूट कर कहा...

"दिवान जी को बुलाओ...मौसी उन्हें जल्दी बुलाओ...मैं...मैं..."

मौसी ने समझाया..."पहली बार है मालिन, हौसला करो..."

और दिवान जी को बुलाने आदमी भेज दिया।

भरी आँखें द्वार की ओर ही टिकी रहीं। दिवान जी आकर पास बैठे तो सिरहाने से सिर उठा उनके साथ जा लगी। खूब रोई। दिवान जी पीठ पर हाथ फेरते और आँसू और बहते। माथा सूँघ कर दीवान जी ने मुँह ऊपर उठाया और मेरी ओर देखते हुए बोले...

"सच सच कहो मालिन, लाली ने क्या कह कर तुम्हें डरा दिया।"

क्या दिवान जी भी जानते हैं। डर के मारे रुक रुक कर हिचकियाँ उठने लगीं। दिवान जी गम्भीर हो आये। सिरहाने पर लिटा कर मुझ पर झुके और बड़े सयानों की तरह पूछा...

"मुझ से तो कह मालिन"......

सोचने लगी कि क्या कहूँ—क्या कहूँ कि हौले से जैसे कान में कहती होऊँ...बोली...

"दिवान जी! मेरा तो ब्याह ही नहीं हुआ"...

अचरज से दिवान जी की आँखें पूरी खुली, तेवर चढ़े, फिर आप ही आप नीचे हो गए। आवाज़ दे मौसी को बुलाया और बोले...

"पूछो देखो मौसी, तुम्हारी सिरफिरी मालिन क्या कहती है?"

मौसी कुछ कुछ हँसी में टालने को थी कि बहुत हौले से कहा... "कहती है इसका ब्याह नहीं हुआ"...

"हैं री मालिन।" दिवान जी के संकेत से मौसी कुछ कहते कहते रुक गयीं।

सीधे खड़े कड़े चेहरे को देख भय से आँखें मूँद लीं। अभी खींच कर पटक दी जाऊँगी पर मैंने ऐसा क्या पूछ लिया है। ब्याह तो सच ही नहीं हुआ।

दिवान जी ने मानों मेरे मन की बात बूझ ली हो। बांह को छूकर कहा—"आँखें खोलो"—

कानों को आवाज़ में गुस्सा नहीं सुन पड़ा। डरी डरी सी उठ कर बैठ गयी। इस बार दिवान जी पास नहीं बैठे खड़े खड़े पूछा—

"यह तुम्हें लाली ने कहा?"

घबरा कर बोली—

"नहीं! नहीं उसने नहीं—उसने तो कतई नहीं कहा—"

"फिर तुम्हें यह ध्यान कैसे आया?"

"यह तो पता नहीं! बिल्कुल पता नहीं दिवान जी।"

दिवान जी ने अपने बालों में हाथ फेरा और दलहीज तक जाकर लौट आये।

"मालिन, तुम्हें याद नहीं ? दित्ते के सामने तुम्हें चद्दर ओढ़ाई थी-झोली में मीठा डाला था !" सिर हिलाया...

"हाँ.....हाँ...हाँ..."

"अरी भोली...और ब्याह क्या होता है ? आधी रात को नानी के घर से निकल तुम शेख जी की हवेली न आती और मामू तुम्हारे शेख जी के खून के प्यासे न हो जाते तो क्या तुम्हें घोड़े पर चढ़ कर ब्याहने न जाता ?"

बेफ़िक्री से हँस कर कहा—"सो तो है ही ! सो तो !" फिर मचल कर कहा—

"अपने वीर को मैं क्या सौगात दूँ, यह तो बतायें दिवान जी !"

नहा धो जब चौके चढ़ी तो नारियल और कूजों के ढेर में छोटा सा घूँघट निकाले मन ही मन खूब भीगी ! लाल चोले में लिपटा मेरा लाडला चिट्टा दूध खीखता था।

मौसी के हाथों से लेकर दिवान जी ने बेटे को ठाकुरों की झाली में डाल दिया और हँस कर बोले—

"गुसाईं जी, सीधी नज़र हो आपकी, पोथी बाँच, नाम का शुभ अवसर तो निकालिए।"

खुशियों का 'ख' निकला। गुँसाईं जी ने आखें मूँद वाणी पढ़ी और ऊँचे स्वर में उच्चार कर कहा—

बधाइयाँ। बधाइयाँ। लखपतराय का बेटा खुशवन्त राय—

मौसी ने बलैयाँ ली। दिवान जी ने बेटे वाले बाप की तरह गर्व भरा सिर शील से झुका लिया और मैं चुपके से ओठों ही ओठों में दुहराती रही—

खुशवन्तराय ! खुशवन्त ! दिवानों का बेटा खुशवन्त !

लाडले के सिर को बाँह से घेर कर लेटती तो अन्दर से दूध भर आता। आँखों से वह नन्हा सा मुँदी आँखों वाला छोटा सा मुखड़ा देखती तो पतली फाँकों से गुलाबी ओठों वाले पुतले को बार बार चूमने को जी

चाहता। सोचती माँ भी इसी तरह लाली को अपने पास लिटाती होगी, और नानी भी इसी तरह मामूओं को!

इसके आगे जैसे जुड़ते जुड़ते कुछ अलग हो जाता। अन्धेरा घिर आता, सीढ़ियाँ...वह छत...वह हवेली

घी चुपड़ कर मुन्ने को धूप में नहलाती थी कि आवाज सुन दिवान जी सीढ़ियाँ चढ़ आये। हँस कर बोले—

"मालिन, क्यों रुलाती हो। ध्यान रहे दिवानों का यह बेटा इन रुलाइयों का बदला तुम से एक दिन ज़रूर लेगा।"

ठुमक कर कहा—"सच कही दिवान जी, माँ उसकी पराये घर की बेटी ठहरी!"

दिवान जी ज़ोर से हँसे और चारपाई पर बैठते हुए बोले—"तुम्हें मान लिया मालिन, बेटे के बहाने उसके बाप को उलाहना देती हो।"

नहला धुला मुन्ने को काजल की टिकुली लगाई और दिवान जी की झोली में डाल दिया।

चीज़-बस्त एक ओर रख पास आ बैठी तो दिवान जी के बड़े-बड़े हाथों में छोटा सा बेटा देख कर हैरान हो गयी। अचम्भे से रुक रुक कर कहा—

"दिवान जी, यह तो यह तो बहुत ही छोटा है, बहुत ही..."

"और मैं बहुत ही बड़ा, क्यों न?"

दिवान जी की हँसी दिल पर आ लगी। ठीक ठीक कुछ सूझ नहीं पड़ा। मुन्ने को ले खेस पर लिटाया और कपड़ा सम्भाल दिवान जी के सामने आ खड़ी हुई।

कई पल मेरी ओर ताकते रहे फिर लम्बी साँस लेकर बोले..."मैं तो खुशी खुशी, 'खुशी' को देखने आया था मालिन",

इसके आगे न दिवान जी कुछ कह पाये, न मैं कुछ सुन पाई-बस खड़े खड़े अँखियाँ घिर आईं।

बाँह फैला दिवान जी ने पास बिठा लिया और सिर पर हाथ रख के बोले—

"इस घर का चम्पा खिल आया मालिन, अब सोच काहे की।"

मैं रुँधे कण्ठ से हँस दी और हाथ को छूकर लाड़ से बोली...

"मुझे नई मुरकियाँ गढ़वा दो दिवान जी, मुन्ने को सौ खातिर और मेरी एक नहीं ......?"

अगली रात मुन्ने को सुला कर पड़ी कि दिवान जी ने बुला भेजा। ओसारे से उनकी बैठक की ओर जाती थी कि मौसी ने पसार की दहलीज़ में खड़े खड़े एक तीखी नजर फेंकी और रोक कर धीमे से कहा...

"बहू जरा ध्यान से ही, मुन्ना...छोटा..."

आखें नीची कर पैर उठा लिया।

दीवट के उजाले में दिवान जी ऊँचे पलंग पर अधलेटे थे। चमचमाते हुक्के की चिलम ठंडी पड़ी थी। किनारे पर सिकुड़ कर जा बैठी! दीवान जी उठ कर बैठे नहीं, लेटे लेटे छत की ओर देखते हुए बोले...

"मौसी मुन्ने के पास है न...?"

जो कहने को थी नहीं कह सकी। आले में पड़े दीवे की लौ ऊँची नीची हो हो क पती गयी। गले में जैसे कोई अटक आ पड़ी।

"मालिन..."

दिवान जी के बोल नहीं, दिवान जी मुझे पास बुलाते थे।

ओढ़नी अलग हो गयी तो दिवान जी का हाथ रोक उनकी छाती से जा लगी। पड़े पड़े काँपते काँपते कहा...

"आज नहीं दिवान जी, आज नहीं"...

उस ठिठकी सी घड़ी में इतना ही सुना...

"क्यों मालिन"...

और भी साथ लगकर ओठों ही ओठों में बोली...

"मौसी मना करती हैं दिवान जी...दिवान जी"...

दिवान जी कुछ और सी हँसी, बहुत छोटी सी हँसी और दोनों हाथों से ऊपर उठा देर तक इस मुख को निहारते रहे।

लेट गयी तो अन्धेरे में कुछ और नहीं दीखा, बस आँखों के अन्दर बाहर दिवान जी ही दिवान जी घूमते थे। कब सोई, कहाँ खोई कुछ पता

नहीं रहा। ऐसे सुन पड़ा जैसे सपना देखती होऊँ...

अरी भोली अब यह रात फिर कहाँ आयेगी...कब आयेगी...वह रात नहीं...मेरे सिर पर मेरी बैरिन आ खड़ी हुई तो अगले पिछले लेख सब चुका गयी।

●

रह रह लाहथियाँ पड़ती थीं, सयापे की हाहाकार करती आवाजें तीर सी लगतीं थीं और मैं छाती पीट पीट बेहोश होती थी। जितनी बार छाती पर हाथ पड़ता, उस रात वाली ओढ़नी पर रुकी उस रात वाली दिवान जी की बाँह दीख दीख जाती। और रुलाई आती और रुदन फूटता।

कोई पास से कहती...अरी रोने दो...आज नहीं रोएगी। अभागिन के सिर की सरदारी चली गयी।

हफ्ता भर मुन्ने को दूध नहीं दिया। जब भी रात को थक टूट उसे गोदी में लेती, मौसी टोकती—

"बहू, होश कर, रोते कलपते क्या दूध रह गया होगा। इसे न मुँह लगाना।"

काली कलपाती रातों में नीचे...कपड़ा डाल मैं और मौसी पड़ी रहतीं। कभी सिबुकती तो मौसी समझातीं...

"आ गयी के आगे किसका बस बहू—अब जिगरा कर, इस बच्चे का मुँह देख"...सोए पड़े अपने लाल को देखती तो कहीं अपनी छाया तक न दीखती। वही दिवान जी का माथा, वही चौड़ा सिर, वही फैला चेहरा।

तेहरवीं के दिन दूर पास के सभी सम्बन्धी इकट्ठे हो गए। तीखी अचम्भे वाली नजरों के सामने मैं पल्ला नीचे डाल बैठी बैठी रोती रही। कभी कभी लम्बी उँसासों में सुन पड़ता...

'अरे इसकी बाली उमर कैसे कटेगी"...

अगले दिन बुलाने वालों लोगों की भीड़ छँट गयी। रात को दिवान जी के दूर से लगते भाई और उनकी बूढ़ी माँ के सिवाय सारी 'मकान'

लौट गयी। रात को मुन्ने को ले, मौसी के साथ दिवान जी की बैठक में जा बैठी। आले में वही तेल और बाती थे। पलंग नहीं था, पलंग पर लेटने वाले नहीं थे। बस मैं थी तो अन्धेरी कोठरी जैसी।

दिवार से लगी मौसी ऊँघने लगी थी कि बाहर किसी के भारी पैरों की आहट सुन कर चौंक गयी। सहमे जी से मौसी को छूकर कहा...

"मौसी किसी की आवाज़ आई थी"...मौसी ने आखें खोलीं, इधर-उधर देखा और सिर तले बाँह रख फिर मूँद लीं। एक बार चाहा कि उठ कर देखूँ पर हौंसला नहीं पड़ा।

मन ही मन खाली हो गयी बही के पन्ने पलटती थी कि लगा कोई कड़े हाथों से खींचता है। एकाएक साँस घुटने से छटपटाई। अन्धेरे में कुछ दीखा नहीं। एक जकड़ में करी थी और मुँह पर पड़ी कड़ी हथेली और दबाव—।

सुबह दिवान जी की बैठक में नहीं, पाहुन के पसार में जागी। पड़ी रही। उठने को कोई जल्दी न थी। कसैले दिन की धूप झरोखे से सुझा गयी कि अब यह घर दिवान जी का नहीं। जिसका है उसी की मैं बाँदी हूँ। उसी की गुलाम हूँ।

मौसी आई तो दलहीज पर ठिठकी मुझे देखती रहीं। ठोडी पर का हाथ देर तक हिला नहीं। मेरी आँखें न झपकीं, न लजाईं, न भर आईं। रुखे सूनेपन से एक टक देखती चली गयी। मौसी इस खुली नज़र को सह नहीं सकीं। पास आकर कड़ी आवाज़ में बोलीं...

"मालिन!" मैं कुछ बोली नहीं। खुले कुरते के बीड़े उलटा कर दिखा दिए।

मौसी ने सिर पर हाथ मारा और लानत भेजती हुई बाहर हो गयीं।

दिवान जी की मौसी की लानत फटकार से अब मेरा क्या बनने बिगड़ने वाला था।

अब यह घर भिंभर के दिवानों का था और घर पर पहरा मौसी का नहीं, उनकी माँ का था।

नये दिवान उस दिन घर पर नहीं थे। सुबह घोड़े पर चढ़ जब वह ढक्की से नीचे उतरे तो अपने दिवान जी की याद कर आँखें छलछला आईं। किसे खबर थी, इतनी जल्दी बुलावा आ जायेगा। उदास मन से गुन्ने को नहला-धुला लेटी तो अगली पिछली सोचों में भटकने लगी। माँ को किसी ने रुक्का नहीं भिजवाया पर खबर क्या उन तक न पहुँची होगी।

सोकर उठी तो दुपहरें ढल आई थीं। उठकर बाहर आई। नये दिवान की माँ पीढ़ी पर बैठे बैठे ऊँघ रही थीं। मौसी मुझे कुछ चौके चूल्हे का कहने को थीं कि वे हड़बड़ा कर उठ बैठीं। हाथ फैला कर बोलीं—

"अरी, सुहाग जली, यह तेरा कुलच्छजा वेश। ढंग से रहना सीख नहीं तो हाड़ तुड़वायगी।" बेजार आँखें हैरान हो मौसी की ओर ताकने लगीं।

इतने दिनों बाद मौसी पहली बार बरसीं...

"पराया घर हथियाने की इतनी शह। बड़ी बूढ़ी होकर तुम्हारे यह कुबोल...कुछ शर्म हया करो..."

"चुप री उगनी, मरी बहिन के घर चूल खाने बैठी रही। देखती हूँ, कैसे रहती है यहाँ..."

दाँतों में लिया ओढ़नी का छोर खींच कर बाहर निकाल दिया और मौसी का हाथ पकड़ कर कहा...

"आओ मौसी जिनकी यह हवेली है वही यहाँ रहे..."

"हाड़ गले तेरे—खबरदार जो पाँव उठाया, बेटे के हाथों पोर पोर जलेगा समझी...।"

पोर पोर—सुनकर तन बदन में आग लग गयी। चाहा कि पैरों से बुढ़िया को कुचलती चली जाऊँ कि मौसी ने हाथ खींच नीचे बिठा दिया।

"जी कड़ा रख मालिन, इन बेदर्दों को रब्ब समझेगा।"

बेदर्दों को रब्ब ने समझना था पर मुझे तो समझना था उन डोरों वाली लाल लाल आँखों ने जिनके सामने न मेरा कोई परदा था न मोल ही।

रात को नये दिवान लौटे। धड़धड़ाते ऊपर आये कि माँ ने कपाल पीट कर कहा...

"सुनते हो, यह डायन क्या कहती है"...ठिठके पाँव तन गए। "कहती है कि किसी की लौन्डी बाँदी नहीं जो यहाँ पड़ी रहूँ।"

अपनी ओर घूम गए नये दिवान का चेहरा देख थर थर काँपने लगी। आगे बढ़ मौसी बीच बचाव करे कि माँ के बेटे ने कुरते को पकड़ दिवार के साथ दे पटका। चीख मारी होगी, कुछ याद नहीं पड़ता। जब आँख खोली तो वहीं पसार के आगे पड़ी थी। उठ कर बैठी कि बुढ़िया पास आकर हाथ से खींच कर बोली...

"बहुत हो चुका नखरा, चल अब अन्दर...।"

वही पुराने नानी के घर वाले दिन लौट आये थे। समझ न पाती क्यों दिन रात का धन्धा करते करते भी पीट दी जाती हूँ। गुदगुदाती नर्म बाँहों पर क्यों नील पड़ पड़ जाते हैं। क्यों रूखे सूखे आँसू गले में ही जलते रहते हैं। दिवान जी तो नहीं ही रहे—पर क्या माँ के घर में भी मेरे लिए दो रोटियाँ नहीं।

मुन्ने को सुला, मक्का की छाँट करती, मौसी का हाथ बँटाने के बहाने पास बैठी तो हौले से कहा...

"मौसी दया करके शेखों के घर इतना संदेशा तो भेज दो कि यहाँ और रही तो बिना आई मौत मर जाऊँगी।"

मौसी बहाने से पल्ला मुँह तक ले गयी और ओठों पर हाथ रख आँखों से संकेत किया...चुप री।

"अरी गाज पड़े तुझ पर। बुला बुला लड़के का गला सूख गया है"...

छाछ मैंने हाथ से छोड़ा नहीं। हाथ हिला हिला छटकती रही।

बुढ़िया को इतना ताव नहीं था। कंधे पर धौल मार बोली...

"उजड़ गयी अरी तू और तेरे माँ बाप-जाये—"दिल में सीधी छौंक लगी। सिर उठा बोली...

"मुझे पल पल लानत फटकार दो, मार लो पर सौ मुरादों के मेरे वीर को कुछ मत कहो..."

"वाह री पीछे का इतना गुमान। जिनकी कुलच्छनी राँड हो गई

वे कंजर यहाँ तक तो न आयें"—मौसी के गले लग फफक फफक कर रोने लगी ।

अगली रात मौसी भंडारे में अकेला पाकर चुप्पे से बोली—

"मालिन, वह गोरखनाथ का वैरागी बाबा रात रात भर भी हर एक गाँव में रहे तो भी अगले पक्ख तक तुम्हारे मायके जा पहुँचेगा, उसी के हाथ—"

यही जानकर कि मेरा सन्देसा इस घर से निकल गया है, हल्के जी से काम में आ लगी । उतावली से चौका चूल्हा समेटा । नये दिवान की माँ के सिर में घी रचाया और बैठक में जा बेटे के पाँव दाबने लगी ।

नये दिवान कुछ बोले नहीं । नींद भरी आँखों से पड़े पड़े हुक्के से धुआँ निकालते रहे । मुन्ने के रोने की आवाज़ सुन उठने लगी कि चौंक कर बोले—

"रुको, उसे मौसी सम्भाल लेगी ।"

उठकर जाना चाहते हुए भी हिली नहीं । साँस रोके तकती रही...

हड़बड़ा कर सुना नये दिवान पूछते थे...

"खत्रियों की बेटी हो...?"

घबरा कर सिर हिलाया—"हाँ हाँ"

"ठीक..."

कुछ समझ नहीं कि ठीक क्यों ?

"इधर आओ..."

पास आन खड़ी हुई ।

ही...ही...ही...कर निर्लज्जता से कहा—

"यह तुम्हारा दूध पीता क्या सच ही दिवान का कुछ लगता है कि कहीं से और यह रोग ले आई थी ?"

खड़ी खड़ी पत्थर हो गयी ।

अचानक सिर घूम गया । झपट कर खींचते हुए कहा...

"आज तो आओ...!"

जब कल आया तो दुपहर ढलते ढलते कान में भनक पड़ी कि मुझ अभागिन का काल आ गया ।

आग जला, हँडिया चढ़ा, मुन्ने को देखने पसार की ओर जा रही थी कि दिवान की माँ रोककर बोलीं —

"लड़के को देखना अब तुम्हारा काम नहीं, . .उसे हुसेना दाई को सौंप दिया है, उसी के घर पल जायगा तुम्हारा लाडला. . ."

"हाँ, हाथ मुँह धो पसार में रखा जोड़ा पहन लो". . .भित्ति से टेकन लगा आखें फाड़ बुढ़िया का मुँह देखती गयी। देखती रही. . .देखती रही।

"होश कर री, देर हुई जाती है". . .इस बार भी हिली नहीं।

ठोड़ी पर ठुनका लगा। जाने कैसे से गले से बोली. . .अरी सज संवर कर तैयार हो! बड़ा घर पा निहाल हो जायगी'—

सहम कर आँखें मूँद लीं और निढाल हो दलहीज पर औन्धी गिर पड़ी। बार बार सिर पटकते देख बुढ़िया ने कड़े हाथों से उठाया और नहान की ओर धकेलते हुए कहा...

"अरी बहुत हुए चरित्तर तेरे...चल जल्दी हाथ मुँह पर पानी डाल..."

पानी ही नहीं पड़ा, कपड़ों के साथ मेरा दुर्भाग्य भी मुझ से आ लगा। मौसी कहीं दीखती नहीं थी। छोटी बैठक में जहाँ बुढ़िया ने मुझे बिठा कुंडी चढ़ा दी थी मैं फूट फूट कर रोती थी और हाहाकार कर कहती थी...

'मुझे कोई बचाओ, कोई बचाओ...'

दाँतों में भींच ओढ़नी फाड़ डाली और कपाट पर सिर मारते मारते बेहोश हो गयी।

फाँसी पर चढ़े चढ़े हिलने लगी तो अचकचा कर आँखें खोल दीं। घुप्प अन्धेरा। हाथ फैलाया तो डोले की कड़ी बाँही लगी। "कहाँ हूँ...मैं कहाँ हूँ"...कहते कहते भरे गले से चिल्ला उठी।

कंधों से उतर डोला धरती पर जा टिका और कड़ी आवाज आई... "बोल न निकलें, नहीं"...डोला फिर उठा और मैं औंधी हो सिबुकती रही!

पिछला पहर होगा। पास कहीं कुत्ते भूँकते थे। मुर्गा बाँग देता था और साथ साथ चली आती घोड़ों की टाप छाती दहलाती थी। कहाँ पहुँच रही हूँ? इस बार कहाँ जा रही हूँ? फिर भट्टी में झोंक दी जाऊँगी।

झपकी में दीखा नये दिवान लेटे हैं और अपने तीखे नाखूनों से नोच नोच कर कहते हैं...

"यहाँ आओ...इधर आओ"...

मुन्ना मेरा...मुन्ना मेरा...चौंक कर उठ गयी। डोले का पल्ला उठाया तो दिन चढ़ आया था। पतली सी रौंकरी चढ़ाई पर डोला ऊपर की ओर चला जा रहा था। पुरानी ईंटों की दिवार पर काई जमी थी और पिछवाड़े की ओर निकला छोटा सा झरोखा घूर घूर कर जैसे ऊपर झुका आ रहा था।

हवेली के सामने नहीं...हवेली के पिछवाड़े डोला जा उतरा। मुँह पर कपड़ा डाले थर थर काँपती रही। घर के बड़े सयाने लाला बाहर आये और मोटी थलथली आवाज से बोले..."अच्छा...अच्छा दिवान ने मेरा कहा रखा। आरी भाग भरी यह घर बाहर सम्भाल और "द्रौपदी" बन मेरी और मेरे बेटों की सेवा कर...रब्ब तुझे इतना सिदक दे..."

दिवान जी के कामदार तबेले की ओर निकल गए। और मैं ठीकरों से भरे बुझे बुझे आँगन में खड़ी हुक्म का इन्तजार करने लगी।

घड़ी भर उठ उठ कर ठहरी खाँसी से लगे बोल आये...

"कपड़ा उठा खुली हो और चूल्हा चौका सम्भाल..."

नये चूल्हे के आगे बैठी कि अन्दर बाहर के धुँए से तन मन धुँआ गया। उपलों को फूँक देती थी और साँस साँस रोती थी। अपने बच्चे के लिए...बच्चे के लिए बह बह आते अपने दूध के लिए...

दोनों ओर से कुर्ता गीला हो आया था और भीज गया था दुपट्टे का छोर, जिस पर अब दूसरे घर की हल्दी लगने को थी।

लाला ने सच ही कहा था। उनके साथ साथ उनके छत को छूते तीन भाइयों की भी कारखिदमत मुझे करनी थी। संध्या होते होते जब तीनों

भाई फेंटा कसे धड़धड़ाते हुए आँगन में आन पहुँचे तो चूल्हे के पास पटिये पर कपड़ा नीचे कर सिकुड़ी सी बैठी रही। आँखों में आँसू नहीं थे। फटी फटी रुखाई में धड़कता दिल बेर बेर यही कहता था...अब क्या होगा? अब क्या होगा?

होने को नया कुछ भी नहीं होना था। दो सौ मोहरों से तुल कर इधर आन पहुँची थी। जब सौदा ही पट गया तो फिर कूक फरियाद किस की। अब मुझे किसी का घर बाहर बुहारना था, चौका चूल्हा लीपना था, चक्की चलानी थी, साग रोटी बनानी थी और जैसी बन आये निभानी थी।

हाथ हाथ भर का शमला छोड़े जब तीनों भाई अपनी खिशकाती लिशकाती घोड़ियों पर चढ़ कर सुबह "कार" को निकलते तो मैं छोटा सा घूँघट निकाल दहलीज पर खड़ी की खड़ी रह जाती। रात भर का पैंडा पूरा कर मैं इस घर की ख़रीदार लौंडी हो गयी हूँ। एक भाई—दूसरा भाई—तीसरा भाई। सिर पकड़ धम्म से नीचे बैठ गयी कि लाला की आवाज आई...

"अरी भागभरी, घी गर्म कर ला, मेरा माथा फटता है..."

अन्धेरा होते होते मँझला भाई घर लौटा खटिया बिछा पानी लाई। पैर धोए और दुपट्टे के छोर से पोंछ कर चिलम भर दी। रसोई की ओर मुड़ी थी कि पीछे से बुलाहट हुई...

सुनो तो...

सहम से ठिठक गयी। लौटी...। छोटी सी पुड़िया मेरी हथेली पर रखते हुए मझले बोले..."नाक की लौंग है इसे पहन लेना..."

हाथ में पुड़िया हिली डुली नहीं। पत्थर सी हो कर आँखें नीची किए किए खड़ी रही। हाथ छू पूछा...

"क्यों, क्या नथ चाहिए?" ओढ़नी से रुलाई के उछाल को रोकते रोकते, बिलख बिलख कर रो पड़ी।

"नहीं...नहीं...मुझे यह नहीं...यह नहीं"

"कहो...कहो......जाने भरे कण्ठ से मैं कैसे बोल सकी होऊँगी।"

"मुझे मेरा मुन्ना चाहिए...मेरा मुन्ना..."

कहते कहते औन्धी हो गिर पड़ी। मँझले मुझे उठा कर रुखे और कड़े गले से बोले..."किसके मुन्ने की बात करती हो..."

घबरा कर कहा..."मेरा...मेरा अपना..."

इस बार माथे पर बल पड़ आये। चौड़ी आँखों से पूछा..."लखपत का बेटा है?"

सिर हिलाया, हाँ।

दाँत पिसे, मुट्ठी कसी और लोहे सी हथेली मेरे कंधे पर रख कर चीखे—

"उस मरे का पूत। उसे देखते ही गला घोंट दूँगा...गला—समझी।"

सब कुछ समझ कर तड़प गयी। क़हर पड़े दिवान पर जिसने मुझे इन बैरियों के घर बेच दिया। आँसुओं में सब कुछ बहा गँवा जब हार गयी तो पाँव पकड़ कर रो रोकर कहा—

"मुझ पर तरस खाओ...इस नरक से..."

"बस...री...इस शेरों के घर को नरक बताने से पहले यह ज़बान..."

अपने पाँव खींच मुझे दूर झटक दिया।

बेबसी से सिसुकती सिसुकती खाली हो रही थी कि सुन पड़ा...

"उठ री लखपत की नवेली...उठकर खाना परस—"आँख मुँह पोंछ, आसन चौकी बिछा ऊपर रोटी डाली। खुले घी से रोटी चुपड़ कर जब थाली की ओर हाथ बढ़ाया तो मँझले एकाएक नर्म हो कर बोले—

"नवेली, आज तुमने मुझे बड़ा सुख दिया है, बड़ा...उम्र में पहली बार आज घर लौटने पर किसी ने पैर धो पोंछ दिए...नवेली..."

ठिठकी सी ने जब आँखें ऊपर उठाईं तो अपने मुँह पर गड़ी आँखें देख आँखें नत कर लीं।

तीनों भाई हुक्म चलाते और मैं बजाती। बड़े-बड़े डोगरी चेहरे और रोबीली आवाज़ें सुन किसी भी काम के लिए न करते न बनता। लाला जी, सिर में घी डलवाते—अपनी झुकी कमर पर मुक्कियाँ मरवाते और मैं अपने फूटे प्रालब्ध के रंग देखती। किसे खबर थी—कभी इस घर की छत तले रहूँगी—इसके पुराने शहतीर गिनूँगी और यहीं का अन्न पानी ले जीऊँगी।

सब से बड़े खिंचे खिंचे चुप रहते, छोटे निर्दयता से छेड़ छाड़ करते, और मँझले डाँटते फटकारते और कभी कभी अकेले में अपने ही ढंग से पुचकारते।

बड़े-छोटे दोनों उस शाम घर नहीं लौटे। लाला जी को दूध का कटोरा दे मैं फिर चौके के सिरहाने आ बैठी थी। अब से चौंक कर उठीं तो पाया मँझले दलहीज में खड़े हैं। घबरा कर उठ बैठी और गागर से पानी उलटा लोटा बाहर लाई। चारपाई बिछा बोली—

"देर हुई...देर हुई पर तुम्हें क्या अब तक तेल बाती का ध्यान नहीं आया नवेली..."

मँझले बैठे तो झटपट दिये जला पास आई।

"खाने पीने को कुछ लाऊँ ?"

"रुको" पहली रुखाई लौट आई।

"आँखें बन्द किए क्या उस अपने बुढ़ऊ का ध्यान करती थी...?"

दुखित हो बिना कुछ कहे जाने लगी तो सिर से झँझोर कर कड़ी आवाज़ में कहा...

"तुम्हारा यह घमंडी सिर घुमा दूँगा समझी। आज वह तुम्हारा लगता होता तो देखता तुम किस की चाकरी बजाती हो।"

अपमान और बेबसी का घूँट पी कर पूछा...

"रोटी चूल्हे पकाऊँ या तन्दूर..."तन्दूर...

तन्दूर तपा जब रोटियाँ लगाती थी तो मँझले पास खड़े खड़े देखते रहे। मामा याद हो आये। जो बुरा कह चीन्हते थे वही बुरा मेरे सामने आया। जो जो लाचरा फटकार डालते थे वही सच हो हो निकली। मामी कहा करती थी...

अरे इस बहते पानी का ठौर कहाँ...कहाँ ठौर...

चौका चूल्हा उठा जब भाँडे मलने लगी तो हाथ में चिलम पकड़े मंझले अन्दर आये। राख सने हाथों से उपला निकाल चिलम में डाल दिया। मंझले वहीं सिर पर खड़े-खड़े फूँके मारते रहे। फिर खाँसते हुए पास ही बैठ गए और सिर हिला हिला बोले...

"हो...हो...देखो रब्ब के रंग। जो रानी सो गोली बन गयी—अरे ओ लखमी आ देख अपनी लक्ष्मी को..."कानों में जैसे कोई छड़ चुभा दी। उँगलियाँ फूल के कटोरे में ही ठिठकी रह गयी—गले में कुछ घुमड़ा और हाथ में उतर आया। बाँह उठाई...मँझले के कानों की 'अन्तियाँ' आँखों में झिलमिलाई कि हाथ का कटोरा दूर फेंक सिर ज़मीन पर पटकने लगी।

"मुझे तुम मार डालो...मार डालो..."

मैं क्या-क्या बकती रही—याद नहीं। अब खाट पर पड़ी तो मँझले तरेर कर बोले...

"अब कुछ भी बोली तो खैर नहीं। रात की रात गाड़ आऊँगा, समझी।"

आँखें मूँद ली तो भी मँझले देर तक पास बैठे रहे...एकाएक चीख मार कर उठ बैठी और रो रो कर बोली...

"मुझ पर रहम करो...मेरे बच्चे पर रहम करो..."

इस बार मँझले कुछ बोले नहीं। जबरदस्ती मुझे लिटा थपकियाँ देते रहे।

बरसात की झड़ी लग आई थी। दिन रात सुबह शाम मेंह बरसता पर पड़े नशे में अवा तवा बोलते रहते। कभी कभी बड़े लाला उठकर पास आते और हिला हिला कहते......

"उठ ओ तुख़म के, इतनी पीएगा तो जल्दी ही जल खप जायेगा।"

छोटे लाल लाल मिची आँखों से देखते रहते और थूकते हुए लड़खड़ाई आवाज़ से कहते......

"जारे जा, लखपत के... कमीन..."और दुबारा आखें मूँद लेते।

कभी परोस कर थाली सामने ला रखती तो छोटे अँगड़ाई लेकर उठते और झपट कर मेरा छोर पकड़ लेते...और गा गाकर कहते गोरी कुजाँ से आई......"

किसी तरह छुड़ा कर काम में जा लगती। फिर आवाज़ पड़ती "घी शक्कर क्या मुझे नहीं दोगी... ? अरी मँझले पर इतना मोह।"

उस दिन आकाश निखरा था। तीनों भाइयों के साफों को धो धा, कलफ लगा कोठे पर फैला नीचे आई तो छोटे मसखरी से बोले...

"मँझले की नवेली, एक बार मेरे संग लशकर तो चलो, इन कटोरी आँखों पर बड़े बड़े सरदारों की नजरें ठहर जायेंगी..." बात पलट कर संकोच से पूछा...

"आजकल बड़े और मँझले घर नहीं आते, क्या दिसावर की ओर निकल गए हैं?"

छोटे ने इसे फिर गम्भीर होकर कहा—

"क्या सच ही मँझले ने तुम्हें नहीं बताया। वे दोनों तो फिरंगी से जूझने गए..."

साँस रोके क्षण भर कुछ सोचती रही फिर उठते हुए बोली..."क्या खालसों की टुकड़ी हैं..."

"हाँ... हाँ..."

उठकर छत पर गयी। सिर ढाँप पीर फकीरों का नाम लिया, आँखें बन्द की तो दिखा तीनों साफे नीचे धरती पर पड़े हैं और घोड़े पर चढ़ा मेरा लाल खिलखिलाता है।

रात लेटी तो मन ही मन मुन्ने की रक्ख मनाई। जी को जैसे हौसला बँध आया। अब कोई न कोई राह निकलेगी। एक दिन तो छोटे भी...

भटक भटक सपनों से जा भिड़ी। आँचल में मुन्ने को छिपाये अन्धेरे में दौड़ती चली जाती हूँ कि कहीं से चिट्टे घोड़े पर सवार मेरा वीर आ कहता है...

"इतनी रात गये कहाँ मेरी बहिना... मैं तो तेरे घर से तुझे बिना देखे लौट आया..."

मैं वीर से मिलने को बाहें फैलाती हूँ कि नींद उचट गयी। ऊपर का कपड़ा उतार फेंका। छाती से दूध उमड़ा पड़ता था। क्षण भर पहले मेरा लाल यहीं था। मेरा मुन्ना यहीं था। पर मँझले...!

अब से मैं नित ऊपर चढ़ती और दूर दक्खिन से आती राह पर किसी को ढूँढ़ती। मन यही कहता कि वीर मेरा जरूर घर से चल पड़ा है। जरूर चल पड़ा है।

दूध बिलो छाछ मक्खन सम्भालने में लगी थी कि ड्योढ़ी से आवाज़ आई...

"जय गोरखनाथ जय गोरखनाथ"—सने हाथों ड्योढ़ी पर जा खड़ी हुई—कुछ पूछूँ...कुछ कहूँ कि...

जय गोरखनाथ, भर जाय यह झोली...लौटी और टोपा भर गेहूँ और गुड़ ला झोली में डाल दिया।

"सुख हो—खुशियाँ हों..."

माथे का कपड़ा तनिक ऊँचा कर बाबा की ओर देखा और इधर उधर देख हौले से पूछा...

"ककरौली वाले दिवानों के यहाँ बाबा?"..."समझा—समझा अरी दुखियारी बेटी—तुम्हारे बुरे नसीब—सन्देसा तुम्हारा तुम्हारी माँ को पहुँचा आया।"

"वीर मेरा...?"

"बेटी उसे बाबा ने देखा नहीं—जय गोरखनाथ..."

अपनी ओढ़नी का छोर पकड़ कर बाबा की ओर बढ़ा कर कहा..."फिर वहाँ जाना हो तो बाबा इसे मेरी माँ के हाथ सौंप देना..."

कहते-कहते कण्ठ भर आया।

धुर चबारे से उठकर जब छोटे नीचे आये तो मुझे सोच में बैठे देख बोले—"नवेली, मँझले की सोच करती हो। उस पर तो लचाओं की काठी है। जी लेगा तो सबसे आगे—नहीं तो वहीं खेत हो जायगा!!"

कानों में जैसे कोई अपशगुण सुन पड़ा। अपनी लाज संकोच एक ओर रखकर कहा—

"शुभ शुभ बोलो"—छोटे हँसे।

"क्यों नहीं मझले की नवेली, तुम्हारा तो वह सुहाग ठहरा..."

नज़र से फटकार कर तावली तावली आँगन बुहारने लगी।

रात जब लाला जी को दूध का कटोरा दे, छोटे की पसार की ओर चली तो पल पल अपने को धिक्कारती थी, अपनी देह को धिक्कारती थी। सुहाग तो इस अभागी का दिवान जी के साथ जल जल गया, अब जो बाकी रह गया था वह था दुर्भाग्य इस देह का जो मरता था, और जीता था। फिर मरता था—फिर जीता था।

खटिया पर पड़े पड़े पहर रात बीत गयी। छोटे आज बहुत पी गए

थे और औन्धे पड़े थे। लाला जी रह रह कर खांसते और अमावस के अन्धेरे में से अपनी जवानी को पुकारते।

"हाय री जवानी, तू इस सोने की सी देह को काट गई...हो...हो...हो..."

फिर गला घरघराता खाँसी उठती और बुढ़ापे की टूटी फूटी आवाज़ शहतीरों में जा टकराती।

मुँह सिर लपेट आखें मूँदी तो अकेलेपन की घबराहट से जी न जाने कैसे धड़कने लगा। बहुत छोटी रही होऊँगी, नानी के घर में ऐसी ही रात थी। मूसलाधार पानी पड़ता था और बिजली चमकती थी। कड़कड़ाती गर्ज सुन कर डरी और उठकर नानी के साथ जा चिपटी। और आज।

इन निर्दयों के घर पड़ी पड़ी...बेबस...असहाय...नानी कहा करती थी...

सम्भल कर रह बेटी...एक बार का थिरका पाँव ..जिंदगानी धूल में लौटा देगा।

सच ही...सच ही...अपने पराये, लाज शरम, आब-आबरू सब से दूर...आज यहाँ मैं अभागी...

सहम कर सिर उठाया, कान लगा कर सुना तो तबेले की ओर घोड़े की टाप सुन पड़ी। उठ कर खड़ी होऊँ कि पैड़ियों पर किसी के पाँव पड़े। अन्धेरे में उठते उठते ठोकर लगी। किवाड़ पर थाप पड़ी। कुंडी बजी...खोल दो...

फिर हल्का सा स्वर...नवेली।

आधी रात यह कण्ठ। सुध बुध भूल गयी। फिर थाप पड़ी... खटखट...।

हाथ बढ़ा कुंडी खोली कि दो गीली बाँहों ने समेट कर गले से लगा लिया।

नवेली, नवेली...ओठों से उठा स्वर ओठों में डूब गया।

न मँझले के कपड़े सूखे न मैंने सुखाये। पड़े पड़े जोहती रही कि कब बाँह खुले। बाहर बादल गरजते रहे, पानी बरसता रहा।

तन से लगी लगी जाने किन पानियों में तैरती थी कि मँझले उठकर बोले...

"तुम्हें अपने साथ ले जाऊँगा...अपने साथ नवेली...अब तुम मेरे पास रहोगी..."

"कुछ पूछने को थी कि मँझले ने कड़े हाथ से खींचते हुए कहा... ऊपर मोटा कपड़ा ओढ़ लो..."

ठिठकी तो चारपाई से उठा मुझ पर खेस डाल कर धड़धड़ाते हुए मँझले नीचे उतार ले गए।

ड्योढ़ी की दलहीज पर मुड़ कर जोर से बाँह पकड़ बोली...

"कहो तो...मुझे तुम कहाँ लिए जाते हो। अब इस घर से मुझे न निकालो..."

अन्धेरे में पता नहीं मँझले कैसे दीखते होंगे...

हाथ छुड़ा झिड़क कर कहा...

"चुप रहो" और धकेल कर तबेले में जा खड़ा किया।

पानी थम गया था पर बिजली चमकती थी। घोड़े पर बैठी पर मँझले के पीछे नहीं आगे। घोड़े को एड़ी लगा मँझले निर्दयता से हँसे और हाथ से घेर कर बोले...

"अब भले ही फिरंगी के हाथों मर जाऊँ...भले ही...मेरे पास मेरी नवेली...।"

नये चबारे पर चढ़ी तो सिर पर दूसरी रात उतर आई थी। राह में पानी चढ़े नालों को पार न कर सकने पर खुश्की पैन्डा लम्बा हो गया था। अगली साँझ दूर से शहर का परकोटा दीखा तो मँझले बोले...

"तनिक कपड़ा और नीचे कर लो, इधर उधर लशकर फैला पड़ा है...बाहर दूर दूर खालसों की चौकियाँ पड़ी थीं। बड़ी बड़ी ऊँची आग के इर्द गिर्द बैठे लड़ाकों के चेहरे लाल परछाँई में तपते थे।"

नगर द्वार पर आवाज़ पड़ी..."रुको, राहगीर जवान"...

रास खींच मँझले बोले..."जेहलमी टुकड़ी हवलदार जी"...

"सो ठीक...बढ़ जवान।"

चौके के बीचो बीच घोड़ा रोक मँझले छलाँग मार नीचे उतरे और हाथ दे मुझे उतारा।

अन्धेरी सीढ़ियों से होकर चबारे चढ़ी तो मन ही मन सोचा...

इन पर से उतर कर कहाँ जाऊँगी, कब जाऊँगी...कुछ ठीक नहीं।

बाहर से किवाड़ भिड़ा मँझले तन्दूर से रोटी ले आये। आगे रख लुक़मा तोड़ मेरे मुँह में डालते हुए बोले...

"इस हल्ले से बच निकला तो नवेली तुम्हें रानी बनाऊँगा—तुम्हारे लिए गहने गढ़वाऊँगा...पट के लाढ़े खिलवाऊँगा"—

बस देखती भर रही।

दीवट की लौ जब मँझले के हाथों धीमी हो गयी तो छन भर को कान लगा सुनने लगी कि आज की रात मुझे क्या कहती है। क्या कहती है...

रात कुछ बोली नहीं...केवल मँझले कुछ कहते रहे जिसे मेरा मन नहीं तन सुनता रहा।

सुबह होती, मँझले सिर पर साफ़ा रख बाहर चले जाते, सावधानी से द्वार बन्द करने को कहते। कर चुकती तो बाहर ताला डाल जाते। लेटी रहती...खोई रहती या उठ कर झरोखे में से चौक की ओर झाँक लेती। रात को मँझले लौटते तो खुली साँस ले पूछती...यह तो कहो—यह लश्कर छावनी यहाँ से कब उठेगी।

मँझले टेढ़ी निगाह से देखते और रुखाई से कहते..."जाओ रोटी पानी लाओ"...मैं बाँदी की तरह हुक्म बजा लाती।

उस दिन मँझले रात देर गए लौटे। बाहर का ताला खुला तो सोई पड़ी थी। नींद में कोई खटका जाना नहीं। बाहर से हाथ डाल अन्दर की कुण्डी कब खुली, पता नहीं। गिरते गिरते नींद उचटी तो बालों से खींच मँझले ने मुझे जमीन पर दे पटका।

"दो कोह पैन्डा मार घर आया हूँ और तू बड़े घर की बहू बन पलङ्ग पर बिछी है!"...

ओढ़नी सम्भाल उठ बैठी। थाली परस लाई और हाथ में थमा दी। पानी का कटोरा लेकर दुबारा आई तो भी मँझले उसी कड़ी मुद्रा में बैठे थे।

भय से सहम कर दलहीज पर बैठ गयी। भयावनी घूरती आँखें देख अंग अंग जैसे जान गया कि अब बचूँगी नहीं...

बड़ी चौड़ी हथेली पर टिकी थाली को नीचे उतार रखा, दो कदम उठा पास आए और मुझे सिर से झकझोर कर चिल्लाए...

"अरी मेरी नासकरनी, मैं ऐसे नहीं मरता...तुझे मार कर...तुझे मार कर"...पीठ पर धौल पड़ने लगे।

एक बार तो जी में आया बैठ छाती पर वैरी का गला घोंट दूँ पर वह दो जनों की सी देह देख झुक गयी। पाँव पकड़ कर अर्ज़ की...

"तुम जो कहते हो सो करूँगी...मुझे तुम मारो मत"...

मँझले रुके। हौसला नहीं हुआ कि उनकी ओर ताकूँ।

एकाएक मँझले को अपने साथ लगे पा कर चौंकी; मेरी झोली में सिर डाल घुटे घुटे गले से बोले...

"नवेली मरने से मेरी बला डरती है, पर तुम्हें छोड़...तुम्हें छोड़..."

पहली बार लाड़ से सिर पर हाथ फेर कर बोली...

"छिः छिः मन में डर न लाओ...बलाएँ गयीं दूर"...मिन्नत मनौती से कुछ खिला पिला लिटाया और पैताने बैठ पाँव दबाने लगी। मँझले आँखें बन्द किए पड़े रहे। हाथ रुका तो आँखें खोल कहा...

"नवेली ...इधर सिर की ओर बैठ ...इधर"...

सिरहाने झुक कर माथा सहलाने लगी। इसके बाद मँझले कुछ बोले नहीं, चुपचाप पड़े रहे।

सुबह अभी लौ नहीं लगी थी। जाना कि मँझले उठ बैठे हैं। साँस रोके पड़ी रही। डोल के बजने से जान लिया कि नहा धो चुके हैं। अब आँख की कोर से देखा तो झरोखे की ओर मुँह किए साफा बाँधते थे। साफा, कमर बन्द, जूती ...मचली हो और भी सिकुड़ गयी। ऐसा लगा मँझले पास आये, झुके और लम्बी ठण्डी साँस ले बाहर हो गए।

चौकन्नी हो सुना-आज बाहर ताला नहीं पड़ा। सीढ़ियों पर उतरने की आहट नीचे पहुँच कर खो गयी तो कहीं से आँसू बह आये। उठकर बरसती अँखियों से झरोखे में से झाँका तो चौक का चौक केसरिया साफों से भरा था। लड़ाकू सवारों से थाप ले घोड़े हिनहिनाते थे- शस्त्र सम्भालते थे और पूरे गले से पुकारते थे ...

वाह गुरु दा खालसा, वाह गुरु दी फतेह ...

शहर का शहर खाली हो गया था। हर एक परिवार की बाहें लड़ाई के मैदान में थीं और बन्द घरों पर जी दहला देने वाली वीरानगी। नित शाम को मँझले के आने की बाट जोहती। बाहर फैला अन्धेरा झरोखे में से और भी डरावना लगता। किस से अपने दुख सुख को कहूँ-सोचती और सोच सोच कर सो जाती।

दुपहर को सोए सोए हड़बड़ा कर जागी तो धमाकों की आवाज़ से छाती दहलने लगी। शाह जहाँगीर के मैदान की ओर से धूंए के अम्बार उठ रहे थे और बड़ी बड़ी जंगी तोपों की दहाड़ती आवाज़ कानों को पीसती हुई जी को अन्धेरे कूएँ में ढकेल जाती थी। अपने को अकेला पा थर थर काँपती थी। अपने लिए रब से कुछ माँगने से पहले फूट फूट कर रोती थी।

"मेरा क्या होगा ... मैं कहाँ जाऊँगी ... मैं क्या करूँगी ...!"

शाम होते होते ढोल की थाप पर राज का एलान होता हुआ चला गया ...

"अपने वीरों के लिए...सिर की सरदारियों के लिए मालिक से दुआ माँगो"...बुरी घड़ी आन पहुँची थी। राज के एलान में फतेह का नाम छूट गया था। अब तो बस दुआ ही दुआ करने को रह गयी थी।

सिर पकड़े अन्धेरे में दिवार से लगी बैठी थी कि नीचे घोड़े का हिनहिनाना सुन जान में जान आई। ऊपर से देखा, कुछ दीखा नहीं—जल्दी जल्दी सीढ़ियाँ उतर गयी।

चबूतरे पर ठिठक कर पत्थर हो गयी। घोड़ा था, घोड़े का सवार नहीं जाने कब तक वहाँ खड़ी रही हूँगी। ऊपर आई हाथ से बिछौना टटोला और किसी का नाम ले समेट दिया। नीचे बैठी तो उँगलियों ने नाक की लौंग और चूड़ियाँ उतार पल्ले बाँध दीं।

जिस जाने वाले ने ज़ोर-जबर से मनवा ही लिया था उसकी मैं कुछ तो लगती ही थी। अगला दिन, दिन नहीं था। घर घर से रुदन फूटता था, हाहाकार उठता था। धूप पकते पकते तोपों की गड़गड़ाहट फिर मार करने लगी। शहर में भागदौड़ मच गयी। गली मुहल्लों के सयाने चौक में इकट्ठे हुए तो कुछ कहने को किसी का कण्ठ नहीं खुला। किसी बड़े सयाने ने आकाश की ओर देख सिर झुका लिया। हाथ के संकेत से बताया—सब गया! और फुसफुसा कर कह दिया..."फिरंगी आ गया।"

चौक खाली होते देख घबड़ा गयी। चदरा ओढ़ नीचे उतरी और किन्हीं भले जनों के पीछे पीछे हो ली। नुक्कड़ पर बड़ी बूढ़ियों की टोली छाती पीटती सयापा बुलाती चली जा रही थी—तुझ पर क़हर! ओ फिरंगी हरे भरे बाग़ उजाड़ दिए...हाय......हाय......हाय......

भौंचक्की सी कुछ देर देखती रही, फिर पल्ला नीचे डाल उन्हीं के साथ हो गयी। उम्र की कई छोटी बहू बेटियाँ दीखीं। पके चेहरे, सफेद सिर और खुली छातियाँ। जिस जिस गली से निकलती और औरतें आ जुटतीं। चौकी पर पहुँच पहरुओं ने रोका।

"उधर किधर माओं, यह दिन चौक पर जाने का नहीं...वहाँ तो गोलियाँ बरसती हैं..."

माथे पर हाथ मार एक बड़ी सयानी बोली .."अभी क्या और बुरा दिन आने को है। जिनके पले पलाये शेर गए वे क्या गोलियों से डरेंगी?"

हाय, हाय रे कहर......

चौक के किनारे अपनी खेत हो गयी गोदियों के लिए फिर लाहणियां पड़ी। छातियाँ पिटीं।

सात बेटों की एक खत्राणी मां दम लेकर बोली...

"अरे अपने जवान बेटों के फूलों पर फूल...उनको नहीं...रोती हैं हम अपने बैरियों को..."—ठाह! चौक के दूसरे किनारे गोला फटा। काँप कर साथ खड़ी बूढ़ी माँ को भींच लिया......

"हाय माँ मेरी।" इसके बाद सिर उठाने की बारी नहीं आई। रह रह पास कहीं गोले छूटते थे, गोलियाँ बरसती थीं। धमाकों से किस किस की देह ठण्डी हो गयी थी, उठ कर यह देखने की हिम्मत किसे थी। रेत पर औंधे पड़े पड़े लड़ाई का मैदान दीखता था, कटी बाहें, लहूलुहान सिर...धूल में पगड़ियाँ......

छप! छप! छप! चौक में घोड़ों के उतरने की आवाज़ सुन पड़ी। न साँस आई, न गयी। धमाका हुआ, सिर चकराया और अन्धेरा छा गया।

होश में आई तो शाम के अन्धियारे में मेंहदी रंगे बालों वाली

कोई सयानी सिरहाने बैठी सिर में तेल मलती थी। आँखें खोलीं। पानी माँगा और घबरा कर पूछा......

"मैं कहाँ हूँ ?"

"अपना ही घर समझो बीबी रानी।"

यह लाड़ भरा सम्बोधन सुन चौंक कर उठ बैठी ! इधर उधर देखा किसी बड़ी हवेली की पसार था। आले में की लौ जलते ही पिछला सब कुछ आंखों के आगे आ गया। चोह का किनारा...

भारी पाँवों की धड़क सुन पड़ी। 'चले आओ बेटा'...पल्ला नीचे कर मुँह ढक लिया। देहरी पर से बोल आया...

"बड़ी माँ, मेरी ओर से बहिन का घर पता पूछो"...

ठीक से जान नहीं पाई कि क्या यह मेरे लिए ही कहा गया ?

"रानी बेटी...अपने अगले पिछलों में से किसी का ही नाम ले दो"...

चुप बनी रही।

फिर आग्रह हुआ...

'कह दो बहिना...उन्हें तुम्हारी सुख सान्द भेजनी है...'

अपनी 'सुख-सान्द' बात सुनते ही आखें छलछला आई। रोकने पर भी रुलाई नहीं रुकी। मैं अभागिन किनका नाम लूं-अपनों का, पराओं का...

"बड़ी माँ...बहिन से कहो...हौंसला रखे-आज नहीं तो कल सही।"

मुझसे बिना कोई उत्तर पाये, मुझे बहिन कहने वाले वापिस लौट गए। बड़ी माँ ने कपड़ा उठा मेरे आँसू पोंछते हुए कहा, "चिन्ता न कर बेटी-तू मालिकों के घर में है। तुम्हारी आब इस घर की आब है..."

बिलख बिलख कर रोने लगी। मेरी आब। अब मेरी आब क्या रह गयी है ? सब मेरी......

"बेटी, यह भले घर का रंग रूप क्या छिपता है। चोह से तुम्हें घोड़े पर डाल जब मालिक घर आये तो..."

"कुछ मत कहो ! कुछ और मत कहो"...रोते रोते जाने कब सो गयी। सपने में देखा...

मालिकों की ड्योढ़ी में बैठी हूँ। झोली में मेरा मुन्ना सो रहा है। अरे यह क्या...देहरी पर खड़ा मेरा लाली वीर.....

"मालिन...दरिया पार से तुम्हारा वीर आया है, कुछ बात तो करो..."

"दिवान जी...दिवान जी...मेरे दिवान जी...

चीख मार कर छटपटाई और निढाल हो फिर अन्धेरे में खो गयी।

सुबह बड़ी माँ के झकझोरने से उठ बैठी...

"गज़ब हो गया बेटी...फिरंगी की चौकी शहर पर आन पड़ी..."

फटी-फटी आँखों से देखती भर रही।

"बेटी रब्ब का हाथ मेरे मालिक राजे पर...तनिक उस बैठक तक तो चली जाओ, जाने को तैयार खड़े हैं...

मेरी झिझक को मुझसा बड़ी माँ बोली..."लाज काहे की बिटिया, तुम तो उसकी मुँह बोली बहिन हो।"

घड़ी भर अपनी आँखों से कहने वाली की आँखें देखती रही। फिर ढंग से ओढ़नी ओढ़ पैर उठा बोली...

"बड़ी माँ लोटा भर पानी और मीठा ले आओ"...

जाने कैसी चाल चल कर बैठक तक पहुँच गयी। देहरी पर से कहा...

"अन्दर आती हूँ वीर जी....."

"चली आओ बहिना"...

कुछ चौंकती सी, भारी, भर्राई आवाज थी।

आँखें उठा अपने नये वीर की ओर देखा और देखा...और देखा...

कहने को कुछ सूझा नहीं। सिर पर सोभती केसरिया पाग थी। कमर पर चमचमाती मूठ...और नीचे खड़ा हिनहिनाता रण का घोड़ा।

यह कैसा दिन है ? यह कैसी घड़ी है...

कुछ कहूँ कि सुना..."बहिना।"

दक्खिन की ओर से रणभेरी बज उठी और यह छलछलाती आँखें छम-छम बरसने लगीं।

नये वीर से न कुछ कह पाई न सुन पाई...

बाहर से आती बड़ी माँ बोली...

"आओ बिटिया...खुशी-खुशी वीर को सगुण दो, हँसता खेलता"...

आगे के बोल गले के बाहर नहीं आये। घबरा कर देहरी लाँघ बाहर आई कि पीछे से बुलाहट हुई..."बहिना।" लौटी।

"बहिना, पता नहीं आज आऊँ न आऊँ, पीछे का नाम पता नहीं बताया।"

आँखों को आँचल लगा बोली..."उसकी बात न हिलाओ वीर जी—" और सिसकने लगी।

हवा में थर्राती तन मन हिलाती फिर वही रणभेरी।

"मैं चला बहिना... आ पहुँचा तो दिवान जी का पता लगा लूँगा..."

"यह नाम ?" चाहा कि साथ लगकर रोती चली जाऊँ, रोती चली जाऊँ...

आगे आगे बाहर आई, ड्योढ़ी पर मीठे से भरा हाथ बढ़ाया और फिरंगी से लड़ने जाते अपने नये वीर की रणबाँकी पोशाक देख अपने को सम्भाल नहीं पायी। रोते रोते बोली...

"मेरे इस सगुण की लाज रखना वीर जी... राह तकती रहूँगी।"

उदास, उदास आँखों से मुझे निहार, बड़ी माँ की ओर जरा सा सिर झुका वीर कूद कर घोड़े पर जा चढ़े। रास सम्भाली और वह गए... वह गए...

चौखट पर हाथ टिकाये, अन्धी आखों से गली की ओर देखते-देखते सोचती रही कि किस की ड्योढ़ी में खड़ी हूँ। किस मान अधिकार से इस घर के धनी को बिदा कर चुकी हूँ। कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ? मुँहबोली बहिन ? इसी लिए रोने लगी हूँ ? क्या इसीलिए...

उस दिन दुपहरें उतरीं। न संग धूप लाई, न गर्मी। सायँ सायँ करती हवेलियाँ और सुनसान पड़ी गलियाँ चौकन्नी हो कर भी आखें मूंदे पड़ी रहीं।

मालिकों के घर की पुरानी दासी साँस भर कर बोली...बेटी इस घर के भी रंग थे। चहल पहल में किसी का बोल न सुन पड़ता था। अब तो जिए घर का राजा। मालिक की मेहर से लड़ाई झगड़ों से निपटे। सुख के दिन आयें, ब्याह रचाये तो इस घर को भी भाग लगें।

फिर मुझ पर टटोलती नज़र गढ़ा कर हौले से पूछा... बेटी किन दिवानों से घर ब्याही हो ?

घबराहट से बोल नहीं निकले ।

"यह बेटी कहाँ के दिवान हैं ?" जी धड़कने लगा । दूसरी ओर आँखें फिरा फीके गले से बोली :—

"उस घर की मुझसे कोई बात न पूछो ।" बड़ी माँ की परखती निगाहें कुछ पल मुझे देखती फिर गहर-गम्भीर स्वर में बोलीं—

"बीबी रानी, जब बतायेगी तभी जानूँगी पर इन बुरे दिनों अपनों से बिछुड़ना अच्छा नहीं, शुक्र रब्ब का, तुम इस ड्योढ़ी में आन लगी ।

मन में आया कैसे कहूँ कि किस किस ड्योढ़ी से यह अभागा पाँव निकल चुका ।

"रब्ब करे, रणजीत का बेटा घर आये और जिस घर की अमानत हो उस घर तुम्हें लौटाय ।"

दिन ढलते अन्दर, बाहर, न जाने कैसी वीरानी छा गई । रह-रह उठते धमाकों में न कहीं फतेह का डंका था न कहीं खालसों की ललकार ।

रात उतरी तो मौत के से सन्नाटे में सहम कर ठिठक गई । शहर का शहर अन्धा पड़ा था । घरों में न चिराग़ जले थे, न तन्दूर तपे थे । खाली और रीती झोलियाँ बन्द घरों में तड़पती थीं ।

पिछले पहर आँख लगी थी कि बिगुल की आवाज़ सुन चौंक कर उठ बैठी ।

पास सोई बड़ी माँ को हिला कर बोली—

"सुनो तो किसी और का जयकारा है ?"

बड़ी माँ ने उस लहराते स्वर को सुन लेने को पूरी आँखें खोल लीं । क्षण भर ऊपर की ओर देखा । फिर मुझे और सिर हिला बोली...

"क़हर रब्ब का ! यह गूँज अपनी ओर की नहीं, अ..."

दिन खुलते न खुलते अगणित घोड़ों की टाप गलियों को रौंदने लगी । छज्जे पर से झाँका...न अपने सवार थे न सवारों के केसरिया साफा—टोप पहने फिरंगी सवारों की कतारों की कतारें...

दिल से हूक उठ कर गले में छटपटाने लगी ।

अपने वीरों को धूल में लुटा, मौत से जूझा सेहरा बैरियों के सिर जा चढ़ा था !!

गली गली पहरा आ लगा । साँकलों के बाहर पखेरू तक न फटकता था । आगे पीछे बदलते पैरों की टाप की टप्प...टप्प...टक्क...

एकाएक जैसे मुर्दों के सिरहाने ढोल बज उठा। ढोलिए की फटी-फटी रूखी आवाज़ कानों को चीर चीर जाने लगी।

"खलकत सुनेले...खालसों को हरा अँगरेज़ बहादुर रणजीत के आये हैं। जिसकी सरदारी...उसका सिक्का...जिसका सिक्का...उसकी खलकत...।"

बड़ी माँ ने सुनते ही पल्ला नीचे खींच लिया। और ऊँचे गले में रो रो बोली—

"किस जुग के बदले लिए हैं बैरी...अरे वह सोने सी राजे की देह...हाय, हाय, फिरङ्गी तूने यह खिला खिलाया बाग उजाड़ दिया?"

झकझोर कर मैं बड़ी माँ से बोली: "जिगरा करो बड़ी माँ, बुरे बोल न बोलो। लुके छिपे वीर क्या पता कब घर लौट आयें!"

बड़ी माँ सिर हिला हिला बोली..."अरी भोली बेटी...लड़ाकू मालिकों के घर का सरताज क्या हार कर घर लौटेगा। जानती हूँ मैं अभागी जानती हूँ। राजा खेत हो गया। हाय हाय राजा..खेत हो गया।"

बड़ी माँ की ओर करवट लेकर लेटी ही थी कि पिछवाड़े से उठा बारूद का धमाका घर भर को हिला कानों में समा गया। बड़ी माँ हड़बड़ा कर उठ कर बैठी गई और कठिनता से यही कह सकी...

अब खैर नहीं...

बड़ी माँ का छोर पकड़ लिया जैसे चढ़े पानी में डूबती होऊँ।

"रुक बेटी मुझे देख तो लेने दो। मण्डी से लगी कोठरियों में अपना ही असला पड़ा था।"

ऊपर कोठे से झाँक कर बड़ी माँ उतरी तो हाथ फैला कर बोली...

"बुरे दिनों में मति भ्रष्ट। यह काम घर के भेदी का है।"

डर कर पूछा..."आग इस ओर तो न फैली आयगी?"

हाथ पकड़ कर बड़ी माँ बोली..."घड़ी का क्या पता!"

और दूसरे को सहारा दिए दोनों ड्योढ़ी से लगे पसार में जा बैठी।

गन्ध सनी हवा पास पहुँची तो बड़ी माँ हाथ मल मल कर बोली... "नसीब फूटे रैयत के......"आगे के बोल अभी कान तक नहीं पहुँचे थे कि

बाहर गली में घोड़ों की टाप सुन ठिठक गई। समझते कि ड्योढ़ी पर ज़ोर का खड़का हुआ।

"खोलो,..खोलो।"

भय से कंठ सूख तालू में आ लगा।

किवाड़ खुला कि टूटा, पता नहीं,..

मशालों की रोशनी में टोपियों वाली टुकड़ी भड़भड़ाती अन्दर आ पहुँची। भाग कर छिपने की नौबत नहीं आई।

पता देने को शहर के ही चार छः चेहरे साथ थे।

सुनार सा दीखता कोई पतला दुबला पास आ कर बोला—"अरी रुकमन, तू अभी मरी नहीं?"

बड़ी माँ का चिट्टा पूनी मुँह। ओंठ कुछ कहने को हुये पर आवाज़ नहीं निकली। बेबसी से बस मूड़ी हिलती रही।

किसी ने मेरी ओर लपक कर ठट्ठा किया—"वाह रे बागी मलिक, ऐसा बिछौना छोड़ तू खेत हो गया?"

हा हा हा...

अपमान से थर थर काँपने लगी कि कड़कड़ाती आवाज़ आई।

"पकड़ लो शैतान की बाँदियों को, साहब बहादुर का हुक्म है"

कलाई पर हाथ पड़ते ही चिल्लाई। "हाय री माँ मेरी..."

बड़ी माँ ने झपट कर मेरी दूसरी बाँह पकड़ ली और काँपते हुये गले से फटकारती हुई बोली—"कीड़े तेरे बीज पर रे बदकार,..."

पीछे की ओर से दो मज़बूत हाथों ने इस अभागी को खींच बाहर की ओर घसीट लिया। आवाज़ आई...

"सरदार मलिक की रखैल है साहिब। बारूद को आग इसी ने दी .."

आँखों के आगे अन्धेरा छा गया। और हत्यारों की जकड़ में तड़पती गली में घिसटती चली।

"कहाँ लिये जाते हैं? मुझे छुड़ाओ कोई मुझे छुड़ाओ,..."

न बड़ी माँ इन आँखों को दीख पड़ी, न उसकी कोई आवाज़ कानों को सुन पड़ी।

एकाएक अपनी ओर ध्यान गया तो देखा ओढ़नी नीचे लटक गयी है और आगे कपड़ा नहीं।

ज़ोर से झटका मार अपने को छुड़ाते हुए बोली।

"अरे बेदर्दियो कपड़ा तो ओढ़ लेने दो..."

किसी ने ओढ़नी उठा कर मेरे मुँह पर दे मारी और निलज्जता से हँस हँस कर कहा।

"अरे बड़े घर की खटिया, अब तू क्या क्या नहीं ओढ़ेगी?"

फिरंगी की चौकी आ गई। तम्बू के बाहर पहरू तने खड़े थे।

किसी ने अन्दर जा हुक्म बजाया और लौट कर कहा "आज की रात पहरे में रखो, साहब की, कचहरी सुबह लगेगी।"

घूरती आँखों के आगे सिर नीचे डाल बन्दी हो वैरियों के खेमे में जा बैठी।

पत्थर सी हो कर बैठी अपने अगले पिछले लेख जोहती रही।

कुछ न आगे—न कुछ पीछे——एकाएक अपने ही अन्धियारे में भटक भटक कर औंधी जा गिरी——

न रोई न कड़ी पड़ी—

बस होश में पड़ी पड़ी सोती रही——

अगले दिन साहिब की कचहरी लगी। मैं मुँह पर कपड़ा किए किए हाज़िरी में खड़ी रही। साहिब ने कसूर की क्या पड़ताल की क्या जाँच की यह न मैं कुछ समझी न जानी——

बीच बीच में मालिकों का नाम सुन कर चौंकती रही। "हाकिम, यह मालिक की रखैल है——"

"नहीं......नहीं..."

दाँतों में ओढ़नी का छोर भींच कर बरबस अपनी रुलाई रोकती रही मैं किसी की कुछ भी लगती रही होऊँ। पर उस भले मालिक की नहीं......रब्ब गवाह है......रब्ब गवाह है......

एकाएक साहब के कुछ कहने पर किसी ने लपक कर मुँह का पल्ला उघाड़ दिया।

हाथों में मुँह छिपा थर थर काँपने लगी। मुझे बख्श दो—मुझे छोड़ दो।——

दोनों ओर से जकड़ी हुई जब बाहर की ओर चली तो अभागा यह सिर ऊँचा नहीं हुआ। अभागी यह आँखें किसी ओर भी उठीं नहीं। किसे देखना था मुझे। अब क्या देखना था। पत्थर सा बोझ अपने घुटनों पर

टेक, उस झालरदार तम्बू में बैठे बैठे काला पहर कब उतर आया, पता नहीं। तनिक हिली तो लगा, उस अभागी रात में अपना ठौर ठिकाना छोड़ जिस बुरी राह जा पड़ी थी वह आज भी खत्म नहीं हुई नहीं हुई... आगे पीछे क्या देखना है। कहाँ देखूँगी। आँखें मूँदे पड़ी रही।

"बहिना! बहिना!"

क्या सपना देखती हूँ। अब इस काले मुँह वाली को कौन कहेगा बहिना......"बहिना......"

सचमुच की सच्ची आवाज़ थी।

घबरा कर वे आँखें खोल दीं।

पास और पास बढ़ती आई कोई मूरत........लम्बा हाथ इस बढ़ा और डर से घुटती साँस के साथ काला हो गया...घुप्प अन्धेरा... काला......काला...

ठाह......ठाह......ठाह...कान के पास होते धमाके से तड़प कर दूर जा गिरी......

घोड़ों की टाप...टक...टक...टक...

रोको...रोको...यह मेरे दिवान जी का घोड़ा है......मैं भी जाऊँगी... मैं भी.........

एकाएक छटपटा कर आँखें खोल दीं।

"कहाँ हूँ...मैं...कहाँ हूँ?"...दो चौड़े कंधे ऊपर झुक आये। सिर पर हाथ रख कहा:

इधर देखो......इधर देखो बच्ची, माँ तुम्हारी तुम्हारे पास है।"

आश्चर्य में भूली भटकी आँखों को जब सुझाई दिया तो माँ को नाक की लौंग से पहचान बाहें बढ़ा छम छम रोने लगी।

"जिगरा करो......जिगरा करो बिटिया अब तुम घर आन पहुँची! वीर तुम्हारी खोज में न जाने कहाँ कहाँ भटका किया। कल फिरंगी की कचहरी में तुम्हें पहचान......"

बीच ही में माँ मेरा माथा चूम शेख जी से बोलीं:

"शेखजी, माँ जिन्दा से कहें दिवानों के लाडले को लाय, बेटी के वीर को बुलाय: आज इन्हीं के पैरों का सदक़ा! हमारी बिछुड़ी बिटिया हमसे आन मिली..............."

पाँच नयी कविताएँ

आशीष के ये कितना लिखते हैं राम

माखनलाल चतुर्वेदी

१

तूल सा क्या उड़ा अनजान!
कि बादल गरज उठे हैं प्राण!

श्याम नभ पर श्यामल घन आज
साज कर इन्द्रधनुष का साज
हवा में उड़े, न जल में बहे
क्षणिक का कितना स्थिर है राज!

चमक आई चपला चुपचाप
मेघ का घिरना ऐसा पाप
बरस कर कौन खो उठा भान
तूल सा क्या उड़ा अनजान

जून' ५६

२

चार कमल, श्याम धवल, खिल गये
बिन्दु-बिन्दु सरस बरस हिल गये ।
क्या हवा चली कि वे उचक गये
यों उठा लिया प्रमत्त फिसल गये !

रेख यों खड़ी खिंची कि उभयचन्द्र बोल उठे,
झोंपड़ी पुकार उठी, फूल फूल डोल उठे
दूर नाव दीख पड़ी, लहर-लहर साँप हुई
विस्तृत गहराई, पतवार नाप हुई

डूब गई थाह गई डूब गई,
जी अथाह में कि थाह डूब गई !
किरण जाल फेंक फेंक स्वर्ग ने
ढूँढ ढूँढ फेंक रजत रश्मियाँ

छोड़ जो न जा सके, रहे वहीं,
चार कमल श्याम धवल मिल गये ॥

जुलाई '५६

३

मेंहदी से तस्वीर खींच दी किसकी मधुर ! हथेली पर ?

प्राणों की लाली सी है यह-मिट मत जाय,
हाथों में रसदान किये यह, छूट मत जाय,
यह बिगड़ी पहचान कहीं कुछ बन मत जाय
स्खलन फिसलन से मनचाही मन भर जाय !

बँध न दो विश्वास-साँस को उस मुस्कान अकेली पर

हाथों पर लिख रक्खा है क्या सौदा आँख मिचौनी का ?
आँखों में भर लाई हो क्या रंग ? आहत अनहोनी का,
क्या डाली पर चढ़ा दिए थे विमल गोद के धन आली ?
क्या कहलाने लगा जगत में हर माली ही वनमाली ?

तुम्हें याद कर रहा प्राणधन उस छिड़कन अलबेली पर,
मेंहदी से तस्वीर खींच ली किसकी मधुर ! हथेली पर !

जुलाई' ५६

४

साँझ आई तो गगन के पंख वाले गीत
क्यों चुप हो गये ?

साँझ आई, ये हृदय के रोष वाले गीत
क्यों चुप हो गये ?

सूर्य के प्रभ-नवल-रथ की दौड़ के वे चित्र
फीके पड़ चले,

भूमि के अहरह सभी चलते हुए वरदान
क्यों चुप हो गए ?

साँस पर पहरा दिए बैठी समय की नागिनी
कुण्डल बना,

इस समय सब चाह के चढ़ते हुए अहसान
क्यों चुप हो गए ?

अक्टूबर' ५६

५

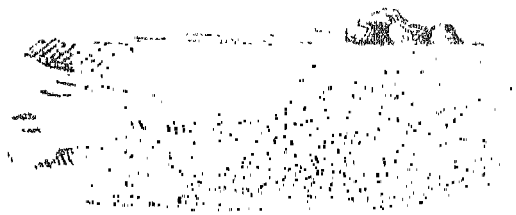
रूप के कर की सुनहली बाँसुरी
—कोई नहीं है।

बिन्दु लखकर रन्ध्र ही से फूटते
—तरु-बेलि हँसकर
—यह फसल कोई नहीं है।

रूप ! यौवन की कठिनता का पता
—क्यों कर उसे हो ?
—ज़िन्दगी कोई नहीं है।

यह उदासी, और यह अँगड़ाइयाँ जो
—कौन है ?
—कौन है ? कोई नहीं है !

सितम्बर' ५६



निकष और *नयी कविता* की परम्परा में,
साहित्य-सहयोग के
तत्वावधान में,

डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल

द्वारा सम्पादित

नाट्यम्

हिंदी नव-लेखन के अन्तर्गत नाटक और रङ्गमञ्च के पक्ष को; नवीनतम प्रवृत्तियों, प्रयासों और आन्दोलनों को रचनात्मक और समीक्षात्मक स्तर पर प्रस्तुत करने वाला वार्षिक संकलन।

प्रथम संकलन में

- एक सम्पूर्ण मौलिक नाटक
  तीन मौलिक एकांकी
  एक गीति-नाट्य
  एक ध्वनि-रूपक
  एक उत्कृष्ट अहिंदी नाटक (अनूदित)

- नाट्य-रचना, मञ्च-सज्जा, परिधान, अभिनय कला, रङ्ग-निर्देशन—पर अनुभवी, हिंदी और अहिंदी निर्देशकों, अभिनेताओं और नाटककारों के प्रामाणिक मत।
  नाट्य शास्त्र सम्बन्धी-प्राचीन और नवीन मतों का पुनर्परीक्षण।
  लोक-नाट्य और लोक-मञ्च पर एक दृष्टि।
  नृत्यनाट्य, मूकनाट्य, पुत्तलिका एवं छाया-नाट्य का विवेचन।
  हिन्दी नाटक और रङ्गमञ्च की वर्तमान समस्याओं का निरूपण।
  नई, हिंदी और अहिंदी नाट्य-कृतियों का वैज्ञानिक मूल्यांकन।

नाट्यम् के इस संकलन को सफल बनाने के लिये न केवल हिंदी, वरन् बँगला, गुजराती, मराठी, और मलयालम के नाटककारों और निर्देशकों के गहन अनुभव और उनके हार्दिक सहयोग का उपयोग किया जा रहा है।

निकष के पिछले दोनों तथा अगले
संकलन मंगाने के लिए
साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०, प्रयाग
को लिखें,
निकष के प्रत्येक संकलन का
ऐतिहासिक महत्व है ।

निकष के अगले संकलनों में नवलेखन के नये परिप्रेक्ष्य,
नये सन्दर्भ और नयी उपलब्धियाँ

सम्पादक
धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा

प्रकाशक
साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०, प्रयाग

मुद्रक
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

प्रबन्ध-सम्पादक
हरिमोहन दास टण्डन

प्रकाशनाध्यक्ष
नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

सहायक
कन्हैयालाल नन्दन